5.2

त्र्यक्षरूपकम्



सावलोकम्

दशरूपकम्

(हिन्दीटीका - सहितम्)

नान्दीटीकाकारः सम्पादकश्च
रामजी उपाध्यायः, एम. ए., डी. फिल्., डी. लिट्.
सागर-विश्वविद्यालये
संस्कृत-विभागस्य प्राध्यापकाध्यक्षः

प्रकाशकः
भारतीय-संस्कृति-संस्थानम्
नारीबारी, इलाहाबाद

प्रथम-संस्करणम् २०३६ वि० सं०

मूल्यम् :

छात्र-संस्करणम् १४·००

पुस्तकालय-संस्करणम् २०·००

मुद्रक :
एकेडमी प्रेस
६०२, दारागंज, प्रयाग

भूमिका

भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा में धनञ्जय ने दशरूपक की रचना दसवीं शती ईसवी में की। यह ग्रन्थ इतना उपादेय सिद्ध हुआ कि परवर्ती युग में न केवल विद्यार्थियों के ही, अपितु आचार्यों के भी बीच सबसे बढ़कर लोकप्रिय बन गया। परवर्ती आचार्यों ने अपनी नाट्यशास्त्रीय कृतियों का इसे बहुधा उपजीव्य बनाया है। ऐसी स्थिति में इसके समक्ष भरत के नाट्यशास्त्र की परम्परा में लिखे मौलिक और व्याख्यात्मक ग्रन्थों की जड़ न जम पायी। आज भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में दशरूपक और धनिक-विरचित उसकी अवलोक टीका विविध परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं।

दशरूपक की उपर्युक्त महिमा को देखते हुए यह आवश्यक था कि इसके मूल पाठ का वैज्ञानिक विधि से संशोधन हुआ होता और साथ ही इसकी कारिकाओं का नाट्यशास्त्रीय निकष पर परीक्षण करके तथा मानक नाटकों पर उनकी प्रायोगिक समीक्षा करते हुए बताया जाता कि कहाँ तक दशरूपक में सत्यांश है और कहाँ तक उसकी कारिकायें और उनकी अवलोक टीका भरत के नाट्यशास्त्र के विरुद्ध होने के साथ ही निराधार और चिन्त्य हैं।

मैंने इसी समीक्षात्मक दृष्टि से दशरूपक का लगभग ३० वर्षों तक अध्ययन और अध्यापन किया है और अपने महत्त्वपूर्ण अनुसन्धानों का प्रकाशन 'दशरूपक-तत्त्व-दर्शनम्' नामक ग्रन्थ में किया है। इतने से ही मुझे सन्तोष न हुआ। इसी ऊहापोह में मैंने दशरूपक की कारिकाओं और उसकी अवलोक टीका की प्रत्येकशः समीक्षात्मक व्याख्या अपनी नान्दी टीका के साथ लिखी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दशरूपक और अवलोक की चिन्त्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। दशरूपक की व्याख्या-परम्परा में इस प्रकार का यह प्रथम उपक्रम है। अब तक के संस्कृत और हिन्दी के टीकाकार 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' रख कर और अपनी ओर से भी अशुद्धियों को जोड़ कर विद्यार्थियों को इस विषय का समालोचनात्मक ज्ञान देने में असमर्थ रहे हैं— यह नान्दी टीका से पदे-पदे स्पष्ट होगा।

जहाँ तक दशरूपक की कारिकाओं और अवलोक के शुद्ध पाठ का सम्बन्ध है, अब तक के टीकाकार प्रायः आँख मूँद कर अशुद्ध पाठ का अनुसरण करते रहे हैं। पाठशोधन की दिशा में प्रथम सफल कृति अडयार से

प्रकाशित टी० वेङ्कटचार्य द्वारा सम्पादित दशरूपक है, किन्तु इसमें भी कतिपय त्रुटियाँ और अभाव हैं, जिनकी यथासम्भव पूर्ति करने का प्रयास मैंने किया है। इसमें दशरूपक और अवलोक का शुद्धतम पाठ वैज्ञानिक सरणि पर प्रस्तुत किया गया है।

मेरा विश्वास है कि जिज्ञासुओं के बीच मेरे इस प्रयास का समादर होगा और दशरूपक की आलोचना में उनकी प्राञ्जल प्रवृत्ति समुदित होगी।

नारी बारी, प्रयाग
श्रावणी, २०३६ वि० सं०

रामजी उपाध्याय

विषयानुक्रमणिका

प्रथमः प्रकाशः

तृतीयः प्रकाशः

चतुर्थः प्रकाशः

—

प्रथमः प्रकाशः

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टाया देवतायाः प्रकृताभिमतयोश्च देवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन—

१. नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥१

यस्य कण्ठः पुष्करायते=मृदङ्गवदाचरति । मदाभोगेन घनध्वानः=निबिडध्वनिः । नीलकण्ठस्य=शिवस्य । ताण्डवे=उद्धते नृत्ते । तस्मै गणेशाय नमः । अत्र खण्डश्लेषाक्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कारः । नीलकण्ठस्य मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनिः पुष्करायत इति प्रतीतेः ।

आरम्भ में सदाचार को प्रमाण मानते हुए ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए अभीष्ट, प्रासंगिक तथा मान्य तीन देवताओं को दो श्लोकों में नमस्कार किया जा रहा है—

१. उन गणेश को प्रणाम है, जिनका कण्ठ नीलकण्ठ (शिव) के ताण्डव में मद के प्रकर्ष से सघन-ध्वनि-युक्त होकर पुष्कर (मृदङ्ग) के समान बजता है, जैसे नीलकण्ठ (मयूर) के नृत्य में मेघ की ध्वनि मृदङ्ग बन जाती है ।

जिनका कण्ठ पुष्करायमाण होता है, अर्थात् मृदङ्ग के समान बजता है, (क्योंकि) मदाभोग के घन (निबिड) ध्वनि से युक्त हो जाता है, जब शिव का ताण्डव प्रवृत्त होता है । उन गणेश को प्रणाम है । यहाँ खण्डश्लेष से आक्षिप्त उपमा-छाया अलंकार है, क्योंकि ऐसी प्रतीति हो चलती है, मानो नीलकण्ठ (मयूर) के ताण्डव में मेघध्वनि पुष्कर के समान बज रही हो ।

२. दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः ।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥२

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमा-रूपेण अन्यत्रानुकृतिरूपेण नाटकादिना यस्य भावकाः=ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति=हृष्यन्ति, तस्मै अभिमताय विष्णवे प्रकृताय भरताय च नमः ।

२. उन सर्वज्ञ विष्णु को प्रणाम है, जिनके दस रूपों (मत्स्य-कूर्मादि) अवतारों की प्रतिमाओं से भक्त हर्षयुक्त होते हैं । उन सर्वज्ञ भरत को प्रणाम है, जिनके दस रूपों (नाटक आदि दस रूपकों) के अनुकारों (अभिनयों) से सहृदय विमुग्ध होते हैं ।

एक विष्णुपक्ष में मत्स्यकूर्मादि रूपों के नाम से और अन्य भरतपक्ष में अनुकृति

रूप नाटकादि से, जिनके भावक (ध्यानकर्ता तथा रसिक) हर्षित होते हैं, उन इष्टदेव विष्णु और प्रकरणानुगत भरत को प्रणाम है।

श्रोतुः प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते—

३. कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥३

कञ्चिद्विषयं प्रकरणादिरूपं कदाचित् कस्यचिदेव कवेः सरस्वती योजयति, येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति।

स्वप्रवृत्तिविषयं दर्शयति—

श्रोता की विशेष रुचि इस ग्रन्थ में क्यों हो ? इसका उत्तर है।

३. दयापूर्वक सरस्वती कभी किसी विषय का विशेष ज्ञान किसी विद्वान् को करा देती है। फिर तो कोई अन्य व्यक्ति भी उसे जान कर विदग्ध हो जाता है।

सरस्वता किसी विवेचनीय विषय को कभी किसी कवि को वता देती हैं और वह ग्रंथ लिख देता है, जिसे पढ़ कर अन्य लोग विदग्ध हो जाते हैं।

मैं यह ग्रंथ क्यों लिख रहा हूँ, यह लेखक बताता है—

४. उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥४

यं नाट्यवेदं वेदेभ्यः सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्संबद्धमभिनयं भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धतं नृत्तं कृतवान्, लास्यं सुकुमारं नृत्तं पार्वती कृतवती। अस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः। तदेकदेशस्य लक्षणं संक्षेपतः क्रियत इत्यर्थः।

४. सम्पूर्ण वेदों से तत्त्व का अनुसन्धान करके ब्रह्मा ने जिस नाट्यवेद की रचना की, जिसका अभिनय मुनि होने पर भी भरत ने, ताण्डव शिव ने और लास्य उमा ने किया, उस नाट्यवेद के प्रत्येक पद का लक्षण अन्य कौन कर सकता है ? किन्तु मैं (धनञ्जय) प्रगुण (सरल) रचना द्वारा नाट्यों का लक्षण संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

ब्रह्मा ने वेदों से सार लेकर जिस नाट्यवेद को बनाया, जिससे सम्बद्ध अभिनय (करण और अङ्गहार) भरत ने निरूपित किए, शिव ने ताण्डव (उद्धत नृत्त) और पार्वती ने लास्य (सुकुमार नृत्त) किया, उस नाट्यवेद का पूर्णतः लक्षण कौन कर सकता है। दशरूप का अंशतः संक्षेप में लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति—

भरत ने जिस विषय पर ग्रन्थ लिखा, उसी विषय पर मेरा लिखना पुनरुक्ति दोष है। इस दोष का परिहार करते हुए धनञ्जय ने कहा है—

५. व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥५

व्याकीर्णे—विक्षिप्ते विस्तीर्णे च शास्त्रे अल्प बुद्धीनां व्यामोहो भवति। तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति।

५. किसी विषय का विस्तारपूर्ण विवेचन होने से मन्द-बुद्धि लोगों को उसमें भ्रम हो जाता है। अतः उस भरत के नाट्यवेद का संक्षेप करके, उन्हीं पदों से उसका अर्थ सरल रीति से किया जा रहा है।

व्याकीर्ण शब्द यहाँ विक्षिप्त अथवा विस्तीर्ण का अर्थ देता है। ऐसे शास्त्र को समझने में अल्पज्ञ को सन्देह उत्पन्न होता है। इस कारण उस (भरतकृत) नाट्यवेद का अर्थ नाट्यशास्त्र के पदों द्वारा ही संक्षेप करके सरल रीति से किया जा रहा है।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम्। दशरूपज्ञानं किं फलमित्याह—

६. आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय ॥६

अत्रकेचित्—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥'

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति। तन्निरासेन स्वसंवेद्य-परमानन्द-रूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलं, न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम्। नम इति सोल्लुण्ठनम्।

इस ग्रन्थ का यही फल है कि दस प्रकार के रूपकों का ज्ञान हो जाय। दस रूपकों के ज्ञान का क्या फल है ?

६. आनन्द के स्रोत इन रूपकों से कोरी विद्वत्ता फल-रूप में प्राप्तव्य है, जैसे इतिहास आदि से होती है—ऐसा जो मन्दबुद्धि कहता है, उस स्वादपराङ्मुख को दूर से ही नमस्कार।

रूपकों के प्रयोजन के विषय में कुछ विद्वानों (भामह) ने कहा है कि उत्तम काव्य को पढ़ने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में तथा सभी कलाओं में दक्षता प्राप्त होती है, (पाठक की) कीर्ति और प्रीति बढ़ती है। इस प्रकार वे त्रिवर्गादि का ज्ञान

मात्र काव्य-फल रूप में प्रतिपादित करते हैं। इस मत के विपरीत, वस्तुतः रसास्वाद रूपकों का फल है, जो परमानन्ददायी है और हृदय के द्वारा ग्राह्य है। इतिहास-पुराणादि से इसकी यही विशेषता है कि इसमें कोरे ज्ञान का महत्त्व कम है और रसास्वाद का महत्त्व अधिक है। उक्त श्लोक में नमः पद अनादरसूचक परिहासात्मक है।

'नाट्यानां लक्षणं संक्षिपामि' इत्युक्तम् । किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

७. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं—

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन वाचिकाङ्गिकसात्त्विकाहार्यरूपेण तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् ।

ग्रन्थकार ने नाट्यों के लक्षण को संक्षेप करने की प्रतिज्ञा की है। यह नाट्य क्या है ? नाट्य का लक्षण है—

७. अवस्था का अनुकरण नाट्य है।

काव्य (रूपक) में धीरोदात्त आदि (पात्रों) की अवस्थायें (उत्साह, शोकादि) निबद्ध की जाती हैं। उन अवस्थाओं का अनुकरण चार प्रकार के अभिनय (आङ्गिक वाचिक, सात्त्विक और आहार्य) से किया जाता है। नाट्य इस अनुकृति या अभिनय का पर्यायवाची है, जिसमें नट को प्रेक्षक रामादि समझता है।

नान्दी टीका

नाट्य को अवस्था का अनुकरण कहा गया है। यहाँ अवस्था है कार्यावस्था। कथापुरुष (नायक) जो काम करते हैं, उन कामों का अनुकरण नाट्य में होता है। दशरूपक के अनुसार नायक के प्रायः सभी काम (रोना, गाना, हँसना आदि) अवस्थायें हैं।[१] भरत ने नाट्य की परिभाषा दी है—लोकवृत्तानुकरण।[२] इससे स्पष्ट है कि धनञ्जय की अवस्था भरत का लोकवृत्त है। भरत ने नाट्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि लोक का स्वभाव जब चारों प्रकार के अभिनय से प्रस्तुत किया जाता है तो वह नाट्य कहा जाता है।[3]

अभिनवगुप्त के अनुसार उपर्युक्त अनुकरण कोरा लाक्षणिक है। यदि कथा-पुरुष कहीं रोता हुआ बताया गया है तो उसकी भूमिका में आने वाला पात्र यदि रोता तो उसे अनुकरण कहा जाता, किन्तु नट तो रोता नहीं है। वह तो अभिनय के द्वारा प्रेक्षकों को दिखाता-मात्र है कि मैं रो रहा हूँ। बोलचाल की भाषा में आज भी यदि कोई वस्तुतः रोता नहीं है, केवल रोने का स्वांग रचता है तो उसकी इस क्रिया के विषय में कहते हैं कि यह नाटक कर रहा है। अभिनवगुप्त का विश्लेषण वस्तुतः तात्त्विक है।

---

१. अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासासितादयः। दश० ४.३०

२. लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।। ना० शा० १.११२

३. योऽयं स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः।
सोऽङ्गाद्यभिनयैर्युक्तो नाट्यमित्यभिधीयते ।। ना० शा० १९.१४४

रूपं दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादिरूपवत् ।

दिखलाई देने अथवा प्रत्यक्ष होने के कारण उसे (नाट्य को) रूप कहते हैं ।

वही नाट्य (रंगपीठ पर अभिनय द्वारा) दृश्यमान होने से रूप कहा जाता है । जैसे नील, पीतादि गुण दिखाई देने के कारण रूप कहे जाते हैं ।

नान्दी टीका

नाट्य का पर्यायवाची शब्द रूप बताया गया है । रूप नाम की सार्थकता इस कारण है कि नाटक में कथा-सम्बन्धी कर्त्ता और कार्य आदि वैसे ही प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं, जैसे और कोई दिखाई देने वाली वस्तु रूप होती है । जो कुछ दिखाई दे, वह रूप है ।

रूप की यह परिभाषा अनेकान्तिक होने के कारण चिन्त्य है, क्योंकि असंख्य वस्तुयें दिखाई देती हैं तो वे सभी रूप हो जायेंगी । इस प्रकार परिभाषा के द्वारा जो विलक्षणता प्रकट होनी चाहिए, वह 'रूपं दृश्यतयोच्यते' में नहीं है ।

रूप् धातु का एक अर्थ है अभिनय करना । इस धातु में अच् प्रत्यय जोड़कर रूप बनता है, जिसका अर्थ है अभिनेय वस्तु ।

रूपकं तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकम् । मुखचन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दर शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः ।

उस (नट) में समारोप होने के कारण (नाट्य ही) रूपक है ।

(रंगपीठ पर) नट में रामादि की अवस्था का आरोपण करने से नाट्य उपस्थित होता है, अतएव उसे रूपक कहते हैं, जैसे रूपकालङ्कार में मुखचन्द्र कहते हैं, क्योंकि मुख पर चन्द्र का आरोप होता है । नाट्य, रूप और रूपक तीनों समानार्थक हैं, जैसे इन्द्र, पुरन्दर और शक्र तीनों शब्द समानार्थक हैं । (ये तीनों ही देवराज की विशेषता बताने के लिए कभी कोई तो कभी कोई प्रयुक्त होते हैं ।) प्रवृत्तिनिमित्त = किसी शब्द को किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त करने का कारण ।

नान्दी टीका

रूपक नाम की सार्थकता यह है कि जैसे रूपक अलंकार में अप्रस्तुत वस्तु को प्रस्तुत वस्तु में आरोपित कर देते हैं, उसी प्रकार रामादि को नट में समारोपित कर देते हैं ।

—दशधैव रसाश्रयम् ॥७

रसानाश्रित्यप्रवर्तमानं दशप्रकारकम्। एवेत्यवधारणं तु शुद्धाभिप्रायेण। नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

रूपक दस ही प्रकार के होते हैं, क्योंकि वे रस पर अवलम्बित हैं।

रस पर अवलम्बित रूपक दस ही प्रकार के होते हैं। एव कहने से दस से कम या अधिक रूपक नहीं होते, यह निश्चित सीमा शुद्ध रूपकों की निर्धारित हो गई। शुद्ध रूपक के दस ही भेद हुए। नाटिका संकीर्ण (नाटक और प्रकरण का मिश्र) है। उसका लक्षण आगे बतायेंगे।

नान्दी टीका

रूपक दस ही प्रकार के होते हैं। यह कहना उतना ही सार्थक है, जितना पुराणों का १८ होना। जैसे पुराणों के समान ही वर्ण्य-विषयादि वाले ग्रन्थ उपपुराण कहे जाते हैं, वैसे ही दस रूपकों से मिलती-जुलती वस्तु, नेता और रस वाले काव्य-बन्धों को उपरूपक कहा गया। वस्तुतः जैसे रसाश्रित या रस के स्रोत रूपक होते हैं, वैसे ही उपरूपक भी रस के स्रोत होते हैं।

तानेव दशभेदानुद्दिशति—

८. नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥८

उन्हीं दस भेदों का नाम बताते हैं—

८. नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार वीथी, अङ्क और ईहामृग।

ननु च—

'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥'

यहाँ पाठक को शंका हो सकती है कि अन्य रूपकों के रहते हुए उनकी दस संख्या का निर्धारण ठीक नहीं है। ये अन्य रूपक हैं—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य, जो भाण के समान होने से रूपक हैं। इस आशंका का निवारण धनञ्जय ने किया है। उनका कहना है कि डोम्बी आदि नृत्य हैं, नाट्य नहीं।

नान्दी टीका

किन्हीं दो वस्तुओं की भिन्नता उनके आश्रय (प्रतिपाद्य विषय), स्वरूप, कर्त्ता और संज्ञा (नाम) की भिन्नता से प्रमाणित होती है। धनञ्जय संक्षेप में और धनिक विस्तार से नाट्य और नृत्य के भेदक तत्त्वों को समझाते हैं।

९. अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्—

रसाश्रयान्नाट्याद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव। तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदात् नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात् लोकेऽपि च 'प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारात् नाटकादेरन्यन्नृत्यम्। तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेर्नावधारणानुपपत्तिः। नाटकादि च रसविषयम्। रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मकवाक्यार्थरूपत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम्। नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्। अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः। यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति।

९. नृत्य भाव पर अवलंबित होता है। अतएव वह नाट्य से भिन्न होता है।

रसाश्रय नाट्य से भावाश्रय नृत्य भिन्न ही होता है। यह नृत्य और नाट्य में विषयगत भेद है। भावाश्रय होने से विषय दूसरा हो जाता है। अतः 'नृत्य' (नाट्य से भिन्न) नाम दिया गया है। 'नृत्' धातु का अङ्गविक्षेप (अङ्गचालन) अर्थ है। अतः नृत्य में आङ्गिक अभिनय की बहुलता होती है। यह स्वरूप भेद है। नृत्य करने वालों को नर्तक कहा जाता है। यह कर्त्ता की दृष्टि से भेद है। लोक में भी ऐसे प्रदर्शनों को 'प्रेक्षणीयक' कहा जाता है। यह संज्ञा की दृष्टि से भेद है। इस प्रकार नाटकादि से नृत्य भिन्न होता है। श्रीगदित आदि नृत्य के भेद हैं। अतः रूपकों का संख्या दस ही बताना ठीक है। नाटकादि का विषय रस है, जो वाक्यार्थ होता है। इसमें पदार्थरूप से आने वाले विभावादि का संसर्ग रहता है। रसाश्रय नाट्य कहने से ग्रन्थकार का मन्तव्य है कि नाट्य वाक्यार्थ (रस) का प्रतिपादक है। 'नाट्य' शब्द में अवस्पन्दन या स्वल्पचलन अर्थ वाला 'नट्' धातु है। इसमें सात्त्विक अभिनय की प्रधानता होती है और इसी कारण नाट्य का अभिनय करने वालों को नट कहते हैं।

गात्रविक्षेपरूप अर्थ (व्यापार) के समान होने पर भी नृत्त से नृत्य भिन्न होता है, क्योंकि नृत्य में अनुकरण (अभिनय) भी रहता है। इसी प्रकार वाक्यार्थाभिनयरूप नाट्य से (विभावादि) पदार्थाभिनय-रूप नृत्य भिन्न ही है।

नान्दी टीका

नृत्य से केवल भाव का बोध होता है। नृत्य के द्वारा आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि का अभिनय होता है। जहाँ नाट्य में इनके साथ ही वाक्यार्थ (रस) का अभिनय होने से प्रेक्षक को रसास्वाद होता है, वहाँ

(कथा के अंशमात्र) के अभिनय से प्रेक्षक को भावों का बोधमात्र होता है।[1] नाट्य का उत्कर्ष रसोचित सात्त्विक अभिनय से प्रतिष्ठित होता है और नृत्य में सात्त्विक अभिनय का सर्वथा अभाव होता है।

नाट्य और नृत्य का अन्तर नीचे स्पष्ट किया जाता है—

नाट्य	नृत्य
१. वाक्यार्थ का अभिनय है।	१ पदार्थ का अभिनय है।
२. प्रेक्षक के लिए रस का स्रोत है।	२. प्रेक्षक को भावमात्र का बोध कराता है।
३. आङ्गिक अभिनय का स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं है।	३. आङ्गिक अभिनय प्रधान होता है।
४. सात्त्विक अभिनय सविशेष होता है।	४. सात्त्विक अभिनय का अभाव होता है।
५. नाट्य में यथास्थान नृत्य का उपयोग होता है।	५. नृत्य में नाट्य के उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता।
६. नाट्य का अभिनय करने वाले को नट कहते हैं।	६. नृत्य का अभिनय करने वाले को नर्तक कहे जाते हैं।

धनिक ने डोम्बी, श्रीगदित, भाण आदि को नृत्य कहा है। यह समीचीन नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि—

(१) डोम्बी, श्रीगदितादि भी रस-विषय होते हैं।

(२) इनमें भी वाक्यार्थाभिनय होता है और ये रसाश्रित हैं।

(३) जैसा ऊपर लिख चुके हैं, डोम्बी, श्रीगदितादि वस्तुतः उपरूपक हैं।[2] प्रथित रूपकों की दस की कोटि के बाहर के रूपक उपरूपक कहलाये।

प्रसङ्गान्नृत्तं व्युत्पादयति—

—नृत्तं तालल्याश्रयम्।

तालश्चञ्चत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः। तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति—

प्रसङ्गतः (रूपक में उपयोगी होने के कारण) नृत्त को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं—

---

१. अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र १८.१०४ में 'भावोपपन्न-चरितपदम्' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है—'भावैर्व्यभिचारिभिरुपपन्नानि पदानि कथाखण्डानि यस्मिन्' अर्थात् भाव यहाँ व्यभिचारी हैं और उनके व्यञ्जक पद कथाखण्ड हैं।

२. रामचन्द्र ने इनको भी रूपक कहा है। पृष्ठ १८१ नाट्यदर्पण।

नृत्त ताल और लय पर अवलम्बित होता है।

चञ्चत्पुट आदि ताल हैं और द्रुत मध्य और विलम्बित लय हैं। इन्हीं दोनों के सामञ्जस्य में किया जाने वाला अङ्गविक्षेप नृत्त है। नृत्त सर्वथा अभिनय-रहित होता है।

अनन्तरोक्तं द्वितीयं व्याचष्टे—

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥९

नृत्य पदार्थाभिनयात्मकं मार्गं इति प्रसिद्धम्, नृत्तं तु देशीति। द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

इन दोनों (नृत्य और नृत्त) की व्याख्या इस प्रकार है—

दोनों में प्रथम नृत्य (विभावादि) पदार्थ के अभिनय का नाम है और 'मार्ग' कहा जाता है। दूसरे नृत्त को देशी कहते हैं।

इन दोनों के दो प्रकार बताये जाते हैं।

नान्दी टीका—

नृत्त को नाट्य और नृत्य से भिन्न समझना चाहिए। नाट्य और नृत्य में अभिनय होता है और नृत्त अभिनय-रहित होता है।

नृत्त केवल ताल और लय पर आश्रित होता है। इसमें अङ्गविक्षेप ताली बजाने आदि के सामञ्जस्य में होता है।

नृत्य का पर्यायवाची मार्ग है। नृत्त का पर्यायवाची देशी है।

१०. मधुरोद्धतभेदेन तद् द्वयं द्विविधं पुनः।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥१०

सुकुमारं द्वयमपि लास्यम्, उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति। प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति। नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयरूपत्वेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति।

१०. दोनों (नृत्त और नृत्य) में से प्रत्येक के दो भेद मधुर और उद्धत होते हैं। ये दोनों ही नाटकादि सभी रूपकों में समाविष्ट होते हैं।

मधुर या सुकुमार नृत्य को लास्य कहते हैं। उद्धत नृत्य या नृत्त को ताण्डव कहते हैं। नाट्य और नृत्य के प्रसङ्ग में नृत्त की चर्चा की गई। इनका उपयोग बताते हैं—ये दोनों नृत्य और नृत्त नाटकादि सभी रूपकों में उपयोगी होते हैं। यदि कहीं छोटा-मोटा अलग से पदार्थ (कथांश) आ जाये तो उसका अभिनय नृत्य के द्वारा होता है। रूपकों के अभिनय में कहीं-कहीं शोभा (रमणीयता) का संवर्धन करने के लिए नृत्त किया जाता है।

नान्दी टीका

नृत्य और नृत्त दोनों दो प्रकार के होते हैं मधुर और उद्धत। अर्थात् मधुर नृत्य और उद्धत नृत्य। इसी प्रकार मधुर नृत्त और उद्धत नृत्त।

मधुर कोटि के नृत्य और नृत्त को लास्य कहते हैं। उद्धत कोटि के नृत्य और नृत्त को ताण्डव कहते हैं। नृत्य के द्वारा नाट्य में प्रासंगिक रूप से पदार्थाभिनय का समावेश होता है। नृत्त के द्वारा नाट्य में शोभा (शौर्य तथा दक्षता) प्रकट की जाती है।

इस प्रकार नृत्य और नृत्त शोभा का दिग्दर्शन कराने के लिए नाट्य के अंग बन कर आते हैं। मनोरंजन के लिए स्वतन्त्र रूप से भी नृत्य और नृत्त का उपयोग होता है। धनंजय नृत्य को स्वतन्त्र काव्यात्मक उपरूपक से भिन्न मानते हैं।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह—

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको—

वस्तुभेदान्नायकभेदाद् रसभेदाद्रूपकाणामन्योन्यं भेद इति।

सभी रूपकों में अनुकरण-तत्त्व समान रूप से विराजमान है। इस दृष्टि से उन सबकी समानता है। उनका भेद क्यों? इस शंका का समाधान है—

रूपकों के पूर्वोक्त दस भेद प्रत्येक की वस्तु, नेता और रस की भिन्नता के कारण है।

नान्दी टीका

दस प्रकार के रूपक एक दूसरे से पृथक् होते हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक की कथावस्तु, नायक और रस कुछ विशेषता लिए हुए रहते हैं। इस प्रसंग में नायक महासामान्यवचन-रूप में प्रयुक्त है, अर्थात् नायक कोई भी कथापुरुष (character) है। वह केवल अधिकारी नायक (hero) नहीं है।

वस्तुभेद

वस्तु च द्विधा।

वस्तु दो प्रकार की होती है।

कथमित्याह—

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥११

प्रधानभूतमितिवृत्तमाधिकारिकम् यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः। तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकम् यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति।

११. आधिकारिक मुख्य वस्तु है और प्रासङ्गिक अङ्ग वस्तु है।

आधिकारिक प्रधान कथा है, जैसे रामायण में राम-सीता की कथा। उसका अंगभूत प्रासंगिक कथा रामायण में ही विभीषण और सुग्रीव का वृत्तान्त है।

नान्दी टीका

कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासंगिक। इनमें से आधिकारिक वस्तु मुख्य होती है। इसके द्वारा सीधे-सीधे प्रधान नायक को फल मिलता है। प्रासंगिक वस्तु उससे जुटी हुई उसका अङ्ग बनकर बीच में आ सकती है।

निरुक्त्याधिकारिकं लक्षयति—

१२. अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥१२

फलेन स्वस्वामिसंबन्धोऽधिकारः। फलस्वामी चाधिकारी। तेनाधिकारिणा निर्वृत्तम्=फलपर्यन्तततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम्।

निर्वचनपूर्वक आधिकारिक का लक्षण बताते हैं—

१२. फल का स्वामित्व अधिकार है। उस अधिकार या फल के प्रभु को अधिकारी कहा जाता है। वह कथानक, जो उससे पूर्णता को प्राप्त कराया जाता है और व्यापक होता है, आधिकारिक कहलाता है।

फल के साथ फलभोक्ता का जो स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध होता है, वह अधिकार है और फल का स्वामी अधिकारी है। उस अधिकार (फल) तक पहुँचने वाला अधिकारी (फलभोक्ता) द्वारा अन्त में फल प्राप्य होता है। अधिकारी वस्तु फल तक पहुँचती है।

नान्दी टीका

प्रत्येक कथावस्तु के अन्त में पूरे रूपक के नायकों के प्रयत्न से एक प्रधान फल की प्राप्ति होती है। उस फल को पा लेना अधिकार है। फल पाने वाले अधिकारी का दूसरा नाम प्रभु है, अर्थात् फल का स्वामी। वह आधिकारिक वृत्त है जो तन्निर्वर्त्यम् अर्थात् फल प्राप्त कराने तक प्रधान रूप से व्यापक होता है। आधिकारिक वृत्त में कथा के प्रधान नायक की सफलता-दायक उपलब्धियाँ होती हैं।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

१३. प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य, सतस्तत्प्रसङ्गात् स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत् प्रासङ्गिकमितिवृत्तं प्रसङ्गनिर्वृत्तेः प्रासङ्गिकम्।

प्रासंगिक इतिवृत्त

१३. अन्य (प्रधान नायक) की प्रयोजनसिद्धि वाले जिस कथानक में प्रसङ्ग से पताका-नायक के स्वार्थ की सिद्धि हो, वह प्रासङ्गिक कथावस्तु है।

जिस इतिवृत्त का परकीय (प्रधान नायक का) प्रयोजन होता है, और उसके

प्रसंग से अपने (पताका-नायक के) प्रयोजन की सिद्धि होती है, वह मुख्य इतिवृत्त के साथ होने से प्रासङ्गिक इतिवृत्त है।

नान्दी टीका

कारिका का अन्वय है—परार्थस्य यस्य (इतिवृत्तस्य) प्रसंगतः स्वार्थः। अर्थात् जो इतिवृत्त प्रधान नायक का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए है, नायक के साथ होने से उपनायक का स्वार्थ भी सिद्ध होता है।

धनञ्जय के अनुसार प्रासंगिक कथा का नायक जो कुछ करता है, वह प्रधान नायक की सफलता की दिशा में महत्त्वपूर्ण है, साथ ही उसे भी कुछ फल मिल कर रहता है। धनञ्जय का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। इसके कारण नीचे लिखे हैं—

(१) भरत के अनुसार प्रकरी नामक प्रासङ्गिक वृत्त का नायक कोई फल नहीं पाता। उसका कार्य-व्यापार परार्थ अर्थात् प्रधान नायक की सहायता-मात्र के लिए होता है।

(२) धनिक ने जो उदाहरण प्रकरी वृत्त का दिया है, उसका नायक श्रावण न कोई फल पाता है और न अपने लिए फल की इच्छा करता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रासङ्गिक कथावस्तु से पताका नामक भेद में पताका नायक को फल मिलता है, किन्तु प्रकरी नामक प्रासङ्गिक कथावस्तु के नायक को कोई फल नहीं मिलता।

धनञ्जय का प्रासङ्गिक कथावस्तु-विषयक उपर्युक्त मत कि पताका और प्रकरी दोनों प्रकार के प्रासङ्गिक वृत्तों में स्वार्थ और परार्थ उसके नायक को सिद्ध होते हैं, भरत के नाट्यशास्त्र के प्रतिकूल है। प्रकरी नायक को फल नहीं मिलता। जैसी भरत ने नाट्यशास्त्र में प्रकरी की परिभाषा दी है—

फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम् ॥१९.२५

अर्थात् प्रकरी-नायक के अपने स्वार्थ (फल) का प्रश्न ही नहीं है।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह—

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१३

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्—पताकेवासाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्। यदल्पं दूरं नानुवर्तते सा प्रकरी, श्रावणादिवृत्तान्तवत्।

प्रासङ्गिक कथानक भी पताका और प्रकरी भेद से दो प्रकार का होता है।

अनुबन्धसहित प्रासङ्गिक कथावस्तु को पताका और अल्पदेशभागी प्रासङ्गिक कथावस्तु को प्रकरी कहते हैं।

आधिकारिक इतिवृत्त का दूर तक अनुसरण करने वाला प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका है—जैसे रामायण में सुग्रीवादि का वृत्तान्त। जैसे, पताका या ध्वज नायक का विशेष चिह्न हकर उसका उपकारक है, उसी प्रकार नायक से अनुबद्ध तथा उपकारी कथानक पताका है। जो कथा अल्प दूर तक पीछे-पीछे चलती है, वह प्रकरी है—जैसे रामायण में श्रावण आदि का वृत्तान्त।

नान्दी टीका—

१२. धनञ्जय के अनुसार पताका सानुबन्ध होती है। धनिक ने सानुबन्ध की व्याख्या की है—

'दूरं यदनुवर्तते'।

अर्थात् पताका बहुत दूर तक चलती रहती है। सानुबन्ध का अर्थ 'दूर तक चलने वाला' धनञ्जय भी मानते हैं, जब वे कहते हैं कि—

प्रकरी च प्रदेशभाक्।

अर्थात् प्रकरी थोड़ी दूर तक चलती है।

धनिक और धनञ्जय दोनों का सानुबन्ध का अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता है। सानुबन्ध में अनुबन्ध दूरी नहीं बताता। अनुबन्ध तो समय, संवित् या शर्त है, जिसे अङ्गरेजी में कान्ट्रैक्ट (Contract) कहते हैं। अभिनवगुप्त ने अनुबन्ध का यह अभिप्राय नाट्यशास्त्र की टीका में स्पष्ट किया है।[1]

रामायण में सुग्रीव की कथा पताका है। इसमें सुग्रीव और राम का अनुबन्ध होता है कि आप मेरे लिए यह करें तो मैं आपके लिए ऐसा करूँगा।

पताका-नायक का प्रधान नायक से साँटगाँठ रहती है। वे परस्पर मिलकर एक-दूसरे के लिए काम करते हैं। प्रकरी नायक का प्रधान नायक से मिलना आवश्यक नहीं। वह स्वान्तःसुखाय प्रधान नायक के हित के लिए कर्तव्य पालन करता है। पताका वृत्त में यद्यपि प्रधान नायक रहता है, किन्तु वह पताका नायक का सहायक-मात्र प्रतीत होता है। प्रकरी-वृत्त में प्रधान नायक का होना वैकल्पिक है।

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

१४. प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचनम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥१४॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचनरूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम्। तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्—अन्योक्तिसमासोक्तिभेदात्। समासोक्तेः सकाशादन्योक्तेर्भेदात्। यथा, रत्नावल्याम्—

---

१. ना० शा० १९.२५ पर अभिनवभारती।

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥' ३.६

पताका का प्रसंग होने से (नाम की समानता के आधार पर) पताका-स्थानक की परिभाषा है।

१४. सामने आई हुई और भविष्य में आने वाली घटना को साथ ही अन्योक्ति द्वारा प्रकाशित करने वाला पताका-स्थानक होता है। यह तुल्य संविधान (कार्य, प्रवृत्ति) या सगुन विशेषण से सिद्ध होता है।

प्रकरणगत और भावी अर्थ का सूचक वक्तव्य पताका-तुल्य होने से "पताका-स्थानक" कहा जाता है। उसमें कहीं इतिवृत्त को और कहीं विशेषणों की समानता रहती है। पताकास्थानक दो प्रकार का है—अन्योक्तिपरक और समासोक्तिपरक। जैसे रत्नावली में पताकास्थानक है—

"हे कमलनयने, मैं अब चला। मेरा यह चलने का समय है। सोई हुई आपको मैं ही (प्रातः) जगाऊँगा। अस्ताचलरूपी मस्तक पर किरणरूपी हाथ रखकर यह सूर्य मानो कमलिनीरूपी नायिका को आश्वासन दे रहा है।"

(कमलिनी और सूर्य के प्रसङ्ग में जो बातें कही गई हैं, उनसे अन्योक्ति द्वारा उदयन नायक और रत्नावली नायिका का भावी व्यापार सूचित होता है कि कल प्रातः मिलेंगे। अतः अन्योक्तिगर्भित पताकास्थानक है।)

यथा च तुल्यविशेषणतया—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्या करिष्याम्यहम् ॥' २.४

समान विशेषणों के श्लेषमय अर्थ द्वारा प्रत्यक्ष वर्णित विषय से मनोनीत विषय का संकेत समासोक्ति में होता है। जैसे,

"इस उद्यानलता में कलियाँ निर्बन्ध तथा ऊर्ध्वमुखी हैं, विशेषतया वह श्वेत कान्ति से सम्पन्न है, अभी-अभी ही विकास कर चुकी है और वायु के निरन्तर झोकों से वह अपना आयास व्यक्त कर रही है। यह लता निश्चय ही उस कामाकुल स्त्री के समान है, जिसमें कामपीडाजनित अतिशय बेचैनी हो, फलतः पाण्डुवर्ण हो रही हो, क्षण-क्षण जम्हाई या अँगड़ाई ले रही हो और निरन्तर उच्छ्वासों से जो अपनी मदनव्यथा का आयास व्यक्त कर रही हो। इस लता को देखता हुआ मैं (नायक) महारानी के मुख को प्रणयकोप से रक्ताभ कर दूँगा। अर्थात् लता को रानी परस्त्री समझेंगी और उस ओर मेरे देखने पर कोप से लाल हो उठेंगी।"

(इस श्लोक के पूर्वार्ध में आये हुए विशेषण श्लेष द्वारा लता और नायिका दोनों

पर घटते हैं। इस पताकास्थानक से सूचित होता है कि राजा जब प्रेमिका को रागयुक्त होकर देखेगा, तब महारानी को कोप होगा। इस प्रकार भावी कथानक की सूचना दी गयी है।) समासोक्ति का अभिप्राय है संक्षेप में कहना।

धनञ्जय की कारिका में अन्योक्ति का प्रयोग यह बताने के लिए हुआ है कि प्रत्यक्ष रूप से जो अर्थ प्रतीत हो रहा है, उससे भिन्न दूसरा मनोनीत अर्थ पताका-स्थानक के लिए ग्रहण किया जाता है।

धनिक ने अन्योक्ति और समासोक्ति विधि से पताकास्थानक के द्वारा प्रतीयमान उपर्युक्त दो अर्थों की चर्चा की है। उनके मतानुसार जब दूसरा अर्थ समान घटनाओं के द्वारा संकेतित होता है तो अन्योक्ति है और जब वही श्लेष-निर्भर विशेषणों के द्वारा संकेवित होता है तो समासोक्ति होती है।

नान्दी टीका

जिस प्रकार किसी पताका को देखकर पथिक अपनी भावी गमन-दिशा का निर्धारण करता है। उसी प्रकार पताकास्थानक से भावी कार्य-प्रवृत्ति का संकेत मिलता है।

पताका-स्थानक की दशरूपक की परिभाषा भरत के नाट्यशास्त्र की परिभाषा से पर्याप्त भिन्न है।[१] दशरूपक की परिभाषा के अनुसार अन्योक्ति का तत्त्व पताका-स्थानक में सर्वथा आवश्यक है। भरत के अनुसार अन्योक्ति पताका-स्थानक के लिए आवश्यक नहीं है।

भरत ने चार प्रकार के पताका-स्थानक बताये हैं।[२] धनञ्जय ने उनमें से जैसे-तैसे दो को चुना है।

धनञ्जय के अनुसार पताका-स्थानक में प्रस्तुत (जो वस्तु सामने है) के द्वारा अप्रस्तुत (जो वस्तु भविष्य में होगी) की सूचना दी जाती है। ऐसा करने के लिए दो उपाय किये जाते हैं—

(१) प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के विशेषणों को समान रखकर प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की सूचना देना।

(२) प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के संविधान (काम) को समान रखकर प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की सूचना देना।

'धनिक ने उद्दामोत्कलिका' इत्यादि श्लोक को तुल्य-विशेषणात्मक पताका-स्थानक का उदाहरण बताया है। अभिनवगुप्त के अनुसार उपर्युक्त श्लोक में पताका-स्थानक-तत्त्व है ही नहीं। क्यों—

---

१. नाट्यशास्त्रीय परिभाषा है—

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताका-स्थानकं तु तत्॥ १९.३०

२. दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृष्ठ २३-२५

अर्थात् बात कुछ और सोची जा रही है और भावी उपाय-वशात् उनसे संकेतित कोई दूसरी बात सामने आ जाती है तो पताका-स्थानक होता है।

अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि पताका-स्थानक के द्वारा किसी ऐसी घटना को बताना चाहिए, जो नायक को फल प्राप्त कराने में सहायक हो। 'उद्दामोत्कलिका' आदि में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है। यह श्लोक व्याहार नामक वीथ्यङ्ग का उदाहरण है, पताका-स्थानक का नहीं।[1]

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात् त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

१५. प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥१५

१६. मिश्रं च सङ्करात्तान्तो दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

इति निगदव्याख्यातम् ।

इस प्रकार आधिकारिक और दो प्रकार का प्रासंगिक—ये तीन भेद कथावस्तु के होते हैं। ये तीनों पुनः तीन-तीन प्रकार के होते हैं—

१५. वह तीन प्रकार की कथावस्तु—आधिकारिक, पताका और प्रकरी— पुनः तीन प्रकार की होती है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। इतिहास (पुराण) आदि का कथानक प्रख्यात है, कविकल्पित कथावस्तु उत्पाद्य है और इन दोनों के मिश्रण से मिश्र कथावस्तु होती है। ये सभी कथावस्तु दिव्य (देवसम्बन्धी) और मर्त्य (मनुष्य-सम्बन्धी) आदि (दिव्यादिव्य) भेद करने पर अनन्त प्रकार के हो जायेंगे।

नाम लेने मात्र से व्याख्या हो गई।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने मिश्र नामक कथावस्तु बताई है, जो भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं है। मिश्र कथावस्तु धनञ्जय की असत्कल्पना है। प्रख्यात और उत्पाद्य के मिश्रण से यदि मिश्र वस्तु हो सकेगी तो अभिज्ञानशाकुन्तल की ही कथावस्तु मिश्र हो जायेगी क्योंकि उसमें छठें और सातवें अङ्क की कथा सर्वथा उत्पाद्य है। ऐसा धनञ्जय को मान्य नहीं, क्योंकि अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक है और वे नाटक में प्रख्यात कथावस्तु आवश्यक बताते हैं।

१. ना० शा० १९.३४ पर अभिनव-भारती।

भरत ने चार प्रकार की कथावस्तु—प्रख्यात, औत्पत्तिक, अनार्ष और आहार्य बताई हैं और शृङ्गारप्रकाश में भोज पाँच प्रकार की कथावस्तु—इतिहासाश्रय, कथाश्रय, उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और प्रतिसंस्कार्य बताते हैं।[1]

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥१६

धर्मार्थकामाः फलम्। तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्व्यनुबन्धं त्र्यनुबन्धं वा।

इतिवृत्त का फल क्या है, इस विषय में आगे कहते हैं—

(धर्म, अर्थ और काम) त्रिवर्ग ही कार्य (फल) है, जो कहीं अकेले शुद्ध होता है और कहीं एक या अनेक से युक्त होता है।

धर्म, अर्थ और काम फल होते हैं जो कहीं एक ही एक होते हैं और शुद्ध कहे जाते हैं और कहीं एक या दो या तीन साथ-साथ अनुबद्ध रहते हैं। यथा धर्मार्थ, धर्मकाम, अर्थकाम और धर्मार्थकाम।

नान्दी टीका

धनञ्जय कार्य को फल मानते हैं। कार्य वस्तुतः पाँच अर्थप्रकृतियों में से एक है। अर्थप्रकृतियाँ हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। यहाँ प्रश्न उठता है कि कार्य फल है या समारम्भ (Action) है? नाट्यशास्त्र के अनुसार यहाँ प्रतिपाद्य है कि कार्य फल नहीं है, अपितु समारम्भ है। भरत का स्पष्ट मत है—

सर्वस्यैव हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
एतास्त्वनुक्रमेणैव पञ्चावस्था भवन्ति हि ॥ १९.१८

अर्थात् कार्य को पाँच अवस्थायें—आरम्भ, यत्नादि होती हैं। ये पाँच अवस्थायें समारम्भ हैं, न कि फल। अभिनवगुप्त के अनुसार—कार्य से तात्पर्य पञ्चाङ्ग का अनुष्ठान है—कर्म का आरम्भोपाय, पुरुष-द्रव्य-सम्पद्, देशकाल-विभाग, विनिपात-प्रकार, और कार्य-सिद्धि।[2] दशरूपक की १.१६ कारिका में कार्य के स्थान पर फल होना चाहिए था और कार्य की परिभाषा नायक का फलानुवर्ती व्यापार अलग से कर देनी चाहिए थी।

तत्साधनं व्युत्पादयति

१७. स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः परस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम्। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो

---

१. दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृ० २६-२७

२. दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृष्ठ १८-२२
अन्यत्र कार्य को कहीं-कहीं फल माना गया है। यह ठीक भी है, किन्तु अर्थप्रकृतियों में कार्य फल नहीं, समारम्भ है।

योगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः —

यौगन्धरायणः—कः संदेह ('द्वीपादन्यस्मात्—' इति पठति), इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यन्तेन ।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितो युधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति ।

फल के साधन बताते हैं—

१७. सूत्ररूप में थोड़े शब्दों में कहा हुआ तथा अनेक प्रकार से विस्तार लेने वाला फल का साधन बोज कहा जाता है ।

कार्य फल का साधक जो थोड़े में ही निर्दिष्ट होता है, और आगे चल कर अनेक प्रकार से विस्तार ग्रहण करने वाला है, वह बीजतुल्य होने से "वीज" है । जैसे, रत्नावली में वत्सराज उदयन द्वारा रत्नावली की प्राप्ति का कारण, अनुकूल भाग्य से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार बीज है, जो विष्कम्भक में रखा गया है—

यौगन्धरायण कहता है—'क्या सन्देह' और फिर 'द्वीपात्' इत्यादि श्लोक से लेकर 'प्रारम्भे' इत्यादि तक कहा जाता है ।

इसी प्रकार वेणोसंहार में द्रौपदी के केशबन्धन का कारण युधिष्ठिर का उत्साह बीज है, जो भीम के क्रोध से बढ़ता है । वह बीज फलहेतु होने से दो प्रकार का है—

महाकार्य हेतु, अर्थात् मुख्य फल का हेतु और अवान्तर कार्य का हेतु, अर्थात् साधारणतः प्रत्येक अङ्क में आने वाले छोटे-मोटे प्रासङ्गिक कार्यों का हेतु ।

अवान्तरवीजस्य संज्ञान्तरमाह—

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।।१७

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्यहेतुः—उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते । सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती—कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा । (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्मा अहं तातेन दत्ता) इत्यादि । बिन्दुः—जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात् ।

अवान्तर वीज का अन्य नाम बताते हैं—

लघुकार्य विषयक चर्चा समाप्त होने पर उससे आगे आने वाले कार्य-विषयक चर्चा को जोड़ने वाला वाक्य बिन्दु होता है ।।१७

जैसे, रत्नावली में अवान्तर प्रयोजन अनङ्गपूजा है और उसकी समाप्ति पर कथार्थ का विच्छेद हो जाता है । तदनन्तर आगे के कार्यहेतु-कथन नेपथ्य से है—"लोग चन्द्रतुल्य उदयन की प्रतीक्षा कर रहे हैं ।" इसे सुनकर सागरिका कहती है—"क्या यह

वही उदयन राजा है, जिसे मैं पिता के द्वारा अर्पित की जा चुकी हूँ ?" इत्यादि। इस प्रकार के अवान्तरकार्य हेतु को विन्दु इसलिए कहा जाता है कि वह जल में तेल की बूंद के समान प्रसारित होता है।

नान्दी टीका

विन्दु वस्तुतः बीज ही है। रूपकों में एक महाबीज होता है, जिसमें सम्पूर्ण रूपक की कथा का सूक्ष्म निर्देशन होता है। इसके अतिरिक्त अवान्तर-बीज या विन्दु होते हैं, जो प्रत्येक अङ्क के प्रायः अन्तिम अंश में (कहीं-कहीं बीच में) रखे जाते हैं। इनके द्वारा किसी घटना की समाप्ति हो जाने पर उसके आगे आने वाली घटना का संकेत देते हैं। इस प्रकार पूर्वापर घटना के संयोजन या संग्रंथन का काम विन्दु के द्वारा होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार विन्दु अनुसन्धानाभिधायि वाक्य है।[1]

इदानीं पताकाद्यं प्रसङ्गाद्व्युत्क्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह—

१८. बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ॥१८

अर्थप्रकृतयः=प्रयोजनसिद्धिहेतवः।

उक्त पताकादि को प्रसंगवश क्रम छोड़कर निर्दिष्ट किया गया था। उनका क्रम नियोजित करने के लिए सभी का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

१८. बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नाम से पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। उनका परिचय दे दिया गया।

अर्थप्रकृति प्रयोजन (फल) की सिद्धि के कारण हैं।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—इन पाँचों को अर्थ-प्रकृति नाम दिया है। भरत और धनञ्जय ने अर्थप्रकृति की परिभाषा नहीं दी है। अर्थप्रकृति से क्या समझा जाय ?

अर्थप्रकृति की सर्वप्रथम परिभाषा मिलती है—समस्त रूपक में जो कुछ कहा गया है, उसकी प्रकृति (प्रकरण, अवयव, अर्थखण्ड)।[2] अभिनवगुप्त के सामने यह परिभाषा थी। वे इस परिभाषा को समीचीन नहीं मानते। उनके अनुसार अर्थ फल है और प्रकृति उसका उपाय है और अर्थप्रकृति फलोपाय है। हमें अभिनवगुप्त के पूर्व की परम्परागत परिभाषा ठीक लगती है। इसे ही परवर्ती कतिपय नाट्याचार्यों ने स्वीकार किया है। यथा

---

१. अभिनवभारती—भाग २, पृष्ठ ४२३

२. समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतयः प्रकरणान्यवयवार्थखण्डा इत्यर्थप्रकृतयः। यह परिभाषा अभिनवगुप्त ने उद्धृत की है। ना० शा० १९.२१ पर अभिनवभारती में।

अर्थप्रकृतयः पञ्च कथादेहस्य हेतवः ।—भावप्रकाशन, पृष्ठ २०४
नाटकीयवस्तुवः पञ्चप्रकृतयः स्वभावाः भवन्ति ।
नैतान् परित्यज्य नाटकार्थाः सम्भवन्ति ।—नाटकलक्षणरत्नकोश
पाञ्चविध्यात् कथायास्तु प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता ।—नाटकचन्द्रिका ६.१

वस्तुतः कथावस्तु के आख्यान के विविध उद्भवस्थलों को अर्थप्रकृति कहते हैं ।

अवस्थाः

१९. अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशानियताप्ति-फलागमाः ॥१९

यथोद्देशं लक्षणमाह—

पाँच अवस्थायें इन (अर्थप्रकृतियों) से भिन्न हैं । पाँच अवस्थायें :—

१९. फल की इच्छा रखने वाले के द्वारा प्रारम्भ किए हुए कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ।

नाम के क्रम से इनका लक्षण किया जा रहा है—

नान्दी टीका

धनञ्जय ने अवस्था की परिभाषा नहीं दी । भरत के अनुसार फल की प्राप्ति के लिए नायक का जो व्यापार होता है, उसकी क्रमशः आरम्भादि पाँच अवस्थायें होती हैं ।[1] इनको इतिवृत्त की अवस्था भी कहा गया है ।[2]

२०. औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

इदमहं संपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते । यथा रत्नावल्याम् —'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।' इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः ।

२० महत्त्वपूर्ण फल की प्राप्ति के लिए इच्छा करना मात्र आरम्भ है ।

मैं इस प्रयोजन को प्राप्त करूँ, यह निश्चयमात्र आरम्भ कहा जाता है । जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण का कथन है कि स्वामी के अभ्युदय के लिए यह हमारा व्यवसाय है, जिसमें भाग्य ने इस प्रकार हाथ लगाया है । इस प्रकार मन्त्री के द्वारा सफलता पाने वाले वत्सराज उदयन का कार्यारम्भ यौगन्धरायण के द्वारा बताया गया है ।

---

१. ना० शा० १९.७,१४
२. ना० शा० १९.१३

नान्दी टीका

आरम्भ नामक अवस्था में औत्सुक्य-मात्र होता है। प्रश्न यह उठता है कि यह उत्सुकता किसकी हो? अभिनवगुप्त के अनुसार नायक उसके अमात्य, नायिका, प्रतिनायक या दैव—इनमें से किसी को उत्सुकता हो सकती है।

यहाँ यह ध्यान देना है कि उत्सुकता किसी एक या दो कथापुरुषों की होगी, शेष पुरुष वहीं शारीरिक व्यापार भी कर सकते हैं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अङ्क में नायक और नायिका को परस्पर-प्रणय की उत्सुकता है, किन्तु सखियाँ वहीं वृक्षों को सींच रही हैं।

अथ प्रयत्न :

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥२०

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेषः प्रयत्नः। यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपायः। सागरिका—तहावि मे णत्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा-तहा आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सम्' (तथापि मे नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि।) इत्यादिना प्रतिपादितः।

प्रयत्न—उस फल के न मिलने पर अतिशय शीघ्रतापूर्वक जो व्यापार किया जाता है, वह प्रयत्न है ॥२०

फल की प्राप्ति के अभाव में उस चेष्टा विशेष को प्रयत्न कहते हैं, जिसमें उपायों की योजना आदि रहती है। जैसे, रत्नावली में चित्ररचना आदि नायक के समागम का उपाय है—सागरिका कहती है—(नायक) दर्शन का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः जैसे-तैसे चित्र बनाकर अभीष्ट (नायक-दर्शन) सम्पादित करूँगी।' यह नायिका द्वारा प्रयत्न का उदाहरण है।

नान्दी टीका

प्रयत्न नामक अवस्था में धनञ्जय के मतानुसार फल-प्राप्ति की दिशा में चेष्टा होती है। भरत का मत कुछ भिन्न-सा है। वे इस अवस्था में चेष्टा के साथ उत्सुकता का परमाधिक्य होना भी लक्षण मानते हैं। नाटकों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उत्सुकता की विशेषता इस अवस्था में होती ही है। यथा अभिज्ञान-शाकुन्तल के तृतीय अङ्क में इस अवस्था में नायक कहता है—

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
अलमस्ति ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥३०२

इस श्लोक से दुष्यन्त की उत्सुकता बढ़ी हुई प्रतीत होती है।

प्रतिमुख सन्धि में यत्नावस्था होती है। इस सन्धि का प्रथम अंग विलास रति और भोग की उत्कट इच्छा है। वस्तुतः यह यत्नावस्था में औत्सुक्य है।

प्राप्त्याशामाह—

२१. उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादौ समागमोपायस्य वासवदत्तालक्षणापायशङ्कायाश्च–'एवं जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता ।' ('एवं यद्यकालवातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता ।') इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

प्राप्त्याशा का लक्षण बताते हैं—

२१. प्राप्त्याशा (फल) प्राप्ति की संभावना प्राप्त्याशा है, जिसमें उपाय किए जाते हैं, किन्तु (सफलता के रोधक) अपाय की शंका भी होती है ।

उपाय करने और अपायशंका के होने से फलप्राप्ति पूर्णरूप से निश्चित नहीं होती । अनिश्चित फलप्राप्ति प्राप्त्याशा है । जैसे, रत्नावली के तृतीय अंक में वेषपरिवर्तन और अभिसार आदि समागम के उपायों के रहने पर भी वासवदत्ता के जान लेने पर अपाय की शंका है—"यदि आकस्मिक आँधी के समान आकर वासवदत्ता अन्यत्र न उड़ा ले जाये (तो समागम हो पाएगा) ।" इस प्रसंग की उक्ति से दिखाया गया हैं कि समागम-रूप फल की प्राप्ति (सर्वथा) निश्चित नहीं है ।

नान्दी टीका

प्राप्ति-सम्भव की परिभाषा विशेष ध्यान देने योग्य है । धनञ्जय भरत की परिभाषा को अंशतः भी नहीं ग्रहण करते । भरत की परिभाषा के अनुसार उपाय करने पर जब फल की ईषत्प्राप्ति होती है तो वह प्राप्ति-सम्भव नामक अवस्था होती है ।[1] ईषत्प्राप्ति है असमग्र प्राप्ति । अर्थात् थोड़ी देर के लिए नायिका का मिल जाना, जैसा अभिज्ञानशाकुन्तल में दिखाई देता है—दुष्यन्त और शकुन्तला का गान्धर्व-विवाह के द्वारा थोड़ी देर के लिए संगम ।

जैसा भरत ने कहा है—संस्कृत के बहुसंख्यक नाटकों में प्रयत्नावस्था में इस प्रकार नायक-नायिका की ईषत्प्राप्ति मिलती है ।[2] फिर भी न तो धनञ्जय ने इसे ग्रहण किया और न अभिनवगुप्त ने इसे ठीक से समझा । अभिनवगुप्त ने व्याख्या की है कि प्राप्ति सम्भव में प्राप्ति की ईषत् परिकल्पना होती है ।[3] यह व्याख्या वितथ है ।

---

१. ईषत्प्राप्तिर्यदा काचित् फलस्य परिकल्प्यते ।
भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्तिसम्भवम् । ना० शा० १९.११

२. दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृ० ३०-३२

३. अभिनवगुप्त का कहना है—
उपायमात्रेण लब्धेन यदा कदाचित् विशिष्टफलप्राप्तिरीषत् कल्प्यते, सम्भावनामात्रेण स्थाप्यते, न तु निश्चीयते, तदा प्राप्तेः सम्भवः ।

प्राप्ति-सम्भव का अर्थ है प्राप्ति का जन्म, जैसे कुमारसम्मव का अर्थ है कुमार का जन्म।

नियताप्तिमाह

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ।।२१

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः --सागरिका 'उण दुकरं जीविस्सदि' ('सागरिका पुनः दुष्करं जीविष्यति। इत्युपक्रम्य 'किं ण उपायं चिन्तेसि।' ('किं नोपायं चिन्तयसि ?) इत्यनन्तरम् 'राजा—वयस्य ! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता।

नियताप्ति—अपाय (विघ्न) के दूर हो जाने पर फल की प्राप्ति सुनिश्चित होती है। उसे नियताप्ति कहते हैं ।।२१

अपाय के अभाव से अवधारित एकान्त (स्थायी) फलप्राप्ति नियताप्ति है। जैसे रत्नावली में विदूषक कहता है—"सागरिका कठिनता से जीयेगी" यहाँ से लेकर आगे कहता है—"उपाय क्यों नहीं सोचते ?" इसके अनन्तर राजा कहता है—"सखे, देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं देख रहा हूँ।" यहाँ देवी का प्रसादन अगले अंक की कथा का बिन्दु है, जिस प्रसादन से रानी के द्वारा उत्पन्न विघ्न का निवारण होने पर फल की प्राप्ति सुनिश्चित दिखाई देती है।

नान्दी टीका

प्राप्तिसम्भव में नायक और नायिका का मिलन गोपनीय रहता है, नियताप्ति में वह गोपनीय नहीं रह जाता और फलागम की अवस्था में सुप्रकाशित हो जाता है।

फलयोगमाह—

२२. समग्रफलसपत्तिः फलयोगो यथोचिता।

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति।

२२. फलयोग या फलागमन समग्र फल की यथोचित प्राप्ति है।

जैसे रत्नावली नाटिका में रत्नावली की प्राप्ति होने से उदयन का चक्रवर्ती वनना फलागम है।

नान्दी टीका

प्राप्तिसम्भव में ईषत्फलप्राप्ति होती है और फलयोग में समग्रफल-प्राप्ति एकान्तिक होती है।

सन्धयः

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ।।२२

२३. यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः ।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणलक्षणा मुखाद्याः पञ्च संध्रयो जायन्ते ।

२२-२३. पाँच अर्थप्रकृतियाँ और पांच कार्यावस्थायें क्रमशः मिलकर मुखादि पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं ।

पाँच अर्थप्रकृतियों के क्रमशः पाँच अवस्थाओं के साथ मिलने से क्रमशः ही आगे कही जाने वाली मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहृति (निर्वहण) नाम की पाँच सन्धियाँ होती हैं ।

नान्दी टीका

धनञ्जय के अनुसार पाँच अर्थप्रकृतियाँ और पाँच कार्यावस्थायें क्रमशः समन्वित होकर मुख, प्रतिमुख आदि पाँच सन्धियाँ बनती हैं ।

धनञ्जय का यह मत चिन्त्य है । जहाँ तक पाँच अवस्थाओं का क्रमशः पाँच सन्धियों से समंजसित होने की बात है—यह निर्विवाद है । किन्तु पाँच अर्थप्रकृतियों का पाँच सन्धियों से क्रमशः सामञ्जस्य सर्वथा वितथ है, क्योंकि

(१) विन्दु तो प्रत्येक अंक के अन्त में और कहीं-कहीं अंक के मध्य में रहता है । अतएव विन्दु को प्रतिमुख सन्धि में सीमित नहीं किया जा सकता ।

(२) पताका और प्रकरी के विना भी सभी प्रकार के रूपक हो सकते हैं ।[1] ऐसी स्थिति में उनको गर्भ और विमर्श सन्धि में क्रमशः निबद्ध करने की वात ठीक नहीं है । गर्भ और विमर्श सन्धियाँ विना पताका और प्रकरी के भी प्रवर्तित हो सकती हैं ।

संधिसामान्यलक्षणमाह—

अवान्तरार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ।।२३

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंवन्धः सन्धिः ।

सन्धि का सामान्य लक्षण बताते हैं—

---

१. धनञ्जय ने दशरूपक में ही कहा है—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।

द्वादशाङ्गः पताका स्यान्नवा स्यात् प्राप्तिसम्भवः ।।१.३६

अर्थात् गर्भसन्धि में पताका का होना आवश्यक नहीं है ।

वहुविध गौण अर्थों (घटनाओं) का सम्बन्ध सन्धि है, जव उन सब अर्थों का एक प्रधान घटना (फल) की ओर अन्वय हो ।।२३

एक ही प्रयोजन से गुंथे हुये कथा के भागों का गौण प्रयोजनों से और प्रधान प्रयोजन से सम्बन्ध ही सन्धि है ।

नान्दी टीका

धनञ्जय की परिभाषा को दृष्टि से ओझल करके सन्धि को समझना समीचीन है । जैसे महाभारत पर्व में, रामायण काण्ड में और महाकाव्य सर्गों में विभक्त होते हैं, वैसे ही रूपक सन्धियों में विभक्त होते हैं । पर्व और सन्धि का अर्थ समान है—मिलन-विन्दु, अर्थात् वह स्थल जहाँ दो वस्तुयें मिलती हैं । इस मूल अर्थ से लाक्षणिक अर्थ लिया गया है दो मिलन-विन्दुओं के बीच की वस्तु । किसी पर्व या सन्धि से अभिप्राय है वह कथाखण्ड, जो दो अर्थ (घटनाओं) के मिलन-विन्दुओं के मध्य होता है ।

प्रत्येक सन्धि में कितनी कथा हो—इसका स्पष्ट निर्धारण अभिनवगुप्त ने किया है । उनका कहना है कि एक-एक सन्धि एक-एक अवस्था के कार्यों की कथा प्रस्तुत करती है ।[1] इस प्रकार मुख-सन्धि में आरम्भ, प्रतिमुख-सन्धि में यत्न, गर्भसन्धि में प्राप्ति-सम्भव, विमर्श-सन्धि में नियताप्ति और निर्वहण-सन्धि में फलयोग सम्वन्धी कथा होती है ।

जैसा अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कथावस्तु के अवयव जो परस्पर जोड़े जाते हैं, सन्धि है ।[2]

आधुनिक नाट्यशास्त्रियों का भी स्पष्ट मत है कि सन्धि घटनाओं का मिलन-विन्दु है और साथ ही मिलने वाले (कथा) खण्डों को सन्धि कहा जाता है । प्रो० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य ने कहा है—

The word Sandhi in Sanskrit dramaturgy denotes both linking up of the parts and the parts themselves.[3]

अवस्था से कार्य-व्यापार का बोध होता है । नायकादि के कृतित्व और चारित्रिक उत्कर्ष का ज्ञान कार्यावस्थाओं से व्यंग्य है । सन्धियों के द्वारा कवि के कृतित्व का बोध होता है । किसी अवस्था के कार्य-व्यापार को कितने रंजक ढंग से वह प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत करता है—यह सन्धियों के विन्यास से प्रकट होता है, प्रत्येक

---

१. सन्धयो ह्यवस्था-परतन्त्रा । प्रारम्भाभिधान-दशाविशेषोपयोगि-कथाखण्डलकं मुख सन्धिरित्युक्तम् । ना० शा० १९.१०५ पर भारती ।

२. तेनार्थावयवाः सन्धीयमानाः परस्परमङ्गैश्च सन्धय इति । ना० शा० १९.३७ पर अभिनव भारती ।

३. नाटक लक्षण-रत्नकोश पृष्ठ ५०

सन्धि में बहुत से अङ्ग होते हैं, जो कथांशों की वर्णना इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि उनके अभिनय से सभ्यों का अधिकाधिक मनोरञ्जन हो ।[१]

दशरूपक में वस्तुतः सन्धि की परिभाषा में उसका धात्वर्थ मात्र बताया गया है कि सन्धि सम्बन्ध या जोड़ने की प्रक्रिया है । इस परिभाषा में यह संकेत नहीं मिलता कि सन्धि अर्थराशि है अथवा कथाखण्ड है। आगे चल कर धनञ्जय ने भी सन्धि को वृत्तखण्ड माना है ।[२]

आगे सन्ध्यङ्गों की चर्चा है । सन्ध्यङ्गों का एक प्रमुख लक्षण है कि वे ही संवादांश सन्ध्यङ्ग होंगे, जो साक्षात् ही बीज और फल के अनुवर्ती हैं और कार्यावस्था-परक नायक के व्यापार को बताते हैं । किसी की कोरी प्रशंसा, वर्णन या उत्कर्ष-व्याख्या सन्ध्यङ्ग नहीं हो सकती । ऐसे वक्तव्य वीथ्यङ्ग, नाट्यालंकार, सन्ध्यन्तर आदि कोटि में आ सकते हैं ।

के पुनस्ते संधयः

२४. मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।

वे सन्धियाँ क्या हैं ?—

२४. मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहार (निर्वहण) । ये पाँच सन्धिय के नाम हैं ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थ-रससम्भवा ।।२४

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसंधिरिति व्याख्येयम् । तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति ।

बीज की उत्पत्ति मुखसन्धि है । यह अनेक अर्थ और रस का उत्पत्ति-स्थान है । २४

(मुख्य और प्रासंगिक) बीजों की उत्पत्ति मुख-सन्धि है, जो बहुविध प्रयोजन (धर्मार्थकाम—त्रिवर्ग) और रस का हेतु है । ऐसी व्याख्या होनी चाहिए । इसके अनुसार जिस प्रहसनादि में त्रिवर्ग फल नहीं होता, वहाँ रसोत्पत्ति का हेतु होना मात्र बीजत्व है ।

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है सन्धियों के अङ्गों के प्रयोजन—
इष्टार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ।। दश० १.५५

२. दशरूपक ३.२६

२५. अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भ-समन्वयात ।

अस्य च वीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति । तान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।।२५

२६. उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।

उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ।।२६

एतेषां स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते—

२५. बीज और आरम्भ (अवस्था) से युक्त इसके १२ अङ्ग हैं—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद और करण । २६

अपने नाम मात्र से स्पष्ट होने पर भी सुबोध के लिए इनके लक्षण हैं ।

नान्दी टीका

मुखसन्धि के १२ अङ्ग होते हैं, जिनमें वीज नामक अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक अवस्था से सम्बद्ध वातें कही जाती हैं । बीज की चर्चा इस प्रकार की जाती है कि वह अनेक घटनाओं और रसों का स्रोत हो ।

२७. बीजन्यास उपक्षेपः

यथा रत्नावल्याम्—(नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ।। १.७

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेपः ।

२७. बीज डालना उपक्षेप है ।

उदाहरण—रत्नावली में नेपथ्य से कहा गया है—'अन्य द्वीप से भी, समुद्र के भीतर से भी, दिशाओं के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को झट लाकर अनुकूल दैव प्रस्तुत कर देता है ।

इसमें यौगन्धरायण अपने उस कार्य-व्यापार को बीज-रूप में सामने रख देता है, जिसमें दैव अनुकूल है और जिसके द्वारा वत्सराज को रत्नावली मिलेगी ।

नान्दी टीका

भरत ने उपक्षेप की स्पष्ट परिभाषा दी है कि इतिवृत्त का प्रथम चरण

उपक्षेप है।[1] दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नाट्यकथा का फलानुवर्ती प्रथम वक्तव्य उपक्षेप है।

अभिनवगुप्त ने बताया है कि उपक्षेप में रूपक के प्रधान (अङ्गी) रस का संकेत भी होना ही चाहिए।

—तद्बाहुल्यं परिक्रिया।

यथा तत्रैव—'अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम्।' इत्यादिना 'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः।' इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकरः।

परिकर—बीज की वृद्धि परिकर है।

जैसे रत्नावली में ही (यौगन्धरायण आगे कहता है) "यदि ऐसा न होता तो दैवज्ञों के फलादेश के विश्वास से (स्वामी के लिए) माँगी हुई सिंहलनरेश की कन्या के द्वारा समुद्र में नौका डूबने पर बच निकलने पर नौका की पटिया कैसे पकड़ ली जाती।" इत्यादि कहकर वह पुनः कहता है—"सब प्रकार से अभ्युदय स्वामी को प्राप्त हो रहे हैं।" यहाँ तक बीजोत्पत्ति बढ़ाया गया है। अतः यही परिकर है।

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त के अनुसार परिकर में बातें फल की ओर कुछ आगे बढ़ती हैं। परिकर का प्रयोजन है इष्ट अर्थ की रचना।

परिन्यासमाह

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः----

यथा तत्रैव—

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तुः॥

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारस्य दैवयोगात् निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः।

परिन्यास—बीज की निष्पत्ति (सफलता) परिन्यास है।

उदाहरण—रत्नावली में यौगन्धरायण कहता है—"यह मेरा कार्य स्वामी की उन्नति का कारण है। इसमें भाग्य ने भी इस प्रकार सहायता की है। अब यद्यपि यह सत्य है कि सफलता में सन्देह नहीं रहा, पर मैंने इसे स्वेच्छा से किया है। अतएव स्वामी से डर लगता है।"

---

१. काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः।१९·६९
इस प्रसङ्ग में काव्यार्थ है इतिवृत्त-शरीर और उपक्षेप है प्रथमपद।

इस प्रकार यौगन्धरायण ने दैवयोग से अपने व्यापार को सफलता बताई है—यह परिन्यास है।

नान्दी टीका

परिन्यास की परिभाषा में निष्पत्ति है—हृदय में बैठाना कि फल मिलकर रहेगा। बीज और परिकर में जो फलानुवर्ती प्रवृत्तियाँ बताई जाती हैं, उन्हें परिन्यास में दृढ़तापूर्वक प्रेक्षकों के मन में वास्तविकता के रूप में पक्का कर दिया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार परिन्यास की व्याख्या है—परितः हृदये सः (काव्य-) अर्थं उपन्यस्यते।

—गुणाख्यानाद् विलोभनम् ॥२७

यथा रत्नावल्याम्—

'अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा—
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन्।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥'

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुरागबीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति।

यथा च वेणीसंहारे—

'मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥'

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभिः' इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति।

विलोभन—गुण की वर्णना से विलोभन होता है।२७

जैसे रत्नावली में—"इस समय जब सूर्य अस्ताचल पर अपनी समस्त किरणें डालकर आकाश के पार जा चुका है, तब सायंकाल में एक साथ सभी राजा लोग सभामण्डप में एकत्र हो रहे हैं। इस समय यह राजलोक कमलों की कान्ति को चुराने वाले तुम्हारे उन चरणों की सेवा करने के लिए प्रतीक्षा कर रहा है, जो उनके नेत्रों के लिए प्रीति और उत्कर्ष के जनक हैं; जैसे, वे चन्द्रमा की उन किरणों की ओर देख रहे हों, जो कमलों की कान्ति हरते हैं तथा नेत्रों को प्रीति और उत्कर्ष देते हैं।"

इस प्रकार वैतालिक (चारण) के मुख से चन्द्रमा के तुल्य वत्सराज के गुणों का

वर्णन है। इसके द्वारा सागरिका के समागम के कारण अनुराग बीज के अनुरूप विलोभन प्रस्तुत किया गया है। अतएव यह विलोभन है।

और जैसे वेणीसंहार में "जो मन्थन से चलायमान समुद्र के जल से भरी हुई कन्दराओं वाले घूमते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, कोणाघात होने पर गरजते हुए प्रलयकालिक मेघों की घटाओं के परस्पर संघर्षणयुक्त गड़गड़ाहट के समान प्रचण्ड, द्रौपदी के क्रोध का सूचक कुरुकुल के सर्वनाश के उत्पात की आँधी और हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के तुल्य यह नगाड़ा किसके द्वारा बजाया जा रहा है ?"

यहाँ से लेकर "यशोदुन्दुभि" तक के कथन द्वारा द्रौपदी का विलोभन हो रहा रहा है।

नान्दी टीका

विलोभन परिभाषानुसार गुणवर्णना से उत्पन्न होता है। प्रश्न है किस के गुण की वर्णना हो ? अभिनवगुप्त ने बताया है कि काव्यार्थ के गुणों का आख्यान होना चाहिए।

अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार धनिक के द्वारा प्रस्तुत दोनों उदाहरण समीचीन नहीं हैं, क्योंकि उनमें काव्यार्थ के गुणों की वर्णना का अभाव है।

२८. संप्रधारणमर्थानां युक्तिः

यथा रत्नावल्याम्—'मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमान निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम्। श्रुतं च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतेन रुमण्वता घटितः।' इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणाद्युक्तिरिति।

२८. युक्ति—पहले के अर्थ (कृतित्व) की संग्रहात्मक चर्चा युक्ति है।

उदाहरण—रत्नावली में यौगन्धरायण कहता है—

"मैंने भी देवी के हाथ में सम्मानपूर्वक इस सागरिका को सौंपते हुए ठीक ही किया है। मैंने सुना भी है कि बाभ्रव्य कञ्चुकी सिंहलेश्वर के मन्त्री वसुभूति के साथ किसी प्रकार समुद्र से बचकर, कोसल के विनाश के लिए गये हुए रुमण्वान् से जा मिला है।"

इस प्रकार अन्तःपुर में स्थित सागरिका द्वारा सुखपूर्वक वत्सराज के दर्शनादि का प्रयोजन सुनिश्चित किया गया है तथा बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर के मन्त्री अपने नायक (वत्सराज) के समागम के कारण हैं। यह भी प्रयोजन रूप से निर्धारित किया गया है। अतः "युक्ति" नामक अङ्ग है, जिसमें पहले के अनेक कामों का एकत्र फलोन्मुख वर्णन है।

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त के अनुसार युक्ति की परिभाषा में अर्थ भूतकालीन उपलब्धियाँ हैं। उन्हीं को वताया जाता है और उन पर विचार किया जाता है। इसका प्रयोजन है प्रकाश्य-प्रकाशन।

प्राप्तिः सुखागमः

यथा वेणीसंहारे— 'चेटी—भट्टिणि! परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीयदि (भट्टिनि, परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते।) इत्युपक्रमे भीमः

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥१.१५

द्रौपदी—[श्रुत्वा सहर्षम्] 'णाध अस्सुदपुव्वं एदं वअणं। ता पुणो पुणो भण।'

(नाथ! अश्रुतपूर्वं खल्वेतद्वचनम्। तत्पुनः पुनर्भण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वये नैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—[श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती] कधं अअं सो राआ उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा। ता परप्पेसणदूसिदं मे जीविदं एतस्स दंसणेण वहुमद संजादम्।' [कथमयं स राजोदयनो यस्मा अहं तातेन दत्ता। तत्परप्रेषणदूषितमपि मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्] इति सागरिकायाः सुखागमात् प्राप्तिरिति।

प्राप्ति—सुख की प्राप्ति होना प्राप्ति है।

जैसे वेणीसंहार में चेटी कहती है—"स्वामिनि, कुमार कुपित से जान पड़ते हैं।" इस उपक्रम में भीम कहते हैं—

"मैं युद्ध में सौ कौरवों को अपने कोप से रगड़ न दूँ? मैं दुःशासन के वक्ष से रुधिर न पी डालूँ? मैं दुर्योधन की जाँघों को गदा से तोड़ न डालूँ? (इसके विपरीत) आपके राजा (युधिष्ठिर) पणपूर्वक (दुर्योधन से) सन्धि करें?"

इसे सुनकर द्रौपदी सहर्ष कहती है—"नाथ यह वचन पहले कभी नहीं सुना गया, वारंवार कहें।" इसमें भीम के क्रोध-रूप बीज का सामञ्जस्य है, जिससे द्रौपदी को सुख मिला है। अतएव प्राप्ति है।

और जैसे रत्नावली में सागरिका (उदयन का परिचय) सुनकर सहर्ष मुड़कर लालसापूर्वक देखती हुई कहती है—"क्या यही वह राजा उदयन है, जिन्हें मैं पिता द्वारा दी जा चुकी हूँ? दूसरों की सेवावृत्ति से दूषित होने पर भी मेरा जीवन इसके दर्शन से वहुमूल्य हो गया।" यहाँ सागरिका को सुख प्राप्त हुआ। यही प्राप्ति है।

प्राप्ति सुखागम है। किसका सुखागम? अभिनवगुप्त के अनुसार किसी नायक का सुखागम प्राप्ति है।

बीजागमः समाधानम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—तेण हि उअणेहि मे पूजाणिमित्ताइं उवअरणाइं। [तेन ह्युपनय में पूजानिमित्तानि उपकरणानि।'] सागरिका—भट्टिणि एदं सव्वं सज्जम्। ['भट्टिनि! एतत्सर्वं सज्जम्!'] वासवदत्ता—[निरूप्यात्मगतम्] अहो पमादो परिअणस्स। जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि, तस्स ज्जेव कहं दिट्ठिगोअरं आअदा। भोदु एव्वं दाव। [प्रकाशम्] हञ्जे सागरिए कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिअं मोत्तूण इहागदा। ता तहिं ज्जेव गच्छ।' ['अहो प्रमादः परिजनस्य। यस्यैव दर्शन-पथात् प्रयत्नेन रक्ष्यते, तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता। भवतु एवं तावत्। चेटि सागरिके! कथं त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वेहागता। तत्तत्रैव गच्छ।') इत्युपक्रमे 'सागरिका—(स्वगतम्) 'सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा। पेक्खिदुं च मे कूतूहलं। ता अलक्खिआ पेक्खिस्सं।' (सारिका तावन्मया सुसंगताया हस्ते समर्पिता। प्रेक्षितुं च मे कूतूहलम्। तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये।' इत्यन्तेन वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात्सारिकायाः सुसङ्गताया हस्ते समर्पणेनालक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—भवतु पाञ्चालराजतनये, श्रूयतामचिरेणैव कालेन

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥'

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम्।

बीज में जो बात कही गई, उसी को फिर कहना समाधान है।

जैसे रत्नावली में—

'वासवदत्ता—तो फिर मेरे पूजानिमित्त उपकरण ले आ।

सागरिका—स्वामिनि, यह सब तैयार है।

वासवदत्ता—(देखभाल कर, मन में) अरे, सेवकजन की असावधानी है। जिसके दृष्टिपथ से प्रयत्नपूर्वक (सागरिका) बचाई जा रही है, कैसे उसी को दृष्टिगोचर हो

गई ? अच्छा, ऐसा करूँ ! (प्रकाश में) अरी सागरिके, कैसे आज मदनोत्सव में परिजन के लगे होने पर मैना को छोड़कर तू यहाँ आ गई ? तुम तो वहीं जाओ ।"

यहाँ से लेकर सागरिका—(स्वगत) "मैना तो मैंने सुसंगता के हाथ में सौंप दी थी । (उत्सव) देखने का मुझे कौतूहल है । अच्छा, अलक्षित रहकर देखूँगी ।" यहाँ तक वासवदत्ता ने रत्नावली और उदयन के परस्परावलोकन का प्रतीकार किया, परन्तु (सागरिका के द्वारा) सुसंगता के हाथ में मैना को सौंपने और अलक्षित होकर उत्सव देखने से समागम के बीज का उपादान हो जाता है । अतः यह समाधान है, क्योंकि बीजात्मक चर्चा पुनः की गई है ।

और जैसे वेणीसंहार में भीम कहते हैं—

"अच्छा, पाञ्चालराजपुत्रि, सुनिए ! थोड़े ही समय में—

हे देवि, फड़कते हुए भुजा से घुमाई हुई गदा के प्रहार से चकनाचूर हुए ऊरु-युगल वाले सुयोधन के जमे हुए थक्का बने सघन रक्त से लाल-लाल हाथों वाला भीम तुम्हारे केशों का शृंगार करेगा ।"

इसमें वेणी-संहरण के हेतुभूत क्रोधबीज को पुनः कहा गया है । यही 'समाधान' है ।

नान्दी टीका

समाधान में कथाबीज के प्रसंग में कुछ ऐसी बातें कही जाती हैं, जिनसे प्रधान नायक साक्षात् फलानुवर्ती प्रवृत्ति से सम्पृक्त प्रतीत होने लगता है । यह अभिनव-गुप्त के मत का सारांश है ।

—विधानं सुखदुःखकृत् ।। २८

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—माधवः

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ।। १.३२

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव—
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय—
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ।। १.२२

इत्यनेन च मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुखदुःख-कारित्वाद्विधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'द्रौपदी—णाध पुणोवि तुम्हेहि अहं आअच्छिअ

समासासिदव्वा। ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या।') भीमः—'ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया।'

'भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम्॥' १.२६

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्विधानमिति।

विधान—सुख और दुःख दोनों को साथ ही उत्पन्न करने वाली चर्चा विधान है।

जैसे, मालतीमाधव के प्रथम अंक में माधव कहता है—

"जब वह वारंवार गरदन मोड़कर (मेरी ओर देखती हुई) जा रही थी, तब उसका वह मुख उस विकसित कमल के समान था, जिसकी भेंटी मुड़ी हुई हो। उस मुख पर धारण की हुई पलक-रोमों से सम्पन्न नेत्रों वाली उस सुन्दरी ने अमृत और विष से बुझे कटाक्ष को मेरे हृदय में मानों गहरा चुभा दिया था।"

"उस सुन्दरी के समीप में जो हृदय विस्मय से निश्चल था, जिसके अन्य (प्रणय से भिन्न) भाव अस्त हो गये थे, मानों अमृत में स्नान करके आनन्द से मन्थर हो रहा था, वह मेरा हृदय अब (उसके विरह में) इस प्रकार व्यथित हो रहा है, जैसे अङ्गार ने छू लिया हो।"

यहाँ समागम का कारण मालती का देखना और अनुराग है, जो बीज के अनुरूप है और माधव के लिए सुखकर और दुःखकर है। अतः विधान नाम का अङ्ग है।

और—जैसे वेणीसंहार में द्रौपदी कहती हैं—"नाथ, फिर भी तुम्हें ही आकर मुझे आश्वासित करना होगा।" तब भीम कहते हैं—"हे द्रौपदी, अब मिथ्या आश्वासन व्यर्थ है—

अपमान की ग्लानि की लज्जा से पीडित मुख वाले वृकोदर को कौरवनाश किये विना आया हुआ न देखोगी।

युद्ध के सुख और दुःख का कारण होने से यह मुखसन्धि का 'विधान' अङ्ग है।

नान्दी टीका

विधान नामक सन्ध्यङ्ग में किसी भाव को छिपाने से इष्टार्थ-रचना नामक प्रयोजन सिद्ध होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार यह सन्ध्यङ्ग अन्य सन्धियों में भी आता है।[1]

---

१. ना० शा० १९.७४ पर अभिनवभारती।

परिभावोऽद्भुतावेश:

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छदि। ता अहंपि इध ट्ठिदा ज्जेव णं पूजइस्सं। ('कथं प्रत्यक्ष एवानङ्ग पूजां प्रतीच्छति। तत् अहमपीह स्थितैवैनं पूजयिष्यामि।') इत्यनेग वत्सराज्स्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वाददद्भुतरसावेशः परिभावना।

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—किं दाणि एसो पलअजलधरत्थणिदमंसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि।' [किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसल: क्षणेक्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते'] इतिलोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्याः परिभावना।

परिभावना—अद्भुत (घटना का) समावेश परिभाव है।

जैसे रत्नावली में (सविस्मय देखकर) सागरिका कहती है—

"क्या प्रत्यक्ष भगवान् कामदेव पूजा ग्रहण कर रहा है? तब तो मैं भी यहाँ ही रह कर इसकी पूजा करूँगी।"

इस प्रकार काम के रूप में वत्सराज को छायापन्न करके प्रत्यक्ष अनङ्ग का पूजाग्रहण वर्णित है। यहाँ लोकोत्तर होने के कारण अद्भुत रस का समावेश 'परिभावना' है। और

जैसे वेणीसंहार में द्रौपदी कहती है "प्रलयमेघ के गर्जन के समान घोर रणदुन्दुभि इस समय क्षण-क्षण पर क्यों बजाई जा रही है?"

युद्ध के नगाड़े की ध्वनि लोकोत्तर है, जिससे अद्भुत रस का आवेश होने से परिभावना है।

—उद्भेदो गूढभेदन्।

यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः। यथा च वेणीसंहारे—'आर्य किमिदानीमध्यवस्यति गुरुः।' इत्युपक्रमे [नेपथ्ये]

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवतां शान्तिं कुलस्येच्छता।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपवधूकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते॥१.२४

भीमः—(सहर्षम्) जृम्भतां जृम्भतां संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः।' इत्यन्तेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसंयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्भेदात् उद्भेदः।

उद्भेद—रहस्य का प्रगट हो जाना उद्भेद है।

जैसे रत्नावली में वत्सराज कामदेव के नाम से छायापन्न है। वैतालिक के 'अस्तापास्त' इत्यादि वचन से बीज के अनुरूप ही उद्घाटन होता है। अतः उद्भेद है। अथवा जैसे वेणीसंहार में—"आर्य, इस समय गुरु क्या कार्यक्रम निश्चय कर रहे हैं ?"

यहाँ से आरम्भ करके (नेपथ्य से)। "सत्यव्रत के भङ्ग होने से भीरु चित्त वाले (युधिष्ठिर ने) प्रयासपूर्वक जिस अग्नि को मन्द कर दिया था, कुल को शान्ति चाहते हुए शान्तिशील (युधिष्ठिर) ने जिसे भुला भी देना चाहा था, वही द्यूतरूपी मन्थनदारु से जनित युधिष्ठिर की क्रोध-रूपी महती अग्निज्वाला कौरवों के वन में राजवधू (द्रौपदी) के केश और वस्त्र के खींचने के कारण धधक उठी है।"

यह सुनकर भीम हर्ष के साथ कहते हैं—"आर्य की क्रोधज्योति सचमुच बेरोक बढ़ती रहे।" यहाँ तक छिपे हुए युधिष्ठिर के क्रोधबीज के प्रगट होने से उद्भेद है। यह क्रोधबीज द्रौपदी के केशसंयमन का कारण है।

नान्दी टीका

उद्भेद नामक सन्ध्यङ्ग की परिभाषा धनञ्जय ने भरत के नाट्यशास्त्र से नहीं ली। भरत के अनुसार बीज-सम्बन्धी घटना का थोड़ा विकास उद्भेद है। धनञ्जय उद्भेद में किसी अज्ञात या रहस्यात्मक तथ्य का प्रकाशित होना आवश्यक बताते हैं।

करणं प्रकृतारम्भः—

सागरिका यथा रत्नावल्याम्—'णमो दे कुसुमाउह। ता अमोहदंसणो मे भविस्ससि त्ति। दिट्ठं जं पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि मं पेक्खइ ताव गमिस्सं।' (नमस्ते कुसुमायुध, तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति। दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यम्। तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते, तावद्गमिष्यामि) इत्यनेनान्तराङ्कप्रकृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम्।

यथा च वेणीसंहारे—'तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय इति। सहदेवः—आर्य ! गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञातां विक्रमानुरूपमाचरितुम्।' इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात् करणमिति। सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्यं क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति।

करण—जो काम हाथ में लिया है, उसे करने लगना करण है।

उदाहरण—रत्नावली में सागरिका कहती है—"हे कामदेव, तुम्हें प्रणाम है। मेरे लिए तुम्हारा दर्शन सफल हो। जो देखना था, मैं देख चुकी। अतः जब तक कोई देख न ले, तब तक ही चली जाऊँ।" इस प्रकार अगले अङ्क में वर्णित निर्विघ्न दर्शन की घटना का आरम्भ होने से करण है।

और जैसे वेणीसंहार में भीम कहते हैं—"हे द्रौपदि, अब हम कुरुकुल के विनाश के लिए जा रहे हैं।" तब सहदेव कहते हैं—"आर्य, अब गुरुजन की अनुमति प्राप्त कर अपने पराक्रम के अनुरूप कार्य करने के लिए हम चल रहे हैं।" इससे अगले अङ्क में प्रस्तुत किए हुए युद्ध की घटना का आरम्भ होने से यह 'करण' है। इस वाक्य में उद्देश्य और विधेय का क्रम नहीं है, क्योंकि कौन क्रिया पहले हुई और कौन पीछे—यह बतलाना कवि का अभीष्ट नहीं है।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय दोनों की करण की परिभाषा से उसका कार्यपरक होना प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में उसे मुखसन्धि में नहीं रखा जाना चाहिए था, क्योंकि इसमें तो औत्सुक्य-मात्र की चर्चा होनी चाहिए, किसी कार्य की नहीं। करण के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि यह भावी कार्य-प्रवृत्ति का निश्चय मात्र है।

—भेदः प्रोत्साहना मता ॥२८

यथा वेणीसंहारे—'णाध ! मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणपेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध। जदो अप्पमत्तसंचरणीयाइं सुणीयन्ति रिउवलाइं। ['नाथ ! मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि।'] भीमः—अयि सुक्षत्रिये !

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥'

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि। एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यंभावितेति।

भेद—नायक को प्रोत्साहित करना भेद है॥ २८

जैसे वेणीसंहार में रत्नावली कहती है—"नाथ, द्रौपदी के अपमान से उद्दीपित क्रोध से आप शरीर के प्रति असावधान होकर न प्रयाण करें। शत्रु-सेनाओं के मध्य सावधान होकर विचरण करना चाहिए—ऐसा सुना जाता है।" भीम—"हे उत्तम क्षत्रिये, जिस संग्राम-सागर में परस्पर लड़ने से हाथी के अंग कट-पिट जाते हैं, उनके

रक्त, चर्वी और सघन मस्तिष्क (खोपड़ी के गूदे) से कीचड़ बन जाता है, जिस संग्राम-सागर में डूबे हुए रथों के ऊपर पैर रखकर पैदल सैनिक लांघते हुए डग भरते हैं और जिस संग्राम-सागर में विस्तृत रक्तपान करके अमङ्गलयुक्त सियारिने गोष्ठी में हुँआस भरती हैं और कटे हुए शरीरों के धड़ नाचते हैं—ऐसे संग्राम-रूपी-सागर के जल के भीतर विचरण करने में एकमात्र पाण्डव लोग दक्ष हैं।"

इस प्रकार चिन्तित द्रौपदी का क्रोध और उत्साह वोज के अनुकूल प्रोत्साहन होने से 'भेद' नाम का मुखसन्धि का अङ्ग है।

ये बारह मुखसन्धि के अङ्ग बीज के आरम्भ के सूचक हैं। इन्हें साक्षात् या परम्परा से रूपकों में योजित करना चाहिए। इनमें उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान अवश्य होने चाहिए।

नान्दी टीका

भरत के अनुसार भेद में कथापुरुष परस्पर अलग-अलग कर दिये जाते हैं। उन्होंने इसकी परिभाषा दी है—

संघातभेदनार्थो भेदः

अर्थात् मिले-जुले लोगों में फूट डालने की घटना का वर्णन भेद है। इसमें औत्सुक्य न होने के कारण इसे मुखसन्धि का अंग मानना उचित नहीं।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह—

३०. लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥३०

तस्य बीजस्य किंचिल्लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः—प्रकाशनं तत्प्रतिमुखम्। यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसंधिरिति।

वेणीसंहारेऽपि द्वितीऽयेङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्ष्यस्य कर्णाद्यवधाच्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः।

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥ २.५

इत्यादिभिः—

'दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे।

तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥' २.२८

इत्येवमादिभिश्च बलवतां पाण्डवानां वासुदेवसहायानां संग्राम-लक्षण-स्योद्भेदः प्रतिमुखसंधिरिति ।

अब अङ्गसहित प्रतिमुखसन्धि का विवरण है—

३०. बीज का आगे विकसित होना प्रतिमुख सन्धि है, जब विकास कहीं तो स्पष्ट होता है और कहीं अदृश्य होता है। इसमें बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और प्रयत्न नामक कार्यावस्था होती है, जिनको लेकर १३ सन्ध्यंग होते हैं।

उस बीज का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप से विकास होना प्रतिमुख सन्धि है। जैसे रत्नावली के प्रथम अंक में वत्सराज और सागरिका के समागम का कारण अनुराग-बीज आता है। दूसरे अंक में उस बीज को सुसंगता और विदूषक जानते हैं। अत: उसका कुछ-कुछ विकास लक्षित है, परन्तु चित्रफलक के वृत्तान्त से वासवदत्ता द्वारा विकास पथ से भ्रष्ट, थोड़ा उन्नीयमान (led astray) होता है। इस प्रकार बीज के विकास के दृश्यादृश्य रहने से प्रतिमुख सन्धि है।

इसी प्रकार वेणीसंहार के दूसरे अंक में क्रोध बीज का विकास भीष्मादि के वध से कुछ लक्ष्य होता है, किन्तु कर्णादि का वध न होने से अलक्ष्य रहता है। वहाँ लक्ष्या-लक्ष्य रूप में बीज का प्रकटीकरण होने से प्रतिमुख सन्धि है। यह विकासात्मक प्रकटीकरण दो श्लोकों में देखा जा सकता है—

"भृत्यों, बान्धवों, मित्रों, पुत्रों और अनुजों के सहित दुर्योधन को शीघ्र ही पाण्डुपुत्र अपनी शक्ति से युद्ध में विनष्ट करने वाला है।" इत्यादि से तथा दुर्योधन के वक्तव्य से—

"दु:शासन के हृदय के रुधिरजल के पीने के विषय में और गदा से दुर्योधन के उरुभंग के विषय में जैसी प्रतिज्ञा है, वैसी ही रणक्षेत्र में जयद्रथ के वध के विषय में भी तेजस्वी पाण्डवों की प्रतिज्ञा जाननी चाहिए।" इत्यादि से कृष्ण से सहायता प्राप्त बलवान् पाण्डवों का युद्ध में प्रकट होने वाले बिन्दुरूपी बीज का विकासात्मक प्रकटी-करण प्रतिमुख सन्धि का कथावयव है।

नान्दी टीका

मुखसन्धि में औत्सुक्य-परक प्रवृत्तियाँ होती हैं। प्रतिमुख में उनका उद्भेद (विकास) कभी प्रत्यक्ष दिखाई देता है और कभी नहीं दिखाई देता। इसी विशेषता को भरत ने स्पष्ट किया है—

बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित्।
मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम् ॥

मुख सन्धि में यत्नावस्था की कथा होती है। यत्नावस्था में फल प्राप्ति की दिशा में ठोस उपक्रम के साथ फल प्राप्ति की सघन उत्सुकता वर्णनीय रहती है।

धनञ्जय ने इसमें बिन्दु का अनुसरण आवश्यक बताया है। यह भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः बिन्दु सभी सन्धियों की पूर्वभूमिका सूत्ररूप में प्रस्तुत करता है। इसे केवल प्रतिमुख सन्धि में ही क्यों सीमित किया जाय ?

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह—

३१. विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ।। ३१

३२. वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

रत्यर्थेहा विलासः स्याद्—

यथा रत्नावल्याम् 'सागरिका—हिअअ पसीद-पसीद। किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण। ('हृदय, प्रसीद प्रसीद! किमनेनायासमात्रफलेनदुर्लभजन प्रार्थनानुबन्धेन।' इत्युपक्रम्य 'तहावि आलेक्खगदं त जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्स णत्थि अण्णो दंसणोवाओत्ति।'('तथाप्यालेखगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि। तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपायः।' इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति।

इस सन्धि में पूर्व अंक में निक्षिप्त बिन्दुरूप बीज और प्रयत्नरूप कार्य से अन्वित तेरह अङ्ग होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

३१-३२ विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास, वर्णसंहार (प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग हैं।)

नाम क्रम से इनके लक्षण हैं—

विलास—विलास नामक सन्ध्यङ्ग कामोपभोग की इच्छा है।

जैसे रत्नावली में सागरिका कहती है—"हृदय, तू प्रसन्न हो जा। दुर्लभ जन की इच्छा के आग्रह से क्या होने वाला है? इससे तो आयास ही हाथ लगेगा।" इस उपक्रम में आगे वह कहती है—"तथापि उस (प्रिय) जन को चित्रगत करके इच्छा पूरी कर लूंगी। उसके दर्शन का अन्य उपाय नहीं है।" इस प्रकार वत्सराज के समागम से जो तृप्ति (रति) चित्रादि से भी होने वाली है, उसके उद्देश्य से सागरिका की चेष्टा ऐसा प्रयत्न है, जो अनुरागरूप बीज से सम्बद्ध है। अतः विलास नामक सन्ध्यङ्ग है।

नान्दी टीका

विलास औत्सुक्य-परक होता है। इसकी परिभाषा में रति का जो समावेश है, अभिनवगुप्त के अनुसार वह केवल शृंगारात्मक रूपकों तक ही सीमित रहेगा। अन्य-रसप्रधान रूपकों में रति से अन्य रसों के स्थायी भाव उत्साह, विस्मय आदि ग्रहण करना चाहिए।[1]

दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥३२

यथा वेणीसंहारे 'कंचुकी—योऽयमुद्यतेषु वलवत्सु, अथवा किं वलवत्सु, वासुदेवसहायेष्वरिष्वद्याप्यन्तःपुरसुखमनुभवति। इदमपरमयथातथं स्वामिनश्चेष्टितम्—

'आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने—
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥२. २

इत्यनेन भीष्मादिवधेन दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य वलवतां पाण्डवानां वासुदेवसहायानां सङ्ग्रामलक्षणविन्दुरूपबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति।

यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य 'क्वासौ क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात् परिसर्प इति।

परिसर्प—बीज के दिखाई देकर अदृश्य होने पर उसके पीछे पड़ना परिसर्प है।

जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी का कथन है—"जब बलवान् शत्रु, अथवा बलवान् क्या? कृष्ण जिनके सहायक हैं, वे शत्रु रणोद्यत हैं, तब भी राजा अन्तःपुर का सुख ले रहा है। यह और भी स्वामी का अयोग्य व्यापार है कि जब से शस्त्रग्रहण किया, तब से जिसका परशु कहीं प्रतिहत न हुआ, ऐसे परशुराम मुनि के भी विजेता भीष्म को पाण्डवों ने बाणों से सुला दिया। दुर्योधन को यह भी सन्तापकर नहीं लगता। इसके विपरीत उस बालक अभिमन्यु के वध से राजा सन्तुष्ट हो रहा है, जो अनेक अनुभवी धनुर्धर शत्रुओं को विजय करके थक गया था, जो अकेला था और जिसके धनुष को शत्रुओं ने काट दिया था।" इस प्रकार भीष्म आदि के वध से बीज दृष्ट है और अभिमन्यु के वध से नष्ट है तथा वासुदेव की सहायता प्राप्त कर बलवान् पाण्डवों का संग्राम बिन्दु है, जिसमें प्रयत्न का योग है। कञ्चुकी के मुख से बीजानुसरण होने से 'परिसर्प' है।

---

१. इह च रतिग्रहणं पुमर्थोपयोगि, रसगत-स्थायिभावोपलक्षणं तेन वीरप्रधानेषु रूपकेषु प्रतिमुख एव ह्यास्था रतिरूपेणोत्साहः।

और जैसे रत्नावली में सागरिका के कथन और चित्र दर्शन से अनुरागबीज दृश्यादृश्य रहता है। "वह वासवदत्ता कहाँ है, वह कहाँ है" इत्यादि कहते हुए वत्सराज बीजानुसरण करते हैं। अतः 'परिसर्प' है।

नान्दी टीका

परिसर्प नामक सन्ध्यङ्ग में नायक की अभीष्ट-प्राप्ति के उपक्रम की तीन अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं—(१) कार्यपद्धति स्पष्ट प्रकट रहती है (२) फिर कार्यपद्धति नष्ट हो जाती है अर्थात् नहीं दिखाई देती तथा (३) अन्त में कार्य-पद्धति पुनः सफलता की ओर प्रवर्तित होती हुई दिखाई देती है। इसमें एक के बाद दूसरी-तीसरी कार्य-स्थिति के निदर्शन से कवि चमत्कार प्रकट करता है।

३३. विधूतं स्यादरतिः

यथा रत्नावल्याम् 'सागरिका—सहि अहिअं मे संतावो बाधेदि। ('सखि! अधिकं मे संतापो बाधते।') (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्गे ददाति) सागरिका (तानि क्षिपन्ती) सहि! अवणेहि एदाइं। किं अआरणे अत्ताणं आयासेसि। णं भणामि—('सखि! अपनयैतानि किमकारण मात्मानमायासयसि। ननु भणामि—)

'दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम्॥' २.१
(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्'॥)

इत्यनेन सागरिकाया अनुरागबीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम्।

यथा च वेणीसंहारे भानुमत्या दुःस्वप्रदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया-चारतेर्विधूननमिति।

विधूत—अरति (रागमयी प्रवृत्तियों से मन का उचटना) विधूत है।

उदाहरण—रत्नावली में सागरिका कहती है—"हे सखि, मुझे सन्ताप अधिक दुःख दे रहा है।" इसे सुनकर सुसंगता बावली से कमलिनीपत्र और कमलनाल लाकर उसके शरीर पर रखती है। तब सागरिका उन्हें फेंकती हुई कहती है—"सखि, इन्हें हटा दे, क्यों वृथा अपने को कष्ट दे रही है? अरी मैं कहती हूँ—

ऐसे जन से मन लगा है, जो दुर्लभ है, लज्जा का भार अधिक है और आत्मा पराधीन है। हे प्यारी सखि, प्रेम बड़ा विषम है। अब तो एक मात्र मरना ही अन्तिम उपाय है।"

यहाँ सागरिका के अनुराग-बीज से सम्बन्धित शीतल उपचार की सामग्री का तिरस्कार करने से (अरति) विधूत हुआ।

और जैसे वेणीसंहार में भानुमती बुरा स्वप्न देखने से दुर्योधन के अनिष्ट की शंका करके और पाण्डवों की विजय की शंका से अरति करती है, जिससे 'विधूत' निष्पन्न है।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने विधूत की परिभाषा भरत के नाट्यशास्त्र से नहीं ग्रहण की है। धनञ्जय के अनुसार नायिका या नायक की प्रणय-पथ में बाधा के कारण खिन्नता अरति है, किन्तु भरत के अनुसार नायक का अनुनय नायिका पहले तो नहीं मानती, पर फिर स्वीकार कर लेती है।

—तच्छमः शमः

तस्या अरतेरुपशमः शमः। यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य! अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि।' इत्युपक्रमे'सागरिका—(आत्मगतम्) हिअअ! समस्सस। मणोरहो वि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो।' (हृदय! समाश्वसिहि। मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः। इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति।

शम—अरति को दूर करना शम है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा कहता है—"मित्र, उसने मेरा चित्र बनाया है। यदि यह सच है तो अपने ऊपर मेरा आदर बढ़ा है। तो क्यों चित्र न देखूं?" यहाँ से लेकर सागरिका—(स्वगत) "हे हृदय, धैर्य रखो, तेरा तो मनोरथ भी इतनो दूर नहीं गया था।" इस प्रकार अरति का कुछ शमन होने से 'शम' नामक सन्ध्यङ्ग है।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने विधूत के पश्चात् शम नामक सन्ध्यङ्ग बताया है। भरत के नाट्यशास्त्र में शम नहीं है। इसके स्थान पर तापन मिलता है, जिसकी परिभाषा दी गई है अपाय-दर्शन, अर्थात् बाधा दिखाई देना।

विश्वनाथ और सागरनन्दी ने शम के स्थान पर तापन रखा है। शारदातनय ने दशरूपक के अनुसार शम की परिभाषा दी है।

परिहासवचो नर्म

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि! जस्स किदे तुमं आअदा, सो अअं पुरदो चिठ्ठदि।' ('सखि! यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति') सागरिका—(सासूयम्) सुसङ्गदे! कस्स किदे अहं आअदा। ('सुसङ्गते! कस्य कृतेऽहमागता।) सुसङ्गता—अइ अप्पसंकिदे, णं चित्तफलअस्स। ता गेण्ह

एदम् । ('अयि आत्मशङ्किते', ननु चित्रफलकस्य । तद् गृहाणैतत् ।') इत्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म ।

यथा च वेणीसंहारे—'(दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्यै समर्पयति पुनः) भानुमती—(अर्घं दत्त्वा) हला ! उवणेहि मे कुसुमाइं, जाव अवराणं पि देवाण' सवरिअं णिवत्तेमि । ('हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि ।') (हस्तौ प्रसारयति । दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति । भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति ।') इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति ।

नर्म—परिहास की बातें नर्म हैं ।

उदाहरण—रत्नावली में सुसंगता की उक्ति है—"सखि, जिसके लिए तू आयी वही यह सामने स्थित है ।" तव सागरिका (असूयापूर्वक) कहती है—"मैं किसके लिए आई हूँ ?" सुसंगता का उत्तर है—"अरी, चित्रफलक के लिए (तू आई थी) । इसे ले ।" यहाँ बीज का अनुवर्तन करने वाली परिहासोक्ति होने से 'नर्म' है ।

और वेणीसंहार में जैसे दुर्योधन चेटी के हाथ से अर्घपात्र लेकर रानी को देता है और रानी भानुमती अर्घदान करके कहती है—"सखि, मुझे फूल दो, जिससे अन्य देवों की पूजा करूँ ।" वह हाथ फैलाती है और दुर्योधन फूल देता है । उसके स्पर्श से भानुमती को कम्प होता है, जिससे हाथ से फूल गिर जाते है । यह 'नर्म' है, जो दुःस्वप्न के दर्शन का शमन करने के लिए प्रयुक्त देवपूजा में विघ्न उत्पन्न करता है । उससे पाण्डव विजय का बीज उद्घाटित होता है । अतः इस परिहास को प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग मानना संगत है ।[1]

—धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ।।३३

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि अदिणिट्ठुरा दाणिं सि तुमं । जा एवं पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि । (सखि ! अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं, यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि ।) सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसङ्गदे ! दाणिं पि ण विरमसि ।' ('सुसङ्गते ! इदानी-

१. परिहास की बातें नर्म के लिए आवश्यक है । वेणीसंहार के उदाहरण मे परिहास के लिए बातें नहीं हैं, कार्य हैं । दशरूपक की लघुटीका के लेखक भट्टनृसिंह इसे सन्ध्यङ्ग नहीं मानते, क्योंकि—ननु बीजाद्यन्वितं खल्वङ्गं भवति । इह च युधिष्ठिरोत्साहो द्रौपदी-केशसंयमन-लक्षणस्य कार्यस्य बीजम् । न च भानुमती-दुःस्वप्न-शान्ति-परिकरपुष्पपातरूपस्य परिहासस्य बीजादिसम्बन्ध इति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गत्वमयुक्तम् ।

मपि न विरमसि ।') इत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वयेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति ।

नर्मद्युति—परिहास से जो परितोष होता है, वह नर्मद्युति है ।

उदाहरण—रत्नावली में—सुसंगता—सखि, अभी तुम अति निष्ठुर हो, जो स्वामी के द्वारा इस प्रकार हाथ से पकड़ी जाने पर भी कोप नहीं छोड़ती हो । सागरिका—(भौं चढ़ा कर और थोड़ा मुसकराती हुई), सुसंगते—अब भी तुम बोलना नहीं बन्द कर रही हो । इस कथांश के द्वारा अनुराग-बीज के उद्घाटन के सम्बन्ध से जो परितोष (नायक को) होता है, वह नर्मद्युति है ।

नान्दी टीका

नर्मद्युति की परिभाषा भरत के नाट्यशास्त्र में भिन्न है । भरत के अनुसार नर्म के समान नर्मद्युति भी हास्य है, किन्तु इसमें किसी कथापुरुष के द्वारा अपने दोष को छिपाने की बातों से हँसी उत्पन्न होती है ।

३४. उत्तरा वाक्प्रगमनम्---

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—भो वअस्स ! दिट्ठिआ वढ्ढसे । ('भो वयस्य ! दिष्टया वर्धसे') राजा—(सकौतुकम्) वयस्य ! किमेतत् । विदूषकः—भो ! एवं क्खु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो । को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिण्हवीअदि । ('भोः ! एतत्खलु तद्यन्मया भणितं त्वमेवालिखितः । कोऽन्यः कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते ।') इत्यादिना ।

'परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात् किं शोषमावासि मृणालहार ! ।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ।।'२.१४

इत्यन्तेन राजाविदूषकसागरिकासुसंगतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति ।

प्रगमन—(अनुरागबीज के) उत्तरोत्तर उत्कर्ष की लगातार चर्चा प्रगमन है ।

उदाहरण—रत्नावली में—विदूषक—हे मित्र बधाई । राजा—(कौतुकपूर्वक) क्या बात है ? विदूषक—अरे, यह जो मैंने कहा था कि तुम्हारा हो चित्र है । कामदेव के बहाने और किसको छायापन्न किया जा सकता है ? इत्यादि

हे मृणालहार, उसके स्तनों के मध्य से गिर कर क्यों सूखे जा रहे हो ? वहाँ तो तुम्हारे पिरोने के धागे के लिए भी स्थान नहीं रह गया । तुम्हारी क्या बात ?

उपर्युक्त कथांश में राजा, विदूषक, सागरिका और सुसंगता की परस्पर बातचीत से अनुराग बीज के उत्तरोत्तर प्रकट होने से प्रगमन है ।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय दोनों के द्वारा प्रस्तुत प्रगमन नामक सन्ध्यङ्ग की

परिभाषा निःसन्दिग्ध नहीं है। रूपकों में तो प्रायः आद्यन्त उत्तरा वाक् होती है। अर्थात् किसी ने कुछ कहा और उसके उत्तर में कुछ कहा गया, यह यदि प्रगमन है तो अनवस्था दोष के कारण यह परिभाषा त्रुटिपूर्ण है।

अभिनवगुप्त ने प्रगमन के स्थान पर प्रगयण पाठ माना है। गमन और अयन पर्यायवाची शब्द हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के नये पाठ में कोई विशेषता नहीं है। उन्होंने प्रगयण की व्याख्या नये प्रकार से की है—प्राक्+अयनम्। वे प्राक् का अर्थ बताते हैं—पहले की बात और इस पहले की बात के उत्तर रूप में आने वाली बात का ज्ञान हो जाता है।[1]

प्रगम का एक अर्थ है प्रेमपथ का प्रवर्तन। इस अर्थ के अनुसार प्रगमन हो सकता है प्रेम का अभिनव विकास। यह अर्थ धनिक की टीका के नीचे लिखे मन्तव्य के अनुरूप पड़ती है—

इत्यनेन राज-विदूषक–सागरिका–सुसंगतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुराग–बीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति।

—हितरोधो निरोधनम्।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ्मूर्ख!

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता।' २.१९

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेश-सूचकेन विदूषकवचसा निरोधान्निरोधनमिति।

निरोध—हित पर रोक लगाना निरोध है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—(विदूषक से) धिक् मूर्ख, जैसे-तैसे दैवात् प्राप्त प्रेयसी अनुराग प्रकट कर रही था। वह गले लगाने के पहले ही मेरे हाथ से तुम्हारे द्वारा वैसे ही खिसका दी गई, मानो रागमयी रत्नावली सामने लाकर गले में धारण करने के पहले हटा दी गई हो।

इस कथांश में वत्सराज को सागरिका के समागमरूपी लाभ से विरहित रखने की चर्चा है, क्योंकि विदूषक ने यह कह दिया कि वासवदत्ता आ रही हैं। इस प्रकार उसकी बात से नायक का हित रुक गया। अतएव यह निरोध है।

पर्युपास्तिरनुनयः—

यथा रत्नावल्याम्—राजा—

'प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते

---

१. प्रागिति पूर्ववचनं ततोऽयनं प्राप्तिः यस्योत्तरवचनस्य।

करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा।
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥' २.१९

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायिकयोर्दर्शनात्कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति।

पर्युंपासन—अनुनय-विनय करना पर्युंपासन है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—(वासवदत्ता से) 'यदि मैं कहूँ कि आप प्रसन्न हों तो आपका कोप न होने से यह समीचीन न रहेगा। (यदि कहूँ कि) कभी ऐसा नहीं करूँगा, तो यह अपना अपराध स्वीकार करना होगा। (यदि कहूँ कि) मेरा दोष नहीं है तो आप इसे झूठ ही समझेंगी। ऐसी स्थिति में मैं क्या कहूँ—यह समझ में नहीं आता।'

इस कथांश में नायक और नायिका को साथ चित्रित देख कर कुपित हुई वासवदत्ता का अनुनय करना उनके अनुराग बीज का विकास होने से पर्युंपासन है।

—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४

यथा रत्नावल्याम्—'(राजा सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूषकः—भो! एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा। ('भोः! एषापूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता।') राजा—वयस्य! सत्यम्।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥२.१७

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात् पुष्पम्।

पुष्प—(अनुरागात्मक) विशेषताओं का परिचायक वाक्य पुष्प है।

उदाहरण—रत्नावली में (राजा सागरिका को हाथ से पकड़ कर स्पर्श का अभिनय करता है) विदूषक—अरे, यह तो अनुपम लक्ष्मी तुम्हारे हाथ लगी। राजा—मित्र, ठीक कहते हो—यह लक्ष्मी है। इसके हाथ पारिजात के पल्लव हैं। अन्यथा इसके पसीने के बहाने अमृतस्राव कहाँ से होता?

इस कथांश में नायक और नायिका का साक्षात् परस्पर दर्शन से विशेषानुराग प्रकट होने से पुष्प है।

नान्दी टीका

पुष्प में अभिनवगुप्त के अनुसार नायक और नायिका के प्रणय का विकास उत्तरोत्तर वाक्यों से प्रकट होना चाहिए। भरत और धनञ्जय की परिभाषा से यह

स्पष्ट नहीं होता कि सविशेष वचन का विषय क्या हो ? इसे अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कर दिया है। धनिक ने भी अनुराग के उत्तरोत्तर विकास को पुष्प बताया है।

३५. प्रसादनमुपन्यासः

यथा रत्नावल्याम्—'सुसंगता—भट्टा ! अलं संकाए। मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व ता किं कण्णाभरणेण। अदो वि मे गरुओ पसाओ, जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिअ त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ। ता पसादीअदु।' (भर्तः ! अल शङ्कया। मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव। तत्किं कर्णाभरणेन। अतोऽपि मे गुरुः प्रसादो, यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका। तत्प्रसाद्यताम्।') इत्यनेन सुसंगतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदादुपन्यास इति।

उपन्यास—किसी को मना लेने की बातें उपन्यास हैं।

उदाहरण—रत्नावली में सुसङ्गता—स्वामिन्, मेरे ऊपर शङ्का न करें। मैंने भी आप की कृपा से विनोद किया है। फिर मुझे कर्णालङ्कार देने से क्या ? मेरे ऊपर तो आपको बड़ी कृपा यही होगी कि "मैंने क्यों कर यहाँ आपके पास ही सागरिका का चित्र वना दिया ? इस बात से मेरी प्रिय सखी सागरिका मुझसे रूठ गई है। उसे मना लें।" इस कथांश से सुसङ्गता के कहने से यह सूचना मिली कि सागरिका ने आपका चित्र वनाया और मैंने सागरिका का चित्र वनाया—इस प्रकार प्रसन्न करने की बातों से बीज का विकास होने से उपन्यास है।

नान्दी टीका

उपन्यास में अभिनवगुप्त के अनुसार किसी कार्य का कारण होता है। यह व्याख्या नाट्यशास्त्र को परिभाषा के अनुरूप है।

दशरूपक में उपन्यास की एक परिभाषा 'उपन्यासस्तु सोपायम्' काव्यमालादि संस्करणों में है, किन्तु धनिक की अवलोक-टीका जो इसके नीचे छपी है, इस परिभाषा से समञ्जसित नहीं है। धनिक के समक्ष उपन्यास की दूसरी अधोलिखित परिभाषा पाठान्तर रूप में थी—

प्रसादनमुपन्यासः

धनिक ने अवलोक-टीका में इस पाठ को स्वीकार किया है, जो भरत के नाट्य-शास्त्र के पाठ से पदावली और अभिप्राय दोनों की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है।

--वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम्।

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त ! का एसा समीवे चिठ्ठइ। एदं किं वसन्तअस्स विण्णाणं।' ('आर्यपुत्र ! का एषा

तव समीपे तिष्ठति । एतत्किं वसन्तकस्य विज्ञानम् ।') पुनः 'अज्जउत्त ! ममावि एदं चित्तकम्म पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा ।' (आर्यपुत्र ! ममाप्येतच्चित्रकर्म प्रेक्षमाणायाः शीर्षवेदना समुत्पन्ना ।) इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति ।

वज्र—प्रत्यक्ष रूप से निष्ठुर बातें वज्र हैं ।

उदाहरण—रत्नावली में वासवदत्ता—(फलक की ओर संकेत करके) आर्यपुत्र यह कौन आपके पास चित्रित है ? यह भी क्या वसन्तक का शिल्प है ? आर्यपुत्र, इस चित्रकर्म को देखती हुई मुझे शीर्षवेदना उत्पन्न हो गई ।' इस कथांश से वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज का सागरिका के प्रति प्रणय-व्यापार का रहस्य प्रत्यक्ष करते हुए प्रत्यक्ष ही निष्ठुर बातें वज्र हैं ।

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ।।३५

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामत्र वीरो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकास्ते ।।' ३.५

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशंसिनः परशुरामदुर्णयस्याद्रोहयाच्ञाद्वारेणोद्भेदनाद्वर्णसंहार इति ।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंध्युपक्षिप्तबिन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति ।

वर्णसंहार—सभी वर्ण के लोगों का समागम वर्णसंहार है ।

उदाहरण—महावीरचरित में तृतीय अङ्क में वसिष्ठ कहते हैं—यह ऋषियों की परिषद है, यहाँ (भरत के मामा) वीर युधाजित् हैं, मन्त्रियों के साथ वृद्ध राजा लोमपाद हैं । ये निरन्तर यज्ञपरायण सनातन ब्रह्मवादी, जनकों के प्रभु हैं—ये सभी द्रोहभावना से सर्वथा विमुक्त आपसे याचना करते हैं कि आप शान्त हों ।

इस कथांश में ऋषि, क्षत्रिय, अमात्य आदि सभी वर्ण के लोगों के कहने से तथा राम के विजय की आशा लगाने वाले महात्माओं की परशुराम की दुर्नीति के सम्बन्ध में अद्रोह की याचना के द्वारा बीज का विकास प्रकट होने से वर्णसंहार है ।

नान्दी टीका

वर्णसंहार नामक सन्ध्यङ्ग की परिभाषा धनञ्जय ने भरत के नाट्यशास्त्र के अनुरूप दी है, किन्तु इन दोनों की परिभाषाओं की व्याख्या उनके टीकाकारों ने करते

हुए चातुर्वर्ण्य का अर्थ अलग-अलग बताया है। अभिनवगुप्त के अनुसार चातुर्वर्ण्य है सभी पात्रों का एकत्र हो जाना। अर्थात् वह संवादांश, जिसमें अंक के सभी पात्रों की साक्षात् उपस्थिति आवश्यक हो। धनिक के अनुसार चातुर्वर्ण्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि हैं। अभिनवगुप्त ने चातुर्वर्ण्य के इस अर्थ को ठीक न मानते हुए कहा है—यत्तु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयमेलनमिति तदफलत्वादनादृत्यमेव।

ये प्रतिमुख सन्धि के १३ अङ्ग मुखसन्धि (के अन्त) में समाविष्ट अवान्तर बीज नामक बिन्दु, महाबीज और प्रयत्न (अवस्था) से समञ्जसित बनाये जाने चाहिए।[1] इनमें से परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास, और पुष्प नामक सन्ध्यङ्ग प्रधान हैं। शेष के प्रयोग, जहाँ जैसे मिलें, होना चाहिए।

गर्भसन्धिः

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ॥३६

प्रतिमुखसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य यः सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारं वारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसंधिरिति। तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया अनियमं दर्शयति 'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन। प्राप्तिसंभवस्तु स्यादेवेति दर्शयति-- स्यात् प्राप्तिसम्भवः' इति। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादन मुक्त्वान्य उपायः' इत्यनेन दर्शितमिति।

३६. कभी दृष्ट और कभी नष्ट बीज (-विषयक उपाय या फल) का पुनः अन्वेषण गर्भ है। इसके १२ अङ्ग होते हैं।[2] इसमें पताका होना वैकल्पिक है। इसमें प्राप्ति-सम्भव नामक अवस्था होती है, अर्थात् फल की अस्थायी प्राप्ति होती है ॥३६

प्रतिमुख सन्धि में कभी लक्ष्य और कभी अलक्ष्य रूप से कुछ-कुछ विकसित बीज गर्भसन्धि में सविशेष विकास युक्त होता है। इसमें विघ्नपूर्वक (नायिका का) लाभ पुनः विच्छेद, पुनः प्राप्ति, पुनः विच्छेद होता है। फिर उस (फल, नायिका) का अन्वेषण वारंवार होने पर भी फल की ऐकान्तिक (स्थायी) प्राप्ति नहीं होती, किन्तु उसकी

---

१. सन्ध्यग वे हा कथांश होंगे, जो मुख्य कथा के बीज, अंकों में आने वाली अवान्तर कथा के बीज और कार्यावस्था से साक्षात् सम्बद्ध हों।

२. बीज वस्तुतः फल (नायिका की प्राप्ति) या फलोपाय है। नाट्यशास्त्र १९. २२ पर भारती।

आशा बनी रहती है। यह गर्भसन्धि है। 'पताका स्यान्नवा' से अभिप्राय है कि पताका नामक अर्थप्रकृति का गर्भसन्धि में होना वैकल्पिक है। प्राप्तिसम्भव नामक कार्यावस्था होती है। उदाहरण के लिए रत्नावली में तृतीय अङ्क में वासवदत्ता के द्वारा नायक का प्रणय-व्यापार देख लिए जाने पर उसका वेष बनाकर अभिसरण के उपाय से विदूषक के वचनानुसार सागरिका के मिलने की आशा, फिर वासवदत्ता के द्वारा विघ्न डालने पर विच्छेद, पुनः प्राप्ति, पुनः विच्छेद और अन्त में वासवदत्ता के द्वारा उत्पन्न विघ्न का निवारण करने का उपाय होता है, जो इस वाक्य से प्रकट होता है—देवी को मना लेने के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है।

नान्दी टीका

धनञ्जय के अनुसार गर्भसन्धि में बीज का पुनः अन्वेषण किया जाता है, जो प्रतिमुख सन्धि की कथा में कभी दृष्ट और कभी अदृष्ट था। इस प्रसङ्ग में बीज से क्या समझा जाय? प्रणयात्मक रूपकों में बीज है नायिका-प्राप्ति का उपाय।

भरत ने बीज के उद्भेद (विकास) की चर्चा के साथ प्रणयात्मक नाटकों में नायिका को थोड़ी देर के लिए प्राप्ति और पुनः अप्राप्ति (उसके वियोग) की कथा को गर्भसन्धि का आवश्यक अङ्ग बताया है।[1] ऐसी स्थिति में अन्त में नायिका का अन्वेषण होता है। भरत इस प्रसङ्ग में फल को नायिका-प्राप्ति का पर्याय मानते हैं।[2]

नायिका-प्राप्ति का यदि फल माना जाय तो गर्भावस्था में उसकी यहीं प्रत्यक्ष सत्ता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा अभिनवगुप्त का स्पष्टीकरण है।[3] इसमें फल का गर्भीभाव होता है।

सच द्वादशाङ्गो भवति। तान्युद्दिशति—

३७. अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले यथा ॥३७
३८. उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते

गर्भसन्धि के १२ अङ्गों के नाम हैं—

३७. अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, सम्भ्रम, और आक्षेप। उनके लक्षण हैं—

---

१. उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः ॥ ना० शा० १९.४१

२. ईषत्प्राप्तिर्यदा काचित् फलस्य परिकल्प्यते।
भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्तिसम्भवम् ॥ ना० शा० १९.११

३. गर्भसन्धौ बीजस्योद्भेदः फलजननाभिमुख्यत्वमेव। फलस्यात्र गर्भीभावात् गर्भसन्धिरिति नाम सार्थकं भवति।

गर्भसन्धि में नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रार्थना भी एक सन्ध्यंग है, जिसे धनञ्जय ने नहीं स्वीकार किया है। धनञ्जय के द्वारा परिगणित संभ्रम नामक सन्ध्यङ्ग को भरत के नाट्यशास्त्र में दिये हुए विद्रव के स्थान पर मानना समीचीन है।

अभूताहरणं छद्म—

यथा रत्नावल्याम् 'काञ्चनमाला—साधु रे अमच्च वसन्तअ, साधु। अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए संधिविग्गहचिन्ताए।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक, साधु। अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया संधिविग्रहचिन्तया।') इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतवासवदत्तावेषायाः सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताक्लृप्तकाञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम्।

नान्दी टीका

३८. अभूताहरण में छल-कपटमयी चर्चा होती है।

उदाहरण—रत्नावली में काञ्चनमाला—साधु रे अमात्य कवसन्तक, साधु। तुम इस सन्धि-विग्रह की चिन्ता करने में अमात्य यौगन्धरायण से बढ़ गये—इत्यादि प्रवेशक में दी हुई सूचना के अनुसार वासवदत्ता का वेष धारण करके सागरिका का वत्सराज के लिए अभिसार करना छद्म है। विदूषक और सुसङ्गता के द्वारा आयोजित और काञ्चनमाला के द्वारा भण्डाफोड़ करने से प्रकट किया हुआ यह अभूताहरण है।

—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। ('दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या।')

राजा—वयस्य, अपि कुशलं प्रियायाः।

विदूषकः—अइरेण सयं एव्व पेक्खिअ जाणिहिसि। ('अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि।')

राजा—दर्शनमपि भविष्यति। विदूषकः—(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो। ('कथं न भविष्यति यस्य त उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः।')

राजा—तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि।

विदूषकः (कर्णे कथयति) एव्वम्। ('एवम्') इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितः, तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनात्मार्ग इति।

मार्ग—तात्त्विक वस्तु को बताना मार्ग है।

उदाहरण—रत्नावली में—विदूषक—आशा से अधिक सफलता प्राप्त करने पर बधाई। राजा—प्रेयसी का कुशल तो है ? विदूषक—शीघ्र ही स्वयं देखकर जान लोगे। राजा—दर्शन भी होगा क्या ? विदूषक (गर्व से)—कैसे नहीं होगा ? जब तुम्हारा अमात्य मैं बुद्धि-वैभव में बृहस्पति से भी बढ़-चढ़ कर हूँ। राजा—तो भी कैसे होगा ? यह सुनना चाहता हूँ। विदूषक—(कान में कहता है) इस प्रकार।' इस कथांश में, जैसी विदूषक ने सागरिका के समागम की योजना सुनी थी, वैसी ही उसने राजा को निश्चित रूप से बता दी। इसमें वास्तविक बात का निवेदन होने से मार्ग है।

नान्दी टीका

मार्ग की परिभाषा में तत्त्वार्थकीर्तन है, फल प्राप्ति के लिए कोई नया और सुनिश्चित मार्ग (कार्यपद्धति) बताना। यह अभिनवगुप्त का मत है।

३९. रूपं वितर्कवद्वाक्यम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणी-समागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातः। तथाहि—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ।
वदति-बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥ ३.९

कथं चिरयति वसन्तकः किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद्रूपमिति।

रूप—तर्क-वितर्क भरी बातें रूप हैं।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—अहो अपनी गृहिणी के प्रेम का तिरस्कार करने वाले मेरा किसी नये जन (सागरिका) के प्रति पक्षपात क्या ही विचित्र है। जैसे—प्रेमभरी दृष्टि मुख पर शंकित होने के कारण (सागरिका) नहीं डालती। शृङ्गार से निर्भर गले तो लगती है, किन्तु पयोधर—श्लेष नहीं करती। प्रयत्नपूर्वक पकड़ी हुई भी बार-बार कहती है कि जा रही हूँ। तथापि संकेत स्थल में आई हुई (सागरिका) अनिर्वचनीय आनन्द दे रही है।

वसन्तक क्यों देर लगा रहा है ? कहीं देवी को तो यह (अभिनव प्रणय) व्यापार ज्ञात नहीं हो गया ?—इस कथांश में रत्नावली से समागम की प्राप्ति की आशा की अनुकूलता से और देवी के सब कुछ जान लेने के कारण उससे विघ्न की शंका विषयक वितर्क रूप है।

नान्दी टीका

रूप में तर्क-वितर्क-युक्त बातें होती हैं। नायक को संशय होने पर एक,

दूसरा और तीसरा भी विकल्प मन में आता है और वह यह नहीं निर्णय कर पाता कि कौन-सी बात सही है।

अभिनवगुप्त के अनुसार युक्ति में वास्तविक सत्य का निश्चय रहता है और रूप में अनिश्चय।

उदाहरण—

—सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः।

यथा रत्नावल्याम्—विदूषकः—(सहर्षम्) ही हीं भोः, कोसंवीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसोआसि यादिसो मम सआसादो पिअवद अणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि।' ('ही ही भोः, कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि।' इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति।

उदाहरण—किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहना उदाहरण है। रत्नावली में --विदूषक—(हर्षपूर्वक) अहा, हे (मित्र) कौशाम्बी का राज्य जीतने पर भी आप को वैसा परितोष नहीं हुआ था, जैसा मुझसे प्रिय सन्देश सुनकर होगा। ऐसा मैं सोचता हूँ।' इस कथांश से रत्नावली से मिलन का सन्देश कौशाम्बी राज्य लाभ से बढ़ कर है—यह उत्कर्षाभिधान (बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहना) उदाहरण है।

अथ क्रमः—

क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा - उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः, अथवा—

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः॥ ३.१०

विदूषकः—(आकर्ण्य) भोदि सागरिए! एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता निवेदेमि से तुहागमणम्।' ('भवति सागरिके! एष प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयते। तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः।

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन—

—भावज्ञानमथापरे॥ ३८

यथा रत्नावल्याम्—'राजा (उपसृत्य) प्रिये सागरिके!

'शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मनुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-.
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥३.७१

इत्यादिना 'इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराज-भावस्य ज्ञातत्वात् क्रमान्तरमिति ।'

क्रम—जिसकी चिन्ता की जा रही हो, उसका मिल जाना क्रम है । ३८

उदाहरण—रत्नावली में राजा—प्रिया सागरिका से मिलन का उत्सव मुझे प्राप्त है तो क्यों कर चित्त अधीर है ? अथवा प्रखर मदन-सन्ताप आरम्भ में उतनी बाधा नहीं उत्पन्न करता, जितनी (नायिका के) समीप होने पर । वर्षा ऋतु में जल बरसने के थोडा पहले का दिन बहुत ऊमस उत्पन्न करता है विदूषक—(सुनकर) सागरिके, ये मेरे मित्र (वत्सराज) तुम्हें लक्ष्य करके उत्कण्ठित होकर कुछ कह रहे हैं । उनको तुम्हारे आने की सूचना दे दूँ । इस कथांश में सागरिका से मिलने की चिन्ता जब वत्सराज कर रहे हैं, तभी भ्रान्त सागरिका उनसे आ मिलती है ।[1]

दूसरे क्रम का लक्षण बताते हैं कि दूसरे के भाव (विचार) जान लेना क्रम है ।

उदाहरण—रत्नावली में—राजा (निकट पहुँचकर) प्रिये सागरिके, चन्द्रमा तुम्हारा मुख है, कमल आँखें हैं, पद्म हाथ हैं । तुम्हारे ऊरुद्वय कदली खण्ड के समान हैं, बाहें मृणाल के समान हैं । तुम्हारे सभी अङ्ग आनन्दप्रद हैं । तुम तो निःशङ्क होकर साहसपूर्वक आलिंगन करके मदनदाह से सन्तप्त मेरे अङ्गों को शीतल करो ।' यहाँ से लेकर 'तुम्हारे होंठ में अमृत भी तो है हो' यहाँ तक के कथांश से वासवदत्ता वत्सराज के मनोभाव को जान लेती है ।

क्रम नाम क्यों सार्थक है—यह बताते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है—बुद्धि समस्या का समाधान करने में चलती है, रुकती नहीं ।[2] भरत के अनुसार दूसरों के मनोभाव को जान लेना क्रम है ।

धनञ्जय ने क्रम की एक दूसरी सर्वथा भिन्न परिभाषा दी है' जिसके अनुसार क्रम में जिसकी चिन्ता की जाती है, वही आ जाता है । वे भरत की परिभाषा को 'भावज्ञानमथापरे' कह कर उद्धृत करते हैं । इससे प्रतीत होता है कि उनके समक्ष भरत के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त दूसरे भी नाट्यशास्त्रीय आकर ग्रन्थ थे ।

---

१. भ्रान्त सागरिका में भ्रान्त विशेषण इसलिए सार्थक है, वह वस्तुतः वासवदत्ता थी । उदयन को भ्रान्ति हो गई थी कि वह सागरिका है ।

२. बुद्धिस्तत्र क्रमते न प्रतिहन्यते ।

४०. संग्रहः सामदानोक्तिः —

यथा रत्नावल्याम्—'साधु वयस्य, साधु ! इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामि ।' इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः संग्रहात्संग्रह इति ।

४०. साम और दान की चर्चा संग्रह है ।

उदाहरण—रत्नावली में (राजा—विदूषक से) 'धन्य हो मित्र, पुरस्कार रूप में कंकण लो, इस प्रकार साम और दान के द्वारा सागरिका से समागम कराने वाले विदूषक को अपना बना लेने के कारण यह कथांश संग्रह है ।

नान्दी टीका

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार संग्रह सामदानार्थ-सम्पन्न होता है । धनञ्जय का संग्रह उक्ति मात्र है, किन्तु भरत का संग्रह किसी व्यक्ति का सामादि से अपना लेने की प्रक्रिया है । धनिक ने भरत के अभिप्राय के अनुरूप व्याख्या प्रस्तुत की है ।

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

यथा रत्नावल्याम् - 'राजा—धिङ् मूर्ख ! त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थः ।
कुतः —

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात् प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥१ १५

विदूषकः—भो वअस्स ! वासवदत्ता किं करिस्सदि त्ति ण जाणामि । सागरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमि' ('भो वयस्य ! वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि । सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि ।') इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्तायां मरणाभ्यूहनमनुमानमिति ।

अनुमान—लिङ्ग को देखकर सत्य का ज्ञान कर लेना अनुमान है ।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—धिक् मूर्ख, तुम्हारे ही कारण हम लोगों पर यह अनर्थ आ पड़ा ।

पारस्परिक विश्वास के हृदयंगम होने से हम दोनों (वासवदत्ता और उदयन) की प्रीति बढ़ी । मेरे द्वारा पहले कभी न किये हुए (किसी अन्य स्त्री से प्रेम-व्यापार के) इस दोष को देखकर मेरी प्रिया वासवदत्ता यह सब सहने में असमर्थ होकर अब प्राण ही छोड़ देगी । उच्चस्तरीय प्रेम में स्खलन होना असह्य होता है ।

विदूषक—अरे मित्र, वासवदत्ता क्या करेगी ? यह तो नहीं जानता, किन्तु सागरिका तो कठिनाई से ही जीयेगी—ऐसा समझ रहा हूँ।' इस कथांश में सागरिका के प्रति राजा के प्रेम के कारण वासवदत्ता के उच्चस्तरीय प्रेम के स्खलन से मरण की कल्पना अनुमान है।

अधिबलमाभसंधिः —.

यथा रत्नावल्याम्—'काञ्चनमाला—भट्टिणि ! इअं सा चित्तसालिआ। ता वसन्तअस्स सण्णं करेमि (भट्टिनि ! इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।') (छोटिकां ददाति)' इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसंधानादधिबलमिति।

अधिबल—किसी को ठगना अधिबल है।

उदाहरण—रत्नावली में काञ्चनमाला—स्वामिनि, यही चित्रगृह है। (फिर चुटकी बजाती है)' इस कथांश में सागरिका और सुसंगता के वेष बनाई हुई वासवदत्ता और कांचनमाला के द्वारा राजा और विदूषक को ठगे जाने से अधिबल है।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय दोनों के अनुसार कपट भरी वाणी से किसीको ठगना अधिबल है। धनञ्जय अधिबल की एक अन्य परिभाषा भी बताते हैं, जिसके अनुसार मधुर-मधुर सान्त्वनापूर्ण वाणी का प्रयोग करना अधिबल है। इस दूसरी परिभाषा को वे तोटक का विलोम बताते हैं। तोटक है संरब्धवचन।

—संरब्धं तोटकं वचः ॥४०

यथा रत्नावल्याम्—वासवदत्ता—(उपसृत्य) अज्जउत्त ! जुत्तमिणं सरिसमिणम्। (पुनः सरोषम्) अज्जउत्त उट्ठेहि। किं अज्जवि सहजाहिजादाए सेवाए दुक्खमणुभवीअदि कंचणमाले ! एदेण ज्जेव पासेण बंधिअ आणेहि एणं दुट्ठवम्हणं। एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि।' (आर्यपुत्र ! युक्तमिदं सदृशमिदम्। आर्यपुत्र उत्तिष्ठ किमद्यापि सहजाभिजातया सेवया दुःखमनुभूयते। काञ्चनमाले ! एतेनैव पाशेन बद्ध्वानयैनं दुष्टब्राह्मणम्। एतामपि दुष्टकन्यकामग्रतः कुरु।') इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनानियतं प्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम्। यथा च वेणीसंहारे—

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्' ३·३४

इत्यादिना

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः' । ३·४६

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डव-विजयप्राप्त्या शान्वितं तोटकमिति ।

ग्रन्थान्तरे तु—

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि—

'आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥३ १४

तोटक— आवेश भरी वाणी तोटक है ।

उदाहरण—रत्नावली में वासवदत्ता—(निकट जाकर) 'यह ठीक है, योग्य है यह । (पुनः क्रोधपूर्वक) आर्यपुत्र, उठें । क्योंकर अब भी स्वाभाविक कुलीनता से उत्पन्न (औपचारिक) सेवा के नाते दुःख का अनुभव करें । काञ्चनमाले, इस पाश से बाँध कर इस दुष्ट ब्राह्मण (विदूषक) को लाओ । इस दुष्ट कन्या (सागरिका) को भी आगे कर लो ।' इस कथांश में सागरिका का (नायक से) समागम होने में विघ्न बनी हुई वासवदत्ता के आवेश भरे वचन से तोटक है, जिसके द्वारा (नायिका—) प्राप्ति अनिश्चित हो गई ।

वेणीसंहार में 'स्तुतियों से प्रयत्न पूर्वक जगाये हुए रात भर सोओगे' यहाँ से लेकर 'जब तक मैंने शस्त्र धारण कर रखा है, तब तक दूसरे के शस्त्रों से क्या ?' इस कथांश में कर्ण और अश्वत्थामा के आवेश भरे वचन से (कौरवों की) सेना में भेद उत्पन्न होने से पाण्डवों की विजय की आशा से युक्त तोटक है ।

दूसरे ग्रन्थों में अधिबल को तोटक का उलटा (सविनय वाणी) बताते हैं ।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—देवि, मेरा दोष आपने प्रत्यक्ष देख लिया, फिर मैं क्या कहूँ—हे देवि, लज्जित हुआ मैं अपने सिर से आपके पैरों पर लाख से बनी लालिमा मिटा दूँ, यदि आपके मुखचन्द्र को मेरे प्रति क्रोधजनित ललाई इससे दूर हो जाय, जो आप मेरे ऊपर करुणा कर दें ।

संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥४१

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद वासवदत्ता—(अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त! मा एवं भण अण्णसङ्कन्ताइं खु एदाइं अक्खराइं ति ।' (आर्यपुत्र मैवं भण । अन्यसंक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति ।)

यथा च वेणीसंहारे—राजा-अये सुन्दरक ! कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य । पुरुषः—कुसलं सरीरमेत्तकेण्ण । ('कुशलं शरीरमात्रकेण ।') राजा—किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः, क्षतः सारथिः, भग्नो वा रथः । पुरुषः—देव ! ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो । ('देव न भग्नो रथः । भग्नोऽस्य मनोरथः,) राजा— (ससंभ्रमम्) इत्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति ।

तोटक आवेशभरी वाणी है, जिसकी चर्चा पहले भी हो चुकी है ।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—प्रिये वासवदत्ते, प्रसन्न हो जाओ । वासवदत्ता—(आँसू भर कर) आर्यपुत्र, ऐसा न कहें । ये अक्षर (प्रिये) तो अब किसी दूसरे (सागरिका) के लिए चले गये ।

वेणीसंहार में राजा—'अये सुन्दरक, क्या कर्ण का कुशल है ? पुरुष - शरीर मात्र से कुशल है । राजा—क्या अर्जुन के द्वारा उसके (रथ के) घोड़े मार डाले गये, सारथि घायल कर दिया गया या रथ तोड़फोड़ दिया गया ? पुरुष—देव, रथ नहीं टूटा, (कर्ण का) मनोरथ भग्न हो गया । राजा—(घबराहट से) कैसे ?' इस कथांश में घबराहट की वाणी तोटक है ।

नान्दी टीका

यहाँ तोटक की परिभाषा दूसरी बार आई है । यह अन्य कई संस्करणों में नहीं मिलती । वस्तुतः यह यहाँ अनावश्यक है ।

४२. उद्वेगोऽरिकृता भीतिः ---

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका —(आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि । ('कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते ।' इत्यनेन वासवदत्तातः सागरिकाया भयमित्युद्वेगः । यो हि यस्यापकारी स तस्यारिः ।

यथा च वेणीसंहारे—'सूतः—(श्रुत्वा सभयम्) कथमासन्न एवासौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराजः । भवतु ! दूरमपहरामि स्यन्दनम् । कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति ।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेगः ।

४२. शत्रु से उत्पन्न की हुई भीति उद्वेग है ।

उदाहरण—रत्नावली में—सागरिका (स्वगत, कैसे अपनी इच्छा से पुण्यहीन मर भी नहीं पाते ।' इस कथांश में वासवदत्ता से सागरिका का भय उद्वेग है । जो किसी की हानि कर देता है, वही उसका अरि है ।

वेणीसंहार में सूत—(सुनकर भय से) क्या यह कौरवराज के पुत्रों की भाँति महावन के (विनाशक) तूफान के समान यह भीम है ? अभी दुर्योधन सचेत नहीं हुए । अच्छा, रथ को दूर ले चलूँ । यह अनार्य (भीम) इस (दुर्योधन) के प्रति भी कुछ

वैसा ही अशोभनीय व्यवहार न कर डाले। इस कथांश में शत्रु से उत्पन्न की हुई भ्रांति है।

---शङ्कात्रासौ च संभ्रमः।

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः—(पश्यन्) का उण एसा। (ससंभ्रमम्) कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि। ('का पुनरेषा! कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति') राजा - (ससंभ्रममुपसर्पन्) क्वासौ क्वासौ।' इत्यनेन वासवदत्ता-बुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मरणशङ्कया संभ्रम इति।

यथा च वेणीसंहारे—'(नेपथ्ये कलकलः) अश्वत्थामा—(ससंभ्रमम्) मातुल! मातुल! कष्टम्। एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभंगभीरुः किरीटी समं शरवर्षै-र्दुर्योधनराधेयावभिद्रवति। सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन।' इति शङ्का। तथा '(प्रविश्य संभ्रान्तः सप्रहारः) सूतः—त्रायतां त्रायतां कुमारः।' इति त्रासः। इत्येताभ्यां त्रासशङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजय-प्राप्त्याशान्वितः संभ्रम इति।

संभ्रम शङ्का और त्रास है।

उदाहरण—रत्नावली में—'विदूषक—(देखते हुए) फिर यह कौन? (घबरा-कर) क्या देवी वासवदत्ता आत्महत्या कर रही हैं? राजा—(घबराते हुए निकट पहुँच कर) वह (वासवदत्ता) कहाँ? वह कहाँ?' इस कथांश में वासवदत्ता समझकर सागरिका के मरण की शंका से संभ्रम है।

वेणीसंहार में—(नेपथ्य में कलकल)। अश्वत्थामा—(घबराकर) मामा, मामा, बड़ी विपत्ति है। यह भाई की प्रतिज्ञा के टूटने से भीरु अर्जुन वाणवर्षा के साथ दुर्योधन और कर्ण की ओर झपट रहा है। भीम के द्वारा दुःशासन का रक्त सर्वथा पी लिया गया।' यह तो शंका हुई। तथा (प्रवेश कर घबराया हुआ और घायल) सूत—कुमार को बचायें।' यह त्रास है। इन दोनों कथांशों से दुःशासन और द्रोण के वध के सूचक त्रास और शंका से पाण्डवविजय को प्राप्ति की आशा से समन्वित संभ्रम है।

नान्दी टीका

धनञ्जय का संभ्रम भरत का विद्रव है। शङ्कात्रासादि दोनों घबराहट के कारण हैं।

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥४२

यथा रत्नावल्याम्—'राजा! वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' पुनः क्रमान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः पुनः। तत्किमिह स्थितेन। देवीमेव गत्वा प्रसादयामि!' इत्यनेन देवीप्रसादा-यत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भवादाक्षेपः।

यथा च वेणीसंहारे—'सुन्दरकः—अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि। तस्स क्खु एवं णिब्भच्छिदविदुरवअणवीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारुढमूलस्स कूडविससाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि' ('अथवा किमत्र दैवमुपालभे। तस्य खल्वेतन्निर्भत्सितविदुरवचन-वीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारुढमूलस्य कूट-विषशाखिनः पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति'।) इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि। एषां च मध्येऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम्। इतरेषां यथासम्भवं प्रयोग इति सांगो गर्भसंधिरुक्तः।

आक्षेप में गर्भगत बीज का (फलोन्मुख) विकास प्रकट होता है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—मित्र, देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं देखता हूँ। आगे चलकर—हम लोग फिर देवी की प्रसन्नता के उपक्रम में निराश हो चुके हैं। तो यहाँ पड़े रहने से क्या लाभ?' इस कथांश से यह प्रकट हुआ कि सागरिका का नायक से समागम होना देवी की प्रसन्नता के अधीन है।

वेणीसंहार में सुन्दरक—अथवा क्योंकर इस विषय में दैव को दोष दूँ? यह तो उस विषैले कूटनीतिक वृक्ष का फल-परिपाक है, जिसका बीज था विदुर के वचन की दुत-कार, जिसका अंकुर था भीष्म के हितोपदेश की अवहेलना, जिसकी मूल स्थापना थी शकुनि के द्वारा उत्साहित किया जाना और जिसका कुसुम था द्रौपदी का केशग्रहण।' इस कथांश के द्वारा बीज को ही फलोन्मुख करते हुए सूचित किया गया है। अतएव आक्षेप है।

गर्भसन्धि के ये १२ अङ्ग प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था के प्रदर्शक बना कर रचे जायें। इनमें से अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल और आक्षेप प्रधान हैं। शेष अङ्गों का यथासंभव प्रयोग होना चाहिए।

नान्दी टीका

अभिनव गुप्त के अनुसार गर्भ है हृदय के अन्तः स्थित बात। उसका प्रकट हो जाना भरत के अनुसार आक्षिप्ति है। यही आक्षिप्ति धनञ्जय का आक्षेप है, जिसमें उनके अनुसार गर्भ में विकसित बीज का स्वरूप स्पष्टतया झलकाया जाता है। धनञ्जय की परिभाषा में अनवस्था दोष है, क्योंकि गर्भबीज-समुद्भेद तो प्रायः इस संधि के सभी अङ्गों में होता है।

अवमर्श-सन्धिः

४३. क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः॥४३

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनम् । तच्च क्रोधेन वा, व्यसनाद्वा, विलोभनेन वा ।'भवितव्यमनेनार्थेन' इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसंध्युद्भिन्न-बीजार्थसंबन्धो विमर्शोऽवमर्शः । यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसत्त्या निरपायो रत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः । यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः —

'तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥६.१

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहा-रथवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसंधिः ।

४३. जिस कथांश में क्रोध, आपत्ति या लोभ के कारण आगे क्या करें—इस सम्बन्ध में विचार होता है और जिसमें बीजात्मक घटना गर्भ सन्धि की अपेक्षा अधिक विकसित होती है, उसे अवमर्श कहते हैं ।

अवमर्शन या अवमर्श का अभिप्राय पर्यालोचन है । पर्यालोचन क्रोध से या व्यसन (विपत्ति) या लोभ से उत्पन्न होता है । गर्भसन्धि में विकसित बीजात्मक घटना से सम्बन्ध रखने वाला विमर्श ही अवमर्श सन्धि है, जिसमें 'अब यह योजना कार्यान्वित होना है' ऐसा व्यवसाय प्रधान होता है और व्यवसाय के द्वारा फल की स्थायी प्राप्ति निश्चित होती है ।

उदाहरण—रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में आग लगने पर भगदड़ की घटना तक विमर्श दिखाया गया है, जिसमें वासवदत्ता की प्रसत्ति (विरोध छोड़ देने) से निर्विघ्न रूप से रत्नावली की प्राप्ति का व्यवसाय है । वेणीसंहार में दुर्योधन के रक्त से लथपथ भीम के (युधिष्ठिर के पास) आने तक अवमर्श सन्धि है । युधिष्ठिर ने कहा है—भीष्म-रूपी महासागर को पार कर लेने पर, द्रोण-रूपी अग्नि को बुझा देने पर, कर्णरूपी सर्प को मिटा देने पर, शल्य के मारे जाने पर अब विजय थोड़ी शेष रही । साहसी, भीम के द्वारा आवेश के कारण (दुर्योधन को आज ही मारने की) बात से हम सबके प्राण संशय में पड़े । यहाँ विजय थोडी ही शेष रही — इस बात से और विजय के बाधक भीष्मादि महारथियों के वध से विजय का पूर्ण रूप से निश्चय होना अवमर्श सन्धि का उदाहरण है ।

नान्दी टीका

अवमर्श सन्धि में फलप्राप्ति उपाय के द्वारा नियत प्रतीत होती है । गर्भ सन्धि में थोड़ी-सी प्राप्ति, उसका भी छिन जाना स्पष्ट है । अवमर्श में नायक को यह ज्ञात हो जाता है कि सफलता क्यों स्थायी नहीं हुई । क्रोध, शाप, विलोभन, व्यसन आदि

जो कुछ कारण हो, उसे दूर करने में नायक अवमर्श सन्धि के अन्त तक कृतार्थ होता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार अवमर्श-सन्धि में नायक बाधाओं को दूर करने के लिए अपने उद्योग को सहस्रगुना कर देता है। भरत ने कहा है कि अवमर्श में उपायों से नायक फलप्राप्ति को सुनिश्चित करता है।[1]

४४. तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥४४
४५. प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश।

अवमर्श-सन्धि के १३ अङ्ग हैं—अपवाद, सम्फेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने विमर्श-सन्धि के १३ अङ्ग बताये हैं, किन्तु भरत ने इसके १५ अङ्ग गिनायें हैं। भरत के बताये भेद निषेधन, व्यवहार और युक्ति नामक विमर्श-सन्ध्यङ्ग दशरूपक में नहीं हैं। दशरूपक में गिनाये हुए द्रव और विचलन नाट्यशास्त्र में नहीं हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि धनञ्जय के समक्ष वर्तमान नाट्यशास्त्र का कोई दूसरा संस्करण था, अथवा भरत के अतिरिक्त किसी अन्य नाट्याचार्य की कृति को भी उन्होंने अपना उपजीव्य बनाया।

अवमर्श सन्धि में नियताप्ति नामक कार्यावस्था होती है।

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम् - 'सुसङ्गता— सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणि णीअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिंपि णीदेत्ति। ('सा खलु तपस्विनी भर्त्र्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति।')

'विदूषकः—(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु कदं देवीए।' (अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या।' पुनः— 'भो वअस्स; मा खु अण्णधा संभावेहि। सा खु देवीए उज्जइण्णीं पेसिना। अदो अप्पिअं त्ति कहिदम्।' भो वयस्य! मा खल्वन्यथा संभावय सा खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता। अतोऽप्रियमिति कथितम्') राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी।' इत्यनेन वासवदत्तादोष-प्रख्यापनादपवादः।

---

१. नियतां तु फलप्राप्तिं यदा भावेन पश्यति। ना० शा० १९.४२

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिरः - पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी ? पाञ्चालकः—न केवलं पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

अपवाद है दोष बताना ।

उदाहरण—'रत्नावली में सुसंगता—वह बेचारी (सागरिका) देवी के द्वारा उज्जयिनी भेज दी गई—यह प्रवाद फैलाकर आधी रात के समय, पता नहीं, कहाँ ले जाई गई ?

विदूषक (घबड़ाकर)—देवो ने अतिनिष्ठुर कर डाला । फिर हे मित्र, कुछ और न समझें । वह (सागरिका) देवी के द्वारा उज्जयिनी भेज दी गई । अतः इसे अप्रिय कह दिया ।

राजा—अहो देवी मेरे प्रति कठोर हैं ।

इस कथांश में वासवदत्ता का दोष, बताने के कारण अपवाद है ।

वेणीसंहार में युधिष्ठिर—पाञ्चालक, क्या उस दुरात्मा नीच कौरव (दुर्योधन) की मार्ग-पद्धति कहीं मिली ? पाञ्चालक—उसकी मार्ग-पद्धति ही नहीं, द्रौपदी देवी के केशपाश-स्पर्श के पाप का प्रधान कारण वह दुरात्मा स्वयं मिल गया ।'—इस कथांश में दुर्योधन के दोष को बताने से अपवाद हुआ ।

नान्दी टीका

अपवाद में किसी कथापुरुष के दोष बताये जाते हैं ।

संफेटो रोषभाषणम् ।

यथा वेणीसंहारे—'भोः कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना । मैवं विषादं कृथाः पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाहमसहाय' इति ।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन ।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥ ६·१०

इत्थं श्रुत्वासूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान् धार्तराष्ट्रः—
कर्णदुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः ।६·११

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामौ—' इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसंभाषणाद्विजयबीजान्वयेन संफेट इति ।

सम्फेट है क्रोधपूर्वक भाषण ।

उदाहरण—वेणीसंहार में भीम—हे कौरवराज, भाइयों के मारे जाने को देखकर शोक करना व्यर्थ है। आप इस प्रकार विषाद न करें कि युद्ध के लिए बहुत से पाण्डव हैं और मैं अकेला हूँ।

हे सुयोधन, आप हम पाँच में से जिस किसी को युद्ध करने के लिए ठीक समझते हों, उसके साथ कवच और शस्त्र धारण किये हुए आपका रणोत्सव हो।

यह सुनकर असूया-भरी दृष्टि (भीम और अर्जुन) कुमारों पर डालकर दुर्योधन बोला—

'कर्ण और दुःशासन को मारने वाले तुम दोनों मेरे लिए समान हो। अप्रिय होने पर भी युद्ध करने के लिए साहसी तुम्हीं (भीम) वरेण्य हो।' यह कहकर 'परस्पर क्रोध, अधिक्षेप, परुष वाणी और कलह से घोर संग्राम आरम्भ करके....' इस कथांश में भीम और दुर्योधन का एक दूसरे से रोष-सम्भाषण विजय के बीज से सम्बद्ध होने के कारण सम्फेट है।

नान्दी टीका

वेणीसंहार के सम्फेट के इस उदाहरण में रोषभाषण का अभाव होने से सम्फेट नामक संध्यङ्ग प्रतीत नहीं हो पाता।

विद्रवो वधबन्धादिः—

यथा छलितरामे

'येनावृत्य मुखानि सामपठता मत्यन्तमायासितम्
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम्।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते।।'

यथा च रत्नावल्याम्

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातैः
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः।।४·१४

इत्यादि। पुनः वासवदत्ता—'अज्जउत्त! ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि। एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा सागरिआ विवज्जदि। ('आर्यपुत्र! न खल्वहमात्मनः कारणाद्भणामि। एषा मया निर्घृणहृदया संयता सागरिका विपद्यते।) इत्यन्ते सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति।

विद्रव है वध, बन्ध आदि।

५

उदाहरण—छलितराम में घोषणा की जाती है नेपथ्य से—जो सामपाठियों का मुँह बन्द करके उन्हें खूब तङ्ग करता था, बालपन में अक्षसूत्र की मालाओं को चुरा कर और पुनः उन्हें लौटाकर खेल करता था, जो आप लोगों का हृदय है, वही लव बाँध करके कहीं ले जाया जा रहा है। उसके कन्धे बाण से भरे हैं और वह मूर्च्छा के घोरान्धकार में लीन होकर विवश है। रत्नावली में अन्तःपुर में सहसा ऐसी अग्नि उत्पन्न हो गई है, जो ज्वाला के शिखरों से प्रासादों के स्वर्णशृङ्ग की भाँति शोभा धारण करती है, जिसका प्रखर ताप घने उपवनों के वृक्षों के अग्रभाग को जला देने से प्रकट हो रहा है, जो धुँये की उड़ान से क्रीडापर्वत को मानो जल भरे बादलों से काला बना रही है, और जो अपने दाह से रमणीलोक को आर्त कर रही है।—इत्यादि। पुनः वासवदत्ता—आर्यपुत्र, मैं अपने लिए नहीं कह रही हूँ (कि बचाइये) निष्ठुर हृदय वाली मुझसे संयमित सागरिका (जलने से) मर रही है।' इस कथांश में सागरिका के वध, बन्ध और अग्नि आदि से विद्रव है।

नान्दी टीका

भरत ने विद्रव को गर्भसन्धि का अंग माना है और परिभाषा दी है—

शङ्का भयत्रास-कृतो विद्रवः समुदाहृतः ॥१९.८८

अभिनवगुप्त के अनुसार 'भय और त्रासकारी वस्तुओं से जो शंका होती है, वह विद्रव है। विद्रवति का अभिप्राय है 'विलीयते हृदयं येन' अर्थात् जिससे हृदय द्रवित हो उठे। इसके दो अर्थ रहे हैं।

अभिनवगुप्त के समक्ष विद्रव की शंकुक द्वारा दी हुई एक अन्य व्याख्या थी। इसमें 'शंका-भय-त्रासकृतो विद्रवः' ऐसा पाठ लेकर शंका, भय और त्रास से उत्पन्न विद्रव होता है—यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है।

धनञ्जय ने उपर्युक्त दोनों को न अपना कर वध और बन्ध ही को विद्रव बताया है, जो धात्वर्थ से समञ्जसित नहीं होता। विद्रव वस्तुतः हड़बड़ी है। धनिक ने इस त्रुटि को दूर करते हुए व्याख्या की है कि विद्रव वध, बन्ध और अग्नि से होता है।

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥४५

यथोत्तरचरिते—

'वृद्धास्तेन विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते
सुन्दस्त्रीद्रमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महन्तो हि ते।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद्वा कोशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥५.३४

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः।
यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः!

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ॥६·२०

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ।

द्रव गुरुजनों का तिरस्कार है ।

उदाहरण—उत्तररामचरित में (लव राम की निन्दा करता है)—जो वृद्ध हैं, उनके काम विचारणीय नहीं हैं । अर्थात् उनकी कटु आलोचना करना योग्य नहीं है । क्या चर्चा की जाय ? सुन्दर स्त्री (ताड़का) को मार डालने पर भी उनका यश खण्डित नहीं हुआ है, वे संसार में महान् बने ही रहे । खर से युद्ध करने में बिना पराङ्मुख हुए ही जिन्होंने तीन डग भरे थे । अन्य भी—इन्द्रसूनु (वाली) को मारने में (राम का) जो कौशल था, उस विषय में भी लोगों को जानकारी है ।

इस कथांश में लव ने गुरु राम का तिरस्कार किया है । अतएव यह द्रव है ।

वेणीसंहार में—युधिष्ठिर—भगवान्, कृष्ण के बड़े भाई, सुभद्रा के भाई (बलराम)—

आप सम्बन्धियों के प्रति प्रेमभाव को मन में नहीं लाए, क्षत्रियों के धर्म पर और अपने छोटे भाई कृष्ण से अर्जुन के बढ़े हुए मैत्री भाव पर भी ध्यान नहीं दिया । भले ही दोनों शिष्यों (भीम और दुर्योधन) के प्रति आप का समान प्रेम-सम्बन्ध हो । पर यह कौन सी पद्धति है कि आप मुझ अभागे से इस प्रकार विमुख हैं ?' इस कथांश में बलराम गुरु का तिरस्कार युधिष्ठिर ने किया है । अतएव यह द्रव है ।

(वेणीसंहार के इस पद्य में तिरस्कार का भाव समुदित नहीं है ।)

नान्दी टीका

द्रव की परिभाषा के प्रसंग में कोई भी अवस्था में बड़ा या पूज्य पुरुष गुरु है ।

४६. विरोधशमनं शक्तिः —

यथा रत्नावल्याम्—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्यैव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥ ४१

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः ।
यथा चोत्तारचरिते लवः प्राह—

'विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन—
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिवहि महतां कोऽप्यतिशयः ॥६.११

४६. शक्ति है विरोध का शमन करना ।

उदाहरण—रत्नावली में राजा – मेरे बहाने बनाकर शपथ लेने से, मीठी बातों से, मनोरञ्जन करने से, कृत्रिम मुसकान से, पैर पर गिरने से, और सखियों की वाणी से देवी वासवदत्ता वैसे प्रसन्न न हुईं जैसे स्वयं रोते हुए, उसने अपने अश्रुजल से धोकर कोप को दूर कर दिया ।

इस कथांश में सागरिका की प्राप्ति में बाधा डालने वाली वासवदत्ता का कोप शान्त होने से शक्ति है ।

दूसरा उदाहरण उत्तररामचरित में लव की एकोक्ति है—'विरोध समाप्त हो गया, शान्ति-निर्भर रस स्फुट हुआ । औद्धत्य कहीं चला गया, विनय मुझे विनम्र बना रहा है । इस (राम) को देखने पर मैं तत्क्षण कुछ परवश हो चला हूँ । तीर्थों की भाँति महापुरुषों की कोई बहुमूल्य विशेषता होती है ।' (इस कथांश में विरोध के शान्ति की चर्चा होने से शक्ति है ।)

नान्दी टीका

शक्ति में विरोधी का प्रशम (प्रसादन) होता है ।

अभिनवगुप्त के अनुसार शक्ति का स्रोत बुद्धि या विभवादि होते हैं । अर्थात् इस सन्ध्यंग में बौद्धिक शक्ति प्रमाणित होती है ।

—तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।

यथा वेणीसंहारे—'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलदिङ्निकुञ्ज-पूरिताशातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसंकुलं त्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सरःसलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदा
मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो ! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥ ६.७

इत्यादिना 'त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां

दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता ।

द्युति है डाँट फटकार और उद्वेग उत्पन्न करना ।

उदाहरण—'वेणीसंहार में कृष्ण की यह बात सुनकर भीम ने उस जलाशय का मन्थन कर डाला, जिससे उसका जल चारों दिशाओं में वाहर वह चला, सभी जलाश्रित जीव विकल हो गये, भय से नाक और ग्राह उलट गये । फिर भयंकर नाद से गर्ज कर कुमार भीम ने कहा—अपना जन्म विमल चन्द्रवंश में बताते हो । अब भी गदा धारण करते हो । दुःशासन के गर्मागर्म रक्त रूपी सुरा को पीने से मत्त मुझको रिपु बताते हो । मधु और कैटभ को मारने वाले कृष्ण के प्रति दर्पान्ध होकर उद्धत चेष्टायें करते हो । मेरे भय से, हे नर पशु, समर को छोड़ कर इस समय कीचड़ में छिप रहे हो । यहाँ से लेकर 'उद्वेगपूर्वक छिपने का स्थान छोड़कर उठा हुआ (दुर्योधन)' इस स्थल तक के कथांश में दुर्वचन और जलमन्थन आदि के द्वारा दुर्योधन की डाँट फटकार और उद्वेग उत्पन्न करने से पाण्डवों की विजय के लिए अनुकूल होने से और दुर्योधन को उठाकर सामने ला देने से यह भीम की द्युति है ।

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः ---

यथा रत्नावल्याम् वसुभूतिः—'देव यासौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती वासवदत्तां लावाणके दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता ।' इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनेन प्रसङ्गः ।

तथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालकः—एस सागलदत्तस्स सुओ अज्जविणअदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो, वावादिदुं वज्झट्ठाणं णीअदि । एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुवण्णलोभेण वावादिदि त्ति ।' ('एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते । एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति ।

चारुदत्तः—मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भाषितं यत्
सदसि निविडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥१०.१२

इत्यनेन चारुदत्तावधसूचनया अवधाभ्युदयानुकूलं गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गात् प्रसङ्गः ।

प्रसङ्ग है गुरुजनों की उपलब्धियों की वर्णना ।

उदाहरण—रत्नावली में वसुभूति—हे देव (वत्सराज) सिंहलेश्वर ने वासवदत्ता को जला हुआ सुनकर पहले से माँगी हुई अपनी आयुष्मती कन्या रत्नावली को

आपके लिए दे दिया। यहाँ सिंहलेश्वर का कीर्तन हो रहा है, जिसमें रत्नावली की प्राप्ति के अनुकूल उसके आभिजात्य को प्रकट करने वाले उसके गुरुओं की चर्चा हो रही है।

मृच्छकटिक में चाण्डालक—यह सागरदत्त का पुत्र, आर्य-विनयदत्त का नाती चारुदत्त वध करने के लिए वध्यभूमि ले जाया जा रहा है। इसके द्वारा गणिका वसन्त-सेना स्वर्ण के लोभ से मार डाली गई।

चारुदत्त—सैकड़ों यज्ञों के द्वारा पवित्र किया हुआ मेरा गोत्र सभास्थली में घने चैत्यों के बीच वेदघोष पूर्वक उच्चारित होता था। मरण की स्थिति में वर्त्तमान मेरा नाम अयोग्य मनुष्यों के द्वारा घोषणा में उच्चारित किया जा रहा है।' इस कथांश में चारुदत्त के वध की सूचना के द्वारा उसके अवध और अभ्युदय के अनुरूप पूर्वजों की उपलब्धियों की चर्चा होने से प्रसंग नामक अंग है।

---छलनं चावमाननम् ॥४६

यथा रत्नावल्याम्—राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी। इत्यनेन वासवदत्तायेष्टासंपादनाद्वत्सराजस्यावमाननाच्छलनम्। यथा च रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनावमाननाच्छलनमिति।

छलन किसी का तिरस्कार है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—अहो देवी मेरे प्रतिकूल हैं। यहाँ वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज का अभीष्ट न पूरा होने देने के कारण वत्सराज का तिरस्कार होने से छलन हुआ। रामाभ्युदय में सीता का परित्याग करने से उनकी अवमानना होने से छलन हुआ।

नान्दी टीका

दशरूपक के छलन का नाम भरत के नाट्यशास्त्र में छादन मिलता है। नाट्यशास्त्र में छन्दन पाठ भी मिलता है। छादन से अभिप्राय है अपमान और कलङ्क का अपवारण (दूर करना)।

धनञ्जय ने छलन को अवमानन बताया है। यह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि छल् धातु का अवमानना से कोई सम्बन्ध नहीं है।

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः---

यथा रत्नावल्याम्—'ऐन्द्रजालिकः—

किं धरणीए मिअंको आआसे महिहरो जले जलणो।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिं ॥४.८

अथवा किं बहुआ जंपिएण—

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम्।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥' ४.९

('किं धरण्यां मृगांक आकाशे महीधरो जले ज्वलनः।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम् ॥

अथवा किं बहुना जल्पितेन।

मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन जं महसि द्रष्टुम्।
तत्तो दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥')

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्थापने वत्सराजस्य हृदयस्थ-सागरिकादर्शनानुकूलां स्वशक्तिमाविष्कृतवान्।

यथा च वेणीसंहारे—

'नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा।
वध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः ॥' ६.६

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदंडशक्तिमाविष्करोति।

४७. व्यवसाय है अपनी शक्ति की वर्णना।

उदाहरण—रत्नावली में ऐन्द्रजालिक—

आज्ञा दें क्या दिखलाऊँ—पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि, मध्याह्न में सन्ध्या ?

अथवा बहुत कहने से क्या !

मेरी यह प्रतिज्ञा है। मैं कहता हूँ कि हृदय से जो कुछ देखना चाहते हो, वह गुरुमन्त्र के प्रभाव से स्पष्ट दिखाऊँगा। इस कथांश में ऐन्द्रजालिक कृत्रिम अग्नि की भ्रान्ति उत्पन्न करके वत्सराज के हृदय में विराजमान सागरिका के दर्शन के लिए साधक अपनी शक्ति को प्रकट करता है।

वेणीसंहार में—

प्रतिज्ञा टूट जाने से भीरु उस वीर (भीम) के द्वारा आज तुम्हारा केशपाश बाँधा जायेगा। वही इसे संवारने में समर्थ है।

इस कथांश में युधिष्ठिर अपनी दण्डशक्ति प्रकट करते हैं।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय की व्यवसाय की परिभाषा सर्वथा भिन्न-भिन्न है। भरत के अनुसार व्यवसाय है प्रतिज्ञा-हेतु-सम्भव। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने की है, जिसके अनुसार अंगीकृत काम के साधनों को पा लेना व्यवसाय है।

धनञ्जय के अनुसार व्यवसाय है अपनी शक्ति की वर्णना। धनञ्जय के व्यवसाय और विरोध प्रायः समान ही हैं।

---संरब्धानां विरोधनम्।

यथा वेणीसंहारे—'राजा – रे रे मरुत्तनय ! किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ? अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
वाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥५.३०

(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः—आर्य प्रसीद, किमत्र क्रोधेन ?
अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥५.३१

भीमः—अरे भरतकुलकलङ्क !
अद्यैव किं न विशसेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन्।
विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र—
निर्भिद्यमानरणितास्थनि ते शरीरे ॥५.३२

अन्यच्च मूढ !
शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि।
आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥५.३३

राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पांडवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थना-प्रगल्भः। किन्तु—
द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं वान्धवास्त्वां रणाङ्गणे।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥५.३३

इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति।

विरोधन है आवेश भरे लोगों का (अपनी शक्ति की) वर्णना करना।

उदाहरण—वेणीसंहार में राजा—रे रे भीम, क्यों इस प्रकार वृद्ध राजा के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशंसा करते हो और भी द्यूतदासी भार्या (द्रौपदी) केश पकड़कर मुझ भुवनपति (दुर्योधन) की आज्ञा से राजाओं के समक्ष, तुम्हारे (भीम के), तुम्हारे (अर्जुन के), उस पशु राजा (युधिष्ठिर) के और उन दोनों (नकुल तथा सहदेव) के सामने घसीटी गई। यह तो बताओ, इस वैर परम्परा में उन मारे गये राजाओं ने क्या किया था ? भुजाओं के पराक्रम-रूपी अधिक धन के कारण घोर अभिमानी मुझे विना जीते हुए ही तुम्हें गर्व क्यों कर हो गया ?

(भीम क्रोध का अभिनय करते हैं) अर्जुन—आर्य प्रसन्न हों, क्रोध से क्या ? सौ भाइयों के मारे जाने से दुःखी यह (दुर्योधन) वाणीमात्र से (हमारा) अप्रिय कर रहा है, कर्म से अशक्त है। इसके प्रलाप से क्यों व्यथा की जाय ?

भीम—अरे भरतकुल-कलङ्क,

कटु बोलने वाले, क्या मैं तुम्हें आज ही दुःशासन का साथ देने के लिए न मार डालता, यदि ये दो गुरुजन (धृतराष्ट्र और गान्धारी) मेरी गदा के सिरे से प्रहार करने पर चरचराहट से टूटती हड्डियों वाले तेरे शरीर को तोड़े जाते हुए रोकते नहीं।

और भी मूढ़,

जैसे स्त्रियाँ रो-धोकर शोक दूर करती हैं, वैसे ही मैंने तुमसे भी (भाइयों का मरण-शोक दूर कराया है। तुम अपने भाई दुःशासन की छाती के तोड़े जाने के दृश्य के साक्षी बने। यही दोनों काम तुम्हारे दुष्ट राजा के जीवन के कारण रहे, जब तुम्हारे कुल-कमलिनी के लिए हाथी के समान भीम को क्रोध उत्पन्न हुआ।

राजा—दुरात्मन्, भरतकुल कलङ्क, पाण्डव पशो, मैं तुम्हारी तरह डींग नहीं हाँकता। किन्तु

शीघ्र ही तुम्हारे भाई रणभूमि पर मेरी गदा से प्रहार की हुई पसलियों के टूटने से भीषण तुमको निद्रित पायेंगे।' इस कथांश में आवेश में आये हुए भीम और दुर्योधन की अपनी शक्ति की वर्णना है।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय की विरोधन की परिभाषायें सर्वथा भिन्न हैं। भरत के अनुसार विरोधन कार्य के अत्यय (समाप्ति) की प्राप्ति है, किन्तु धनंजय के अनुसार आवेश में आये हुए लोगों का अपनी शक्ति की प्रशंसा करना विरोधन है। ऐसी स्थिति में धनंजय का विरोध प्रायः व्यवसाय नामक पूर्वोक्त सन्ध्यंग से अभिन्न लगता है।

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना ।। ४७ ।।

यथा वेणीसंहारे—'पाञ्चालकः—अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृतं संदेहेन—

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम्।
राने शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ।। ६.१२

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः' इत्यन्तेन द्रौपदी-केशसंयमन-युधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति।

प्ररोचना है होने वाली घटना को हुई-सी बताना।

उदाहरण—वेणीसंहार में पाञ्चालक—'मैं देव चक्रपाणि के द्वारा' आदि से लेकर 'सन्देह का अवसर नहीं—'

आपके राज्याभिषेक के लिए रत्नकलश जलपूर्ण किये जायँ। द्रौपदी बहुत दिनों से छोड़े हुए वेणीबन्ध सँवारने का उत्सव करे। क्षत्रवृक्ष का कर्तन करने वाले और

प्रखर कुठार से चमकते हुए हाथ वाले परशुराम तथा क्रोधान्ध भीम के समरभूमि में आने पर सन्देह का अवसर नहीं रह जाता। यहाँ से आरम्भ करके 'देव युधिष्ठिर मंगल करने का आदेश देते हैं' यहाँ तक द्रौपदी के केश बांधने और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक इन दो भावी घटनाओं को सिद्ध हुआ सा बताने के कारण यह कथांश प्ररोचना है।

नान्दी टीका

सिद्धामन्त्रण से अभिप्राय है असिद्ध को भी सिद्ध बताना। यहाँ एकान्त सफलता न मिलने पर भी लक्षण मात्र देखकर भावी घटना को घटित बता दिया जाता है। यह धनिक का मन्तव्य है।

विकत्थना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—अर्जुनः — तात ! अम्ब !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥५.२७

भीमः —

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा !
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाञ्चति ॥'५.२८

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति।

यथा च रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—

देव्या मद्वचनात्तथाभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥४.२०

इत्यनेनान्यपरेणापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो वत्सराजस्य कृतः।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति।

४८. विचलन है अपने गुणों का बखान।

उदाहरण—'वेणीसंहार में भीम—चाचा और चाची, जिस कर्ण के ऊपर तुम्हारे पुत्रों के द्वारा सभी शत्रुओं के जीतने की आशा लगी हुई थी, जिसके गर्व से समस्त लोक तृण की भांति तिरस्कृत हुआ था, उस कर्ण को रणभूमि में मारने वाला यह मध्यम पाण्डव (अर्जुन, भीम) आप पितरों को प्रणाम करता है।

भीम—दुःशासन के रक्त को पीकर प्रमत्त, सभी कौरवों को कुचल देने वाला, दुर्योधन की जाँघों को तोड़ने वाला यह भीम शिर से आप को प्रणाम करता है।'

इस कथांश में विजय के बीज का अनुसरण करते हुए वक्ता अपने गुणों का बखान कर रहे हैं। अतएव विचलन है।

रत्नावली में यौगन्धरायण—

'मेरे कहने से देवी को पति से हाथ धोना पड़ा। देव (वत्सराज) को (नई) पत्नी मिल जाने से देवी मेरे द्वारा दुःख में डाली गई। अब प्रभु (वत्सराज) का जगत्स्वामी बन जाना देवी को प्रीति प्रदान करेगा। यह सब तो ठीक है, किन्तु मैं लज्जा के कारण अब उन्हें मुँह दिखाने में असमर्थ हूँ।—इस कथांश से और यौगन्धरायण के दूसरे वक्तव्य से कि मैंने वत्सराज को ऐसा कन्यालाभ कराया कि उससे संलग्न जगत्स्वामित्व भी उसे प्राप्त हुआ'—यह अपने गुण का बखान होने से विचलन हुआ।

आदानं कार्यसंग्रहः ।

यथा वेणीसंहारे –'भीमः—ननु भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः !
रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि !
भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व-
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥६·३७

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य गृहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअवं हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम् ।' ('दिष्ट्या समन्तात् प्रज्वलितो भगवान् हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम्' ।) इत्यनेनान्यपरेणापि दुःखावसानेन कार्यस्य संग्रहादादानम्। यथा च—'जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः' इति दर्शितमेवम् । इत्येतानि त्रयोदशाङ्गानि । तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।

आदान सहकारी कार्यों की गणना है।

उदाहरण—'वेणीसंहार में भीम—अरे पूरे पञ्चक प्रदेश में विचरण करने वालो—

मैं राक्षस नहीं हूँ, न भूत हूँ। शत्रुओं के रक्त रूपी जल से नहाये हुए अंगों वाला मैं क्षत्रिय हूँ, जिसने प्रतिज्ञा रूपी गम्भीर महासागर को पार कर लिया है। समराग्नि की लपट में जलने से बचे हुए राजाओ, आप लोगों का डरना व्यर्थ है, जो आप लोग मरे हुए हाथी और घोड़ों के बीच आड़ लेकर बैठे हैं।' इस कथांश में सभी शत्रुओं के मारे जाने के कार्यों का परिगणन होने से यह आदान है।

'रत्नावली में—सागरिका—(दिशाओं की ओर देखकर), भगवान् अग्निदेव मेरे सौभाग्य से प्रज्वलित हैं। वे आज मेरे दुःखों का अन्त करेंगे।' इससे और अन्य वाक्यों के द्वारा भी दुःखावसान के द्वारा कार्य का परिगणन होने से आदान है। जैसे स्वामी का जगत्स्वामित्व का लाभ' यह पहले ही बताया जा चुका है।

धनञ्जय के अनुसार आदान में कार्य (फल) का संग्रह (चर्चा) होता है। भरत के अनुसार बीज के फल की प्राप्ति आदान में होती है।[१]

भरत निर्दिष्ट अवमर्श सन्धि के कतिपय सन्ध्यंग दशरूपक के इस प्रकरण में नहीं मिलते। यथा—खेद, निषेधन, व्यवहार तथा युक्ति। दशरूपक में बताये हुए द्रव, और विचलन इस प्रकरण में नाट्यशास्त्र में नहीं हैं।

इनमें से भरत के अनुसार खेद मानसिक श्रम के कारण उत्पन्न थकावट है। अभीष्ट वस्तु के प्रति अनिच्छा निषेध है, प्रत्यक्ष वचन व्यवहार है और बीच-बीच में रुक कर मन्तव्य प्रकट करना युक्ति है।[२]

धनञ्जय ने अवमर्श सन्धि के अंगों को भरत के नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार नहीं रखा है, यद्यपि वे प्रथम तीन सन्धियों के अंगों को भरत के बताये क्रम के अनुसार गिनाते हैं। वे केवल १३ अंग अवमर्श में बताते हैं, जहाँ भरत ने १५ अंग गिनाये हैं। धनंजय ने अवमर्श में भरत के चार सन्ध्यंगों को छोड़कर दो नये सन्ध्यंगों को रखा है। पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों ने भी सन्ध्यंग-क्रम को पूर्वोक्त भरत के क्रम के अनुसार नहीं रखा है। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि नाट्य-शास्त्रोय बहुविध धाराओं में तत्कालीन और परवर्ती आचार्यों को अवगाहन करने का अवसर था।

अवमर्श सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं। इनमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान-प्रदान हैं।

निर्वहण-सन्धिः

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।४८
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा वेणीसंहारे—'कञ्चुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज! वर्धसे वर्धसे, अयं खलु कुमारभीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्षव्यक्तिः इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादीनां मुखसंध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम्।

यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसंध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थित्वम्। 'वसुभूतिः—(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या। इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः।

---

१. 'बीजफलस्य समीपताभवनम्' यह अभिनवगुप्त की व्याख्या है।
२. सागर नन्दी, रामचन्द्र और विश्वनाथ खेद को सन्ध्यंग-रूप में स्वीकार करते हैं। सागर नन्दी और विश्वनाथ निषेध को स्वीकार करते हैं।

४८. जिस कथांश में बिखरे हुए यथास्थान मुखसन्धि आदि में कहे हुए बीजानुवर्ती अर्थ (घटना-सम्बन्धी वक्तव्य) प्रधान अर्थ से जोड़ दिये जाते हैं, वह निर्वहण है। यह पूरे रूपक के वक्तव्यों का फलात्मक उपसंहार है।

उदाहरण--वेणीसंहार में कञ्चुकी—(निकट पहुँच कर हर्षपूर्वक) 'महाराज ये कुमार भीम दुर्योधन के रक्त से लथपथ लाल शरीर वाले, कठिनाई से पहचान में आने वाले' इत्यादि अपने-अपने स्थान पर सूचित कथन से द्रौपदी के केश सँवारने आदि की मुखसन्धि आदि की बीजानुवर्ती बातों को प्रधान अर्थ का अङ्ग सा बनाकर जोड़ा गया है।

रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि से सम्बद्ध और मुखसन्धि आदि चारों सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों (घटनात्मक वक्तव्यों) का वत्सराज के एककार्यार्थ (प्रधान प्रयोजन सागरिका की प्राप्ति) का अंग बना दिया गया है। वसुभूति सागरिका को देखकर और अपवार्य विधि से) अरे बाभ्रव्य, यह राजपुत्री (रत्नावली) के सर्वथा समान है। इत्यादि कथांश से निर्वहण-सन्धि बताई गई है।

नान्दी टीका

भरत ने निर्वहण सन्धि की परिभाषा दी है—

समानयमर्थानां मुखाद्यानां सबीजिनाम्।
नानाभावोत्तराणां यद् भवेन्निर्वहणं तु तत् ॥१९.४३

अर्थात् निर्वहण सन्धि में पहले की चार सन्धियों की घटनाओं को फलशालिनी अन्तिम घटना से सूत्रित कर देते हैं। पूर्वोक्त कथांशों में बीजात्मक सुख-दुःखमय नाना भाव होते हैं, उन सबको भी फलशालिनी घटना में निर्वहण सन्धि को कथा के माध्यम से सूत्रित कर देते हैं। समानयन=फलनिष्पत्ति में नियोजन। भावोत्तर सुख, दुःख, हास, शोक आदि भावों से उत्कृष्ट बने हुए (अर्थ)।

इसमें फलयोग या फलागम नामक कार्यावस्था रहती है। वह कथांश फलयोग है, जिसमें अभीष्ट और योग्य फल मिले।

धनञ्जय की परिभाषा भरत के समान पड़ती है, किन्तु उन्होंने 'भावोत्तराणा-मर्थानाम्' इस अंश को छोड़ दिया है।

अथ तदङ्गानि

संधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९
प्रसादानन्दसमयाः कृतिर्भावोपगूहने।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५०

निर्वहण सन्धि के १४ अङ्ग हैं—सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषण, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

संधिर्बीजोपगमनम्

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या। बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव प्रतिभाति।' इत्यनेन नायिकानुराग-बीजोपगमात् संधिरिति।

यथा च वेणीसंहारे-'भीमः भवति यज्ञवेदिसंभवे ! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य बीजस्य पुनरुपगमात् सन्धिरिति।

सन्धि-बीज की चर्चा करना सन्धि है।

उदाहरण—'रत्नावली में—वसुभूति—हे बाभ्रव्य, यह तो सर्वथा राजपुत्री (रत्नावली) के समान है। बाभ्रव्य—मुझको भी ऐसा ही लग रहा है।' इस कथांश में नायिकानुराग विषयक बीज की पुनः जानकारी होने से सन्धि नामक अङ्ग है।

जैसे वेणीसंहार में—भीम—श्रीमति द्रौपदि, क्या आपको स्मरण है कि मैंने कहा था, हे देवि, फड़कती हुई बाँह से चलाई गई प्रचण्ड गदा के प्रहार से चूर्ण की हुई दोनों जाँघों वाले दुर्योधन के घने जमे हुए रक्त से सने लाल हाथों वाला भीम तुम्हारे केशपाश को सँवारेगा।

इस कथांश में मुखसन्धि में सूचित बीज को पुनः ग्रहण करने से सन्धि है।

नान्दी टीका

बीज में कही हुई बात को स्मरण कराना सन्धि है।

—विबोधः कार्यमार्गणम्।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका ? राजा—देवी जानाति। वासवदत्ता—अज्जउत्त! एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा। अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि। (आर्यपुत्र ! एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वामात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता। अत एव सागरिकेति शब्दापयते।') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता। कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति।' इत्यनेन रत्नावली-लक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः।

यथा च वेणीसंहारे—भीमः—मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम्। युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ? भीमः—सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनविकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्। अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोध इति।

विबोध है मुख्य कार्य की ओर ध्यान जाना।

उदाहरण— रत्नावली में—वसुभूति—(देख कर) हे राजन्, कहाँ से यह कन्या आई ? राजा—देवी महारानी जानती हैं। वासवदत्ता—आर्यपुत्र, 'यह सागर से मिली' यह कहकर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे संरक्षण में इसे रख दिया। अतएव इसे सागरिका पुकारते हैं। राजा—(आत्मगत) यौगन्धरायण ने रख दिया, वह मुझसे विना बताये कैसे यह सब कर डालेगा ?' इस कथांश से रत्नावली के पहचाने जाने से कार्य (नायिका से समागम) की ओर राजा का ध्यान पुनः हो गया।

'वेणीसंहार में भीम—छोड़ें, छोड़ें आर्य, मुझे क्षण भर के लिए। युधिष्ठिर—क्या करना शेष रह गया, भीम—बहुत रह गया ? तब तक इस दुःशासन के रक्त से रञ्जित अपने हाथ से दुःशासन के द्वारा खींचे हुए द्रौपदी के केशपाश को सँवार आऊँ। युधिष्ठिर—आप जायें, द्रौपदी वेणीसंहार का अनुभव करें।' इस कथांश में केश संयमन कार्य की ओर ध्यान जाने से विबोध है।

नान्दी टीका

भरत के नाट्यशास्त्र में विबोध का नाम भूल से निरोध मिलता है।

ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—देव ! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम्।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु, स्वयमेवाहं संहरामि।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

ग्रथन है कार्य की सूचना देना।

उदाहरण—'रत्नावली में यौगन्धरायण—क्षमा करें, आप को विना बताये मेरे द्वारा यह किया गया।' इस कथांश से वत्सराज का रत्नावली की प्राप्ति-रूपी कार्य की सूचना होने से ग्रथन है 'वेणीसंहार में—भीम—द्रौपदि, मेरे जीते जी दुःशासन के द्वारा विसंष्ठुल की हुई अपनी वेणी को मत सँवारना। रुको, मैं स्वयं सँवारूंगा। इस कथांश में द्रौपदी के केशपाश के सँवारने का काम बताने से ग्रथन है।

—अनुभूताख्या तु निर्णयः ।। ५१

यथा रत्नावल्याम्—यौगन्धरायणः—(कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम्, इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा यथा—योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति, स सार्वभौमो राजा भविष्यति। तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता, तदा लावणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—देव देव अजातशत्रो ! क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः ? मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषण्णा चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ।। ६.३८

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति।

निर्णय है किसी घटना-विषयक अपने अनुभव को बताना।

उदाहरण—'रत्नावली में यौगन्धरायण—(हाथ जोड़कर) राजन्, सुनें। यह सिंहलेश्वर की कन्या है, जिसके विषय में सिद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि जो इससे पाणिग्रहण करेगा, वह सार्वभौम राजा होगा। उसमें विश्वास होने से हम लोगों के द्वारा स्वामी के लिए अनेक बार प्रार्थना करने पर भी सिंहलेश्वर के द्वारा देवी वासवदत्ता के मानसिक खेद का परिहार करते हुए जब वह नहीं दी गई तो लावाणक में देवी वासवदत्ता जल गई—यह समाचार प्रसिद्ध करके सिंहलेश्वर के पास बाभ्रव्य को भेज दिया गया।' इस कथांश में यौगन्धरायण अपनी अनुभूत घटना को बताता है—यह निर्णय है।

'वेणीसंहार में भीम—देव, देव, अजातशत्रो (युधिष्ठिर), अब कहाँ रहा अभागा दुर्योधन ? मेरे द्वारा उस दुरात्मा का शरीर भूमि पर पटक कर उसके चन्दन-रूपी रक्त को अपने शरीर पर लगा लिया गया। उसकी लक्ष्मी को आर्य (युधिष्ठिर) में प्रतिष्ठित कर दिया गया, चार समुद्रों की सीमा वाली पृथ्वी के साथ इस युद्ध की अग्नि में उसके मित्र, योद्धा और सम्पूर्ण कुरुकुल जल मरा। हे राजन् अब तो केवल उस दुर्योधन का नाममात्र रह गया, जिसे आप कह रहे हैं।' इस कथांश में अपनी अनुभूत घटनाओं का वर्णन करने से निर्णय नामक अंग है।

५२. परिभाषा मिथो जल्पः —

यथा रत्नावल्याम्—"रत्नावली—(आत्मगतम्) कआवराहा देवीए ण

सक्कुणोमि मुहं दंसिदुं (कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्)। 'वासवदत्ता—(सास्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे! इदाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेहि। (अपवार्य) अज्जउत्त! लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण। ता लहु अवणेहि से बन्धणम्। ('एहि अयि निष्ठुरे! इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय। आर्यपुत्र! लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन। तल्लघ्वपनयास्या बन्धनम्।') राजा—यथाह देवी! (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता—(वसुभूति निर्दिश्य)! अज्ज! 'अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदम्हि, जेण जाणन्तेणावि णाचक्खिदम्!' ('आर्य! अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि जानतापि येन नाख्यातम्)।')" इत्यनेनान्योन्यवचनात् परिभाषणम्।

यथा च वेणीसंहारे—भीमः—'कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन!' इत्यादिना 'क्वासौ भानुमती योपहसति पाण्डवदारान्।' इत्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम्।

५२. परिभाषा पारस्परिक बातचीत है।

उदाहरण—'रत्नावली में—रत्नावली—(स्वगत) देवी के प्रति अपराध की हुई उन्हें मुँह नहीं दिखा सकती। वासवदत्ता—(आँसू भरकर और बाहें फैलाकर) आओ हे निष्ठुर, अब भी तो बन्धु-स्नेह प्रकट करो। (अकेले से) आर्यपुत्र, मुझे इस नीचता से लज्जा उत्पन्न हो रही है। शीघ्र ही इसका बन्धन दूर करें। राजा—देवी जैसा कहती हैं। (बन्धन खोलने लगता है)। वासवदत्ता—(वसुभूति की ओर संकेत करते हुए) अमात्य यौगन्धरायण के द्वारा बुरी बनाई गई हूँ; जिसने जानते हुए भी बताया नहीं।' इस कथांश में एक दूसरे से बातचीत करने से परिभाषण है।

वेणीसंहार में—भीम—(द्रौपदी से) 'राजाओं की सभा में जिस नरपशु दुःशासन के द्वारा तुम घसीटा गई' यहाँ से लेकर 'कहाँ है वह भानुमती, जो पाण्डव-पत्नियों को हँसती है।' यहाँ तक भाषण देने के कारण परिभाषण है।

नान्दी टीका

भरत के अनुसार परिभाषण है परिवाद, अर्थात् आत्म-निन्दा। अभिनवगुप्त के अनुसार परिभाषण के संवादकर्ता एक दूसरे से अपने अपराधों का रहस्योद्घाटन करते हैं। परिभाषण का एक अर्थ निन्दा करना है, जिसे धनंजय और धनिक ग्रहण करने में असमर्थ रहे।

दशरूपक मे मिथःजल्प को परिभाषण कहा गया है। परि=मिथः। भाषण=जल्प। इस प्रकार का परिभाषण तो रूपक में सर्वत्र होता है। अनवस्था दोष से यह परिभाषा चिन्त्य है।

—प्रसादः पर्युपासनम्।

यथा रत्नावल्याम्—'देव! क्षम्यताम्' इत्यादिना दर्शितम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः —(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये, दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण ।' इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाराधितत्वात् प्रसाद इति ?

प्रसाद है किसी की आराधना करना ।

उदाहरण –'रत्नावली में—देव क्षमा करें ।' आदि कथांश में प्रकट है । वेणीसंहार में—भीम—(द्रौपदी के पास जाकर) हे देवि, द्रौपदि, शत्रुकुल का क्षय होने पर बधाई ।' इस कथांश में भीम के द्वारा द्रौपदी की आराधना की गई है ।

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः —

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—यथाह देवी (रत्नावलीं गृह्णाति)'

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—णाध विसुमरिदह्मि एदं वावारं । णाधस्स पसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान् बध्नाति) (नाथ ! विस्मृतास्म्येतं व्यापारम् । नाथस्य प्रसादेन पुनः शिक्षिष्ये ।') इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसंयमनयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्दः ।

आनन्द है अभीष्टार्थ की प्राप्ति ।

उदाहरण—'रत्नावली में राजा—जैसा देवी कहती हैं । (वह रत्नावली को ग्रहण कर लेता है ।)

वेणीसंहार में—द्रौपदी—नाथ, इस काम (वेणीसंहार) को भूल चुकी हूँ । आप की कृपा से फिर सीखूँगी (वह केशों को बाँधती है) ।' इन कथांशों में अभीष्ट रत्नावली की प्राप्ति और केश का सँवारना वत्सराज और द्रौपदी के द्वारा प्राप्त होने से आनन्द नामक अङ्ग है ।

—समयो दुःखनिर्गमः ।। ५२

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस बहिणिए ।' ('समाश्वसिहि भगिनिके ।') इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात् समयः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भगवन् ! कुतस्तस्य विजयादन्यत्, यस्य भगवान् पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्तिं
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ।।' ६.४३

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।

समय है दुःख का दूर हो जाना।

उदाहरण—'रत्नावली में वासवदत्ता (रत्नावली का आलिंगन करके)—बहिन, आश्वस्त हो, आश्वस्त हो।' इस कथांश से दोनों बहनों का परस्पर मिलने से दुःख का मिट जाना समय है।

'वेणीसंहार में—युधिष्ठिर—भगवन्, विजय छोड़कर उसे और क्या मिलेगी, जिसके लिए भगवान् पुराण पुरुष स्वयमेव नारायण मङ्गल कामना करते हैं?

हे देव, गौरवशाली महदादि का क्षोभ उत्पन्न करने वाली (प्रकृति) से उत्पन्न विग्रह वाले गुणी, प्रजा के उदय और नाश के कारण भूत, अजन्मा, अमर और अचिन्त्य आप के चिन्तन मात्र से ही कोई संसार में दुःखी नहीं रह जाता। फिर आप के साक्षात् दर्शन से अनुपलभ्य क्या रहा?'

इस कथांश से युधिष्ठिर का दुःख मिटना प्रकट है।

समय = सम + अय। अमरकोश के अनुसार अयः शुभावहो विधिः अर्थात् अय सौभाग्य है। अतएव समय परम सौभाग्य है, दुःख का अत्यन्ताभाव।

५३. कृतिर्लब्धार्थशमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते? वासवदत्ता—अज्जउत्त! दूरे से मादुउलं। ता तधा करेसु, जधा बन्धुअणं ण सुमरेदि।' ('आर्यपुत्र! दूरेऽस्या मातृकुलम्। तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति।') इत्यन्योन्यवचसा लब्धाया रत्नावल्या राज्ञः सुश्लिष्टये उपशमनात् कृतिरिति।

यथा च वेणीसंहारे—'कृष्णः—एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि—' इत्यादिना 'अभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्ति' इत्यन्तेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः।

५३. कृति है प्राप्त वस्तु का स्वाभाविक रूप से अङ्गीकरण या दृढीकरण।

उदाहरण—'रत्नावली में राजा—'कौन देवी के अनुग्रह का समादर नहीं करता?' वासवदत्ता—'आर्यपुत्र, इसका मातृकुल दूर है। तो आप ऐसा करें, जिससे यह अपने बन्धुजनों का स्मरण न करे।' इस परस्पर की बातचीत से प्राप्त हुई रत्नावली का वत्सराज से सविशेष मेलजोल बढ़ाने के लिए जो उपशमन (शान्तिमय व्यवहार) से अङ्गीकरण है, वह कृति है।

वेणीसंहार में कृष्ण—'ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि···' इत्यादि से लेकर 'अभिषेक का समारम्भ करते हुए विराजमान हैं' यहां तक राज्य-प्राप्ति का अभिषेक की मांगलिक विधियों के द्वारा स्थिरीकरण (सारे वातावरण को सुषम कर देना) कृति है।

नान्दी टीका

अभिनव गुप्त के अनुसार क्रोध आदि का प्रशमन करना द्युति है। किसी वस्तु को प्राप्त करने में क्रोध, आवेश, संभ्रम आदि रहते हैं। इनको वस्तु की प्राप्ति होने पर दूर करना कृति हैं।

धनञ्जय की कृति भरत के अनुसार द्युति है। इसमें पाये हुए फल को शान्त वातावरण बनाकर सुप्रतिष्ठित होने की बात कही जाती है।

—मानाद्याप्तिश्च भाषणम्।

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति ?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोसलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥'

इत्यनेन कामार्थमानादिलाभाद् भाषणमिति।

मानादि प्राप्ति की चर्चा भाषण है। जिससे मानादि प्राप्त हों, उसके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन होता है।

उदाहरण—रत्नावली में—'राजा इससे बढ़कर भी क्या कुछ प्रिय हो सकता है ?—विक्रमबाहु (सिंहल-नरेश) अपने समान हो गया, अर्थात् उससे श्वसुर का सम्बन्ध हो गया। पृथ्वी-ललाम-भूता प्रिया सागरिका समुद्र-पर्यन्त भूमि की प्राप्ति का कारणभूत मुझे (पत्नी रूप में) मिली। देवी भी भगिनी से मिलाकर प्रसन्न कर ली गई। कोशल देश जीत लिया गया। हे श्रेष्ठ अमात्य, तुम्हारे होने पर फिर क्या नहीं रहा, जिसके लिए स्पृहा की जाय ?'

इस कथांश में कामार्थ मानादि का लाभ—(विषयक कृतज्ञता ज्ञापन) होने से भाषण है।

नान्दी टीका

भाषण नामक सन्ध्यंग में किसी को सम्मानित करने की जो चर्चा होती है, वही गर्भसन्धि के संग्रह नामक सन्ध्यंग में भी होती है। अभिनवगुप्त ने बताया है कि गर्भसन्धि में अंग वैकल्पिक होता है, किन्तु निर्वहण सन्धि में यह अवश्यंभावी है।

कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥ ५३

कार्यदर्शनं पूर्वभावः। यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—एवं विज्ञाय भगिन्याः संप्रति करणीये देवी प्रमाणम्। वासवदत्ता—फुडं ज्जेव किं ण भणेसि ? पडिवाएहि से रअणमालं त्ति।' ('स्फुटमेव किं न भणसि ? प्रतिपादयास्मै रत्नमालामिति।') इत्यनेन 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति

कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात् पूर्वभाव इति ।

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनम्। यथा वेणीसंहारे—'(नेपथ्ये) महासमरानलदग्ध-शेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात् क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनममुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या वद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ॥ ६.४२

युधिष्ठिरः—'देवि ! एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तल-चारिणा सिद्धजनेन ।' इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति । लब्धार्थशमनात् कृतिरपि भवति ।

पूर्वभाव में कार्य (क्या किया जाय) का परिचय मिलता है ।

उपगूहन में अद्भुतवस्तु की प्राप्ति होती है ।

कार्यदर्शन पूर्वभाव है । उदाहरण— रत्नावली में यौगन्धरायण—ऐसा जानकर अपनी भगिनी सागरिका के विषय में अब क्या करना है ?—इस सम्बन्ध में देवी सर्वेसर्वा हैं । वासवदत्ता—स्पष्ट ही क्यों नहीं कहते कि इनके (आर्यपुत्र वत्सराज के) गले में रत्नमाला डाल दी जाय ।' इस कथांश में वत्सराज को रत्नावली दी जाय— ' यौगन्धरायण के इस अभिप्राय को वासवदत्ता के द्वारा जान लिया गया—यह पूर्व-भाव है ।

नान्दी टीका

पूर्वभाव के स्थान पर नाट्यशास्त्र में पूर्ववाक्य मिलता है । दशरूपक के अनुसार पूर्वभाव में श्रोता अपने कर्तव्य का संकेत पाने की चर्चा करता है ।

भरत के पूर्ववाक्य के परिभाषानुसार इसमें पहले कही हुई बात का प्रत्यक्ष रूप सामने आता है । अर्थात् पहले जिस घटना की भविष्य-वाणी की गई थी, वह घटित होकर सामने आ जाती है ।

परवर्ती नाट्याचार्यों में से कतिपय पूर्ववाक्य और अन्य पूर्वभाव नाम को ग्रहण करते हैं ।

अद्भुत वस्तु की प्राप्ति उपगूहन है । उदाहरण—'वेणीसंहार में (नेपथ्य में) महासमर की अग्नि से जलने पर भी बचे हुए राजाओं का कल्याण हो—

जिस (केशपाश) के खुले होने से राजाओं पर प्रहार करने वाले क्रोधान्ध पाण्डवों के द्वारा सभी दिशाओं में राजाओं के अन्तःपुर की रानियाँ प्रतिदिन खुले केशपाश वाली बनाई गईं, अर्थात् उन्हें वैधव्य का दुःख भोगना पड़ा, वही कृष्णा का

केशपाश क्रुद्ध यम के सखा के समान कौरवों के लिए धूमकेतु है। वह सौभाग्य से बँध गया है। अब प्रजा का संहार समाप्त हो और राजाओं का कुशल हो।

युधिष्ठिर—देवि, यह तुम्हारे केश का प्रसाधन आकाशचारी सिद्धों के द्वारा अभिनन्दित है।' इस कथांश में अद्भुत अर्थ की प्राप्ति (सिद्धों के द्वारा अभिनन्दन) होने से उपगूहन है। यहाँ लब्धार्थ-शमन से कृति होती है।

नान्दी टीका

उपगूहन में अद्भुत-प्राप्ति पद में अद्भुत (अलौकिक) तो है ही। कतिपय आचार्यों का मत है कि दुःसाध्य भी अद्भुत है।

५४. वराप्तिः काव्यसंहारः

यथा—'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।' इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति।

५४. काव्यसंहार में वर पाने का कथांश होता है।

उदाहरण—'आपका कौन-सा महान् प्रिय करूं'। इस कथांश से काव्यार्थ समाप्ति कर देने से काव्यसंहार होता है।

प्रशस्तिः शुभशंसनम्।

यथा वेणीसंहारे—'प्रीतश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु—
अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषं
भवतु भगवन् भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डल॥ ६.४६

इति शुभशंसनात् प्रशस्तिः। इत्येतानि चतुर्दशनिर्वहणाङ्गानि। एवं चतुःषष्ट्यङ्गसमन्विताः पञ्चसंधयः प्रतिपादिताः।

प्रशस्ति शुभशंसन है।

उदाहरण—वेणीसंहार में युधिष्ठिर कहते हैं—आप प्रसन्न हैं तो ऐसा हो।

मानव उदारमति रहकर पूर्ण जीवन जिये। पुरुषोत्तम (भगवान्) के प्रति अद्वैत भगवद्भक्ति हो। राजा भुवन को प्रभावित करने वाला, विद्वानों का प्रेमी, गुणों का विशेषज्ञ, सदा पुण्यशाली और राजमण्डल का शिरोमणि हो।' इसमें शुभ की चर्चा करने के कारण प्रशस्ति है। ये १४ अंग निर्वहण सन्धि के हैं। इस प्रकार ६४ अङ्गों से गुँथी हुई पाँच सन्धियाँ बताई गईं।

नान्दी टीका

काव्य-संहार और प्रशस्ति वस्तुतः सन्ध्यंग नहीं हैं, क्योंकि सन्ध्यंग होने के

लिए तत्सम्बन्धी कथांश का बीजफलानुवर्त्ती होना आवश्यक लक्षण है। काव्य-संहार और प्रशस्ति में ऐसा नहीं होता।

जैसा धनिक ने बताया है, पूर्वोक्त ६४ सन्ध्यंगों में से कुछ प्रधान और शेष अप्रधान हैं। इससे यह स्पष्ट है कि नाटककार प्रधान सन्ध्यंगों को प्राथमिकता देते हैं। सभी सन्ध्यंगों को किसी भी एक नाटक में स्थान नहीं मिल पाता।

अभिनवगुप्त ने भरत की कारिकाओं के अनुसार स्पष्ट किया है कि किसी एक ही सन्धि में कोई एक या अनेक सन्ध्यंग एक या अनेक बार आ सकते हैं।

सन्ध्यंगों का क्रम पूर्वोक्त रूपकों में अपनाना आवश्यक नहीं है। कोई भी सन्ध्यंग किसी सन्धि में किसी दूसरे सन्ध्यंग के पश्चात् आ सकता है। किन्तु कतिपय सन्ध्यंगों को तो जहाँ बताया गया है, वहीं रहना चाहिए। यथा, उपक्षेप, परिकर और परिन्यास मुखसन्धि के आरम्भ में इसी क्रम में रहेंगे ही।

सन्ध्यंगों के बीच-बीच में सन्ध्यन्तर और लास्याङ्ग भी आते रहते हैं।

एक ही कथांश अनेक सन्ध्यंगों का उदाहरण हो सकता है।

कतिपय सन्ध्यंग जिस सन्धि के अन्तर्गत बताये गये हैं, उनके अतिरिक्त दूसरी सन्धियों में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। उदाहरण के लिए युक्ति नामक सन्ध्यंग मुखसन्धि में पंचम है, किन्तु अर्थ के सम्प्रधारण के लिए इसे अन्य सन्धियों में भी रखा जाता है।

षट्प्रकारं चाङ्गानां प्रयोजन मित्याह

उक्ताङ्गानां चतु:षष्टि: षोढा चैषां प्रयोजनम् ।।५४

पूर्वोक्त अङ्गों के छ: प्रयोजन बताते हैं।

इन ६४ अङ्गों के छ: प्रकार के प्रयोजन होते हैं।

कानि पुनस्तानि षट् प्रयोजनानि ?

५५. इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्ति: प्रकाशनम् ।

राग: प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षय: ।। ५५

विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयराग-वृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गै: षट्प्रयोजनानि संपाद्यन्त इति।

ये छ: प्रयोजन क्या हैं ?

५५. (१) इष्ट अर्थ की रचना (२) गोप्यगुप्ति (३) प्रकाशन (४) प्रयोग का राग (५) आश्चर्य और (६) वृत्तान्त का अनुपक्षय।

ये क्रमश: हैं (१) जो बात कहना चाहता है, उसका निबन्धन (२) जो बात छिपाना चाहता है, उसको प्रकट न होने देना। (३) जो बात प्रकाश में लाना चाहता है, उसका प्रकाशन (४) अभिनयात्मक रमणीयता का संवर्धन (५) चमत्कारपरायणता और (६) काव्य के इतिवृत्त का विस्तार। इन तत्वों से छ: प्रयोजन निर्मित किये जाते हैं।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय दोनों ने सन्ध्यंगों के छः प्रयोजन बताये हैं। भरत ने छः प्रयोजनों की व्याख्या की है। यथा

इष्ट प्राप्ति (इष्टार्थस्य रचना) में अभीष्ट प्रयोजन की रसास्वादमयी विस्तारणा होती है। यह सभी सन्ध्यंगों का प्रयोजन हैं। वृत्तान्तानुपक्षय का अभिप्राय है कथाशरीर को क्षीण न होने देना। सभी सन्ध्यंगों का यह प्रयोजन है।

प्रयोग-रागप्राप्ति के अन्तर्गत ऐसे तत्त्व लाये जाते हैं, जिनसे उस कथांश की रमणीयता द्विगुणित हो। पर्युपासन, नर्म, नर्मद्युति आदि इसके उदाहरण हैं। गुह्यगूहन का उपयोग पुनरुक्ति से वचने के लिए होता है और गापनीय कथांश प्रकट नहीं किये जाते।

आश्चर्यवदभिख्यान के द्वारा किसी पुरानी घिसी-पिटी कथा में ऐसी वातें जोड़ दी जातो हैं कि उस कथा में श्रोता को आश्चर्य का अनुभव होता है।

अर्थोपक्षेपक

पुनर्वस्तुविभागमाह—

> ५६. द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
> सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्॥ ५६

वस्तु का विभाजन एक और प्रकार से बताते हैं।[1]

५६. सारी कथावस्तु के दो भाग करना चाहिए—(१) थोड़ा तो सूच्य मात्र होता है और (२) शेष दृश्य-श्रव्य होता है।

नान्दी टीका

कतिपय विद्वान् श्रव्य को दृश्य से अलग मानते हैं। यह अनावश्यक और निराधार है।

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्रव्यमित्याह—

> ५७. नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
> दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥ ५७

कैसा सूच्य है और कैसा दृश्य और श्रव्य है—यह बताते हैं—

---

१. यह विभाजन अभिनयात्मक है। यह मूलतः वस्तु का विभाजन नहीं, अपितु वस्तु-विस्तर का विभाजन है। वही वस्तु का विभाजन वास्तविक है जो वस्तु की विशेषताओं पर आधारित हो।

५७. सूच्य में कथावस्तु का विस्तर नीरस और अनुचित होता है। दृश्य वस्तु विस्तर मधुर, उदात्त और सर्वतः रस-भाव से निर्भर होता है।

नान्दी टीका

वस्तु इतिवृत्त है और वस्तु विस्तर से तात्पर्य है किसी घटना का वर्णन। नियमानुसार सूच्य में वस्तु-विस्तर नीरस और अभिनय की दृष्टि से अनुचित, अयोग्य या असम्भव होना चाहिए।

दृश्य को मधुर और उदात्त ही होना चाहिए—यह सर्वथा आवश्यक नहीं प्रतीत होता। अभिज्ञानशाकुन्तल में पञ्चम अङ्क में दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान न तो मधुर है और न उदात्त।

किसी रूपक में क्या दृश्य हो और क्या सूच्य हो, यह आगे काव्य-बन्ध का निर्णय करते हुए अङ्क की परिभाषा में स्पष्ट किया जायेगा।

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह—

५८. अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥५८

सूच्य की निबन्धन विधि बताते हैं।

५८. सूच्य को पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा प्रतिपादित करना चाहिए। वे पाँच हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार।

नान्दी टीका

सूच्य अर्थोपक्षेपक के द्वारा दिखाया जाय और दृश्य अङ्क में दिखाया जाय—यह धनंजय का वक्तव्य अर्धसत्य है। आगे दशरूपक की १.६३ की नान्दी टीका में हम सोदाहरण स्पष्ट करेंगे कि सूच्य अङ्क भाग में भी मिलता है और वह भी पर्याप्त मात्रा में। प्रवेशक और विष्कम्भकादि में केवल सूच्य ही नहीं होता, दृश्य भी होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के छठें अङ्क के पूर्व प्रवेशक में धीवर पर मार पड़ती है—यह दृश्य ही तो है।

यहाँ यह जान लेना उपयोगी होगा कि प्रवेशकादि में ऐसी ही वस्तु दृश्य होगी, जो फलानुवर्ती न हो। फल से ऐसे दृश्य का साक्षात् सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के पूर्व प्रवेशक में ठोकर लगने से फूल भूमि पर बिखर जाते हैं—यह दृश्य परोक्ष रूप से ही फलानुवर्ती कथा का अंग है।[1]

तत्र विष्कम्भः—

५९. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥५९

१. इस घटना से शकुन्तला का भावी अनिष्ट व्यंग्य है।

६०. एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ।

अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

स द्विविधः शुद्धः, सङ्कीर्णश्चेत्याह—

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजितः संङ्कीर्ण इति ।

५९. विष्कम्भक—पहले ही घटित या भविष्य में होने वाले कथांश को बताने वाला और संक्षेप में अर्थ (कथा की घटनाओं से सम्बद्ध बातें) प्रकट करने वाला विष्कम्भक होता है । इसमें केवल मध्यम वर्ग के पात्र एक या अनेक हों तो शुद्ध विष्कम्भक होता है । यदि मध्यम और अधम दोनों वर्ग के पात्र साथ ही रहें तो वह संकीर्ण कोटि का विष्कम्भक है ।

अतीत और भावी कथा के अवयवों का ज्ञापक और मध्यम कोटि के एक या दो पात्रों के द्वारा प्रयोजित विष्कम्भक होता है ।

नान्दी टीका

प्रवेशक और विष्कम्भक को वृत्त और वर्तिष्यमाण घटनाओं तक के लिए ही सीमित करना ठीक नहीं है । वर्त्तमान घटना के कथांश भी इनके द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं । यथा, उत्तररामचरित के छठें अङ्क के पूर्व मिश्र विष्कम्भक में विद्याधर उसी समय चल रही लड़ाई का वर्णन प्रस्तुत करता है ।

कारिका ५९ तथा ६० की अवलोक टीका में धनञ्जय की भ्रान्ति चिन्त्य है । पाठक ६०वीं कारिका के प्रथम चरण को ५९वीं कारिका के साथ पढ़ें तो विष्कम्भ का अभिप्राय ठीक समझ में आयेगा ।

अथ प्रवेशकः—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥६०

६१. प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते । अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः । अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

प्रवेशक—उसके (विष्कम्भक के) समान अनुदात्त उक्तियों से निष्पन्न प्रवेशक होता है । यह नीच पात्रों के द्वारा अभिनीत होता है । यह दो अङ्कों के बीच में रखा जाता है । वह उन दो अङ्कों में न कही हुई घटनाओं की सूचना देता है ।

तद्वत् से अभिप्राय है भूत-भविष्य की घटनाओं को प्रवेशक में विष्कम्भ की भाँति बताया जाता है। अनुदात्त उक्ति से एक नीच या अनेक नीच पात्रों के द्वारा अभिनीत होने से विष्कम्भक के लक्षण का अपवाद होता है। दो अङ्कों के बीच में होता है—इससे प्रथम अङ्क के पूर्व इसका निषेध है।[१]

नान्दी टीका

इस प्रसङ्ग में 'प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः' यह वक्तव्य विचारणीय है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रवेशक को दो अङ्कों के बीच में होना चाहिए, न कि किसी अङ्क का आरम्भिक भाग बनकर। आजकल मुद्रित रूपकों में प्रवेशक और विष्कम्भक को अङ्क के भागरूप में दिया जाता है। यह भूल है। रूपकों की बहुशः हस्तलिखित प्रतियों में प्रवेशक या विष्कम्भक के समाप्त हो जाने पर अङ्क संख्या का निर्देश किया जाता है। यही रीति समीचीन है।

वास्तव में प्रवेशक और विष्कम्भक सर्वथा अलग-अलग प्रकार के वस्तु विन्यास हैं और शास्त्र की दृष्टि से मुद्रित रूपकों में भी इन्हें अङ्क से अलग-थलग दिखाना चाहिए। धनिक ने भी अपनी टीका में 'प्रथमाङ्के प्रतिषेधः' लिखकर इस भ्रान्ति की जड़ जमाई है। धनिक का यह वक्तव्य चिन्त्य है।

प्रवेशक और विष्कम्भक में संवाद द्वारा या अकेले ही जो व्यक्ति सूचना देते हैं, वे नीच और मध्यम आदि कोटि के होते हैं। दशरूपक में यह नहीं बताया गया कि उत्तम, मध्यम और नीच पुरुष और स्त्री कौन हैं। भरत ने इनके लक्षण बताये हैं। यथा,

उत्तम—जितेन्द्रिय, ज्ञानी, शिल्पज्ञ, शास्त्रज्ञ, गम्भीर, उदार, स्थिर, त्यागी और गुणी।

मध्यम—लोकोपचार-चतुर, शिल्पशास्त्र-विशारद, विज्ञानी और मधुर।

अधम—रूखा बोलने वाला, दुःशील, कुसत्त्व, स्थूल-बुद्धि, क्रोधी, घातक, मित्रहन्ता, छिद्रदर्शी, पिशुन, कृतघ्न, उद्धत, आलसी, कलही, स्त्रैण, सूचक, पापी और परद्रव्यापहारी।

भरत के भी उपर्युक्त लाक्षणिक विशेषण कुछ उपयोगी नहीं हैं। उत्तम, मध्यम आदि पुरुषों को मर्यादा और पद की दृष्टि से निर्धारित होना चाहिए। तभी कुछ स्पष्टता आती। व्यावहारिक रूप में देखा जा सकता है कि जहाँ-कहीं प्रवेशक हैं, उनके पात्र इतने नीच नहीं ही हैं, जितना भरत ने बताया है। उदाहरण के लिए उत्तररामचरित के षष्ठ अङ्क के पूर्व मिश्र-विष्कम्भक में, विद्याधर-दम्पती का संवाद है। इन दोनों

---

१. किसी अङ्क के पहले एक या अनेक प्रवेशक और विष्कम्भक हो सकते हैं। अभिज्ञान-शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के पूर्व तीन विष्कम्भक हैं।

में कौन मध्यम है और कौन अधम—यह भरत के पूर्वोक्त विशेषणों के आधार पर नहीं निर्णीत हो सकता। मध्यम और अधम का अन्तर उनकी उक्ति के औदात्य से कहीं-कहीं स्पष्ट हो सकता है।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥६१

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका। यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना)। इति नेपथ्यपात्रेण वासन्त्यात्रेयीसूचनाच्चूलिका।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः। प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान् कौशिकमुनिः
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥' ४·१

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवैः 'रामेण परशुरामो जितः इति सूचनाच्चूलिका।

चूलिका—जवनिका की दूसरी ओर स्थित पात्रों के द्वारा जो घटनात्मक सूचना दी जाती है, वह चूलिका है।

नेपथ्यपात्र के द्वारा घटना की सूचना देना चूलिका है।

उदाहरण—'उत्तररामचरित में द्वितीय अङ्क के आरम्भ में (नेपथ्य में) तपोधना का स्वागत। (इसके पश्चात् तपोधना प्रवेश करती है)' इस कथांश मे नेपथ्य-पात्र वनदेवता के द्वारा आत्रेयी के आने की सूचना होने से चूलिका है।

वीरचरित में चतुर्थ अङ्क के आदि में—(नेपथ्य में)' भो भो देवो, मंगलोत्सव करें—

कृशाश्व मुनि के शिष्य, भगवान् विश्वामित्र विजयी हों। सूर्यवंश में अब क्षात्रधर्म संसार में विजयी हो। क्षत्रियों के संहारक (परशुराम) को जीतने वाले, संसार को अभयदान का व्रत धारण करने वाले, लोकों को शरण देने वाले, सूर्यवंश के चन्द्र (राम) विजयी हों।, इस कथांश में नेपथ्य के पात्र देवताओं के द्वारा 'राम ने परशुराम को परास्त किया' यह सूचना होने से चूलिका है।

नान्दी टीका

चूलिका की परिभाषा और इसके उदाहरण से धनिक और धनञ्जय ने संशयास्पद स्थिति उत्पन्न कर दी है। वास्तव में चूलिका और नेपथ्योक्ति को सर्वथा एक दूसरे से भिन्न बताना आवश्यक था, जो न भरत ने नाट्यशास्त्र में किया और न परवर्ती

नाट्याचार्यों ने ही इनको पृथक्-पृथक् बताया। परिणाम यह हुआ कि इन दोनों की गुत्थी बन गई है।

चूलिका मूलतः सूत, मागध और वन्दियों आदि की उक्ति है, जिनसे अङ्कान्त में राजा या नायक को समय की गति-विधि का ज्ञान होता है। यह दो अङ्कों को सुश्लिष्टतया जोड़ देने के उद्देश्य से प्रयुक्त होती है। कोहल ने बताया है—

त्रिधाङ्कोऽङ्कावतारेण चूडयाङ्कमुखेन वा।
अर्थोपक्षेपणं चूडा बह्वर्थैः सूत-वन्दिभिः॥

नेपथ्योक्ति का चूलिका से अन्तर नीचे स्पष्ट किया गया है[1]

	नेपथ्योक्ति	चूलिका
(क)	नेपथ्योक्ति के वक्ता राम और भीम जैसे नायक पुरुष हो सकते हैं। उत्तर रामचरित और वेणी-संहार के तृतीय अङ्क में राम और भीम की नेपथ्योक्ति प्रसिद्ध हैं।	चूलिका सूत, मागध, बन्दी या इनके सजातीय अनुत्तम और अनायक पुरुषों की उक्ति होती है।
(ख)	नेपथ्योक्ति का वागभिनय प्रशस्त होता है।	चूलिका में वागभिनय या किसी प्रकार के अन्य अभिनय का अभाव होता है।
(ग)	प्रायशः वर्तमानकालिक घटना के विषय में उसका कर्त्ता भी नेपथ्योक्ति करता है।	भूतकालिक घटना के विषय में प्रायः घटक से व्यतिरिक्त पुरुष सूचना देते हैं।

६२. अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनम्।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रम्। तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति। यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—'(प्रविश्य) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः। इतरे—क्व भगवन्तौ? सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके। इतरे—तदनुरोधात्तत्रैव गच्छामः' इत्यङ्कसमाप्तौ '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः) इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेद उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति।

६२. अङ्कास्य—अङ्क के अन्त में आने वाले पात्रों के द्वारा आगे आने वाले अंक के आरम्भ की घटना की सूचना अङ्कास्य है।

अङ्क के अन्त में आया हुआ पात्र अङ्कान्त-पात्र है। उस पात्र के द्वारा छिन्न

१. विशेष विवरण के लिए दशरूपक-तत्त्वदर्शनम् के पृष्ठ ६६-६८ द्रष्टव्य।

(अगले) अङ्क के मुख भाग की घटना की सूचना होती है। इस सूचना के द्वारा अगले अङ्क का अवतार होता है। पूर्व अङ्क के अन्त में सूचना अङ्कास्य अर्थात् अगले अंक का आस्य (मुख) है।

उदाहरण—महावीरचरित में द्वितीय अङ्क के अन्त में—(प्रवेश करके) सुमन्त्र—भगवत्स्वरूप वसिष्ठ तथा विश्वामित्र आप लोगों को परशुराम के साथ बुला रहे हैं।

अन्य लोग—वे दोनों महानुभाव कहाँ हैं?
सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास।
अन्य लोग—उनके आदेश से वहीं चल रहे हैं।

यहाँ अङ्क समाप्त होने पर अगले अङ्क में (तब रंगपीठ पर वसिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम हैं।) इस कथांश में पूर्व अङ्क के अन्त में आये पात्र सुमन्त्र के द्वारा शतानन्द और जनक की कथा का विच्छेद करके अगले अंक के आरम्भिक भाग की घटना की सूचना होने से अंकास्य है।

नान्दी टीका

अंक के अंत में अङ्कास्य हो सकता है, जिसके द्वारा अगले अङ्क के आरम्भिक भाग की कथावस्तु की सूचना दे देते हैं। इस परिभाषा को व्यावहारिकता में दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं। पहले तो यह कि अर्थोपक्षेपक होने के नाते इसे किसी अङ्क का भाग नहीं होना चाहिए और परिभाषा तथा उदाहरण को देखने से यह स्पष्ट है कि इसे अङ्क का भाग बताया गया है। अङ्क में तो सरस वस्तु-विस्तर मात्र होता है। अतएव अंकास्य अंकान्त में होने से नीरस वस्तु विस्तर नहीं रहा।

यहाँ धनिक की टीका भिन्न पाठ को लेकर दी गयी है। इस पाठ में छिन्नाङ्कास्यार्थसूचनम् से अङ्कास्य से अङ्क का मुख अर्थ लिया गया है और व्याख्या की गई है। अङ्कास्य में अगले अंक के प्रारम्भ में आने वाले कथांश का संकेत होता है। धनिक की व्याख्या से जो पाठ समुदित है, वही ठीक है, क्योंकि वह समसामयिक है।

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥६३॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचित एव पूर्वाङ्काविच्छन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्य सोऽङ्कावतारः, यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते विदूषकः—तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं विसज्जथ। अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावयिस्सदि।' ('तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम्। अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति!') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसंक्रान्तिशंनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति।

अङ्कावतार—अगला अंक पिछले अंक के अन्त के पात्र और कथावस्तु से अनुबद्ध हो तो अगले अंक का इस प्रकार अपृथक् रूप से आना अङ्कावतार है।

जहाँ अङ्कान्त के प्रविष्ट पात्र के द्वारा सूचना दी जाती है कि पूर्व अङ्क से अविच्छिन्न घटना को समन्वित करके अगला अंक आ रहा है और (पूर्वापर अङ्कों के बीच में प्रवेशक विष्कम्भकादि नहीं हैं तो अगले अंक को अङ्कावतार कहते हैं। उदाहरण के लिए मालविकाग्निमित्र में प्रथम अङ्क के अन्त में विदूषक—तो आप दोनों देवी के प्रेक्षागृह में जाकर संगीत की सज्जा करके महाराज के पास दूत भेजें। अथवा मृदङ्ग-ध्वनि ही इन्हें उठा देगी।' यहाँ से लेकर मृदङ्गशब्द सुनने के पश्चात् सभी पात्र जो प्रथम अङ्क में कार्यशील थे, वे निष्क्रान्त होकर द्वितीय अङ्क के आदि में कार्यशील हैं। इस प्रकार प्रथम अङ्क के कथार्थ को न तोड़ते हुए द्वितीय अङ्क का अवतार अङ्कावतार है।

नान्दी टीका

अङ्कावतार के अर्थोपक्षेपक होने की बात असमंजस में डाल देती है। वस्तुतः इसमें किसी अर्थ (वृत्त या घटना) की सूचना होता ही नहीं। परिभाषा के अनुसार इसमें तो अङ्कान्त में केवल यही बताया जाता है कि अगले अङ्क की कथा पिछले अङ्क की कथा के अनुक्रम में है। कथा का क्रम टूटा नहीं है और पिछले अङ्क के अन्त के पात्र अगले अङ्क के आरम्भ मे आ जाते हैं।

वस्तुतः अङ्कास्य और अङ्कावतार अर्थोपक्षेपक नहीं हैं। ये केवल पूर्वोत्तर अङ्कों को सुश्लिष्ट विधि से जोड़ देने के उपक्रम मात्र हैं। कोहल ने स्पष्ट किया है कि पूर्वोत्तर अङ्कों का सुश्लिष्ट अनुक्रम अङ्कावतार, अंकमुख और चूलिका के द्वारा होता है।[1]

प्रवेशक और विष्कम्भक भी पूर्वोत्तर अङ्कों का संश्लेषण करते हैं और ऐसा करने के लिए उनके बीच की घटी कथा की सूचना द देते हैं।

निष्कर्ष यह है कि

(क) प्रवेशक, विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार—ये पाँचों ही जैसे-तैसे पूर्वोत्तर अङ्कों का संश्लेषण करते हैं।

(ख) अर्थोपक्षेपण (अनभिनीत कथावस्तु की सूचना देने) के कारण प्रवेशक, विष्कम्भक और चूलिका मात्र अर्थोपक्षेपक हैं।[2]

(ग) चूलिका नेपथ्योक्ति से भिन्न तत्त्व है।

(घ) अकास्य और अकावतार अर्थोपक्षेपक नहीं हैं।

---

१. त्रिधाङ्कोऽङ्कावतारेण चूडयाङ्कमुखेन वा।
अर्थोपक्षेपणं चूडावद्वर्थैः सूत्रवन्दिभिः॥
ना० शा० १८.१६ पर अभिनवभारती में उद्धृत।

२. चूलिका में आवश्यक रूप से अर्थोपक्षेपण नहीं होता। कभी-कभी तो चूलिका में केवल काल-वर्णनमात्र होता है। ऐसी चूलिका अर्थोपक्षेपक नहीं कही जा सकती।

६४. एभिः संसूचयेत् सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

इन (अर्थोपक्षेपकों) के द्वारा कथा के सूच्य भाग की सूचना देनी चाहिए। दृश्य भाग को अङ्कों के द्वारा प्रेक्षणीय बनाना चाहिए।

नान्दी टीका

सूच्य, दृश्य और श्रव्य का विवेचन दशरूपक में स्पष्ट नहीं है। इसे स्पष्ट करने के लिए लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर इनकी विशेषतायें अधोविध प्रदर्शित हैं।

रूपक की घटनायें प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से दो प्रकार की होती हैं—अनुकृत और अननुकृत। इनमें से अनुकृत प्रत्यक्ष होने के कारण दृश्य हैं। अनुकृत घटना के कर्त्ता की भूमिका में रंगपीठ पर भूतकालीन घटना का वर्त्तमान रूप अनुकरण के द्वारा पात्र प्रस्तुत करता है। इस अनुकरण या अभिनय के द्वारा प्रेक्षक को तथा रंगपीठ के उच्च-कोटिक पात्रों को भी उस घटना का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए शकुन्तला का प्रस्थान स्पष्ट है। सूच्य नामक अननुकृत घटना के प्रस्तुतीकरण के दो स्थान होते हैं (१) अङ्क के पहले और (२) अङ्क के मध्य मे। प्रथम कोटि का सूच्य अंक के आरम्भ होने के ठीक पूर्व विष्कम्भक और प्रवेशक के रूप में होता है। इसमें मध्यम और अधम पात्रों के संवाद के द्वारा घटना-विषयक चर्चा प्रेक्षकों के लिए प्रस्तुत कर दी जाती है। उस घटना के कर्त्ता की भूमिका में पात्र का आना आवश्यक नहीं है और घटना का अनुकरण तो होता ही नहीं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में दुर्वासा का शाप। द्वितीय कोटि में आने वाली चूलिका और आकाशवाणी हैं। ये दोनों आकस्मिक रूप से अंक के मध्य भाग में चलती हुई कथा के प्रसंग में किसी भूत या भावी घटना को सूचना मात्र प्रस्तुत कर देती हैं। इस सूचना का उपयोग प्रेक्षकों के लिए तो होता ही है, साथ ही रंग के पात्रों के लिए इसका तात्कालिक महत्त्व सविशेष होता है, जिससे चलती हुई घटना में महत्त्वपूर्ण मोड़ आ जाता है।

द्वितीय कोटि में अधिक महत्त्वपूर्ण है ऐसी घटनाओं की सूचना जो उस घटना के प्रत्यक्षदर्शी या दूतादि की वार्ता या पत्र के सन्देश से या किसी महत्त्वपूर्ण पात्र की एकोक्ति से प्रेक्षकों को तथा रंग के महत्त्वपूर्ण पात्रों को भी बताई जाती है। इसमें प्रत्यक्ष-दर्शी-दत्त सूचना का उदाहरण स्वप्नवासवदत्त के प्रथम अंक में ब्रह्मचारी द्वारा लावाणक दाह है अथवा रत्नावली के चतुर्थ अंक में विजयवर्मा द्वारा नायक को कोसल-विजय की सूचना है। दूतादि के द्वारा प्रस्तुत सूचना का उदाहरण मुद्राराक्षस में चाणक्य और राक्षस को दिये हुए समाचार हैं कि शत्रु ने क्या क्या कर लिया है या करने वाला है। पत्र का उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अंक में दुष्यन्त के लिए शकुन्तला के द्वारा लिखी हुई चिट्ठी है कि हमें काम जला रहा है। एकोक्ति का सूचनात्मक उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तल के द्वितीय अंक के आरम्भ में विदूषक की उक्ति है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम में निमग्न है।

उपर्युक्त द्वितीय कोटि के उदाहरणों से प्रतीत होगा कि जहाँ उनके श्रोता रंग के पात्र हैं वहाँ उनकी प्रतिक्रिया प्रेक्षक के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है।

श्रव्य नामक अलग से वस्तु-विभाग वितथ है। दृश्य और सूच्य दोनों श्रव्य होते हैं। स्वयं धनञ्जय ने अन्यत्र कहीं इसकी चर्चा नहीं की है और न उपयोगिता बताई है। इसका स्थान कहाँ हो—वह भी धनञ्जय ने नहीं कहा है।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह—

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ।। ६३

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह—

६४: सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च।

तत्र—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ।। ६४

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते। यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमितिशब्दाभिधेयम्।

पुनः वस्तु का विभाग बताते हैं—

नाट्यधर्म की दृष्टि से वस्तु और भी तीन प्रकार की होती है।

नान्दी टीका

नाट्यधर्म का अभिनय में उपयोग होता है। कोई वस्तु जैसे दैनिक लोक-व्यवहार में देखी जाती है, वैसे ही यदि रङ्गपीठ पर दिखाई जाय तो वह लोकधर्म है। जैसे कोई लता हो, उस पर पुष्प हों तो उन्हें चुनना लोकधर्म है, किन्तु बिना लता और पुष्प के ही यदि कोई पात्र रंग पर पुष्पावचयन का अभिनय करता है तो यह नाट्यधर्म है, अर्थात् केवल अभिनय के संसार में ऐसा होता है।

नाट्य-धर्म और लोकधर्म पूर्वोक्त आङ्गिक अभिनय के क्षेत्र में ही नहीं होते, अपितु वाचिक अभिनय में भी इनका प्रचुर प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए स्वगत-भाषण लें। पास ही वक्ता पात्र रंगपीठ पर है, किन्तु वह प्रतिवक्ता का स्वगत-भाषण नहीं सुन रहा है, फिर भी दूरस्थ प्रेक्षक उसके स्वगत भाषण को सुनते हैं। यह सब नाट्यधर्म की महिमा है।

वे कौन से तीन प्रकार हैं—

६४. सभी पात्रों के सुनने योग्य, कुछ लोगों के सुनने योग्य और किसी के न सुनने योग्य।

सर्वश्राव्य को प्रकाशम् और अश्राव्य को स्वगत मानते हैं। जो (रंग पर) सबके सुनने योग्य हो उसको प्रकाशम् ऐसा कहते हैं। जो किसी के सुनने के लिए नहीं हो उसे स्वगतम्—ऐसा नाम दिया गया है।

स्वगत अश्राव्य है, अर्थात् यदि वक्ता पात्र के लिए प्रतिवक्ता का उत्तर नहीं अपेक्षित हो तो ऐसा वक्तव्य स्वगत है। इस प्रसङ्ग में कतिपय ऐसी बातों की चर्चा आवश्यक है, जिनकी ओर धनञ्जय ही नहीं, भरत और अभिनवगुप्त का भी ध्यान नहीं गया। सबसे पहले एकोक्ति को लें। अंग्रेजी में उसे Soliloquy कहते हैं। संस्कृत रूपकों में इसे स्वगत के अन्तर्गत रखते हैं। क्या ऐसा करना पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार ठीक है? अंग्रेजी में स्वगत को aside नाम देकर उसे एकोक्ति से सर्वथा भिन्न रखा गया है।

स्वगत अश्राव्य है। अर्थात् कोई दूसरा भी पात्र उस रंगपीठ पर होना ही चाहिए, जिसके लिए पहले का वक्तव्य अश्राव्य है। किन्तु रंग पर कोई दूसरा पात्र हो ही नहीं, और नायक अपनी मानसिक उधेड़-बुन को तार स्वर से बोल रहा हो तो इसे एकोक्ति कहेंगे, स्वगत नहीं। स्वगत के लिए अन्य अपेक्षाओं के साथ रंगपीठ पर वक्ता और प्रतिवक्ता दोनों की उपस्थिति आवश्यक है।

स्वगत को तीन विधियों से प्रस्तुत करते हैं—(१) प्रकाशम् के पूर्व (२) प्रकाशम् के पश्चात् और (३) बिना प्रकाशम् के ही स्वतन्त्र रूप से।

स्वगत प्रत्युक्ति के रूप में होता है, एकोक्ति में प्रत्युक्ति का भाव नहीं है।[1]

नियतश्राव्यमाह—

६५. द्विधान्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन।

नियत-श्राव्य बताते हैं—

६५. यह जो दूसरा नाट्यधर्म है, वह दो प्रकार का है—जनान्त और अपवारित।

नियत श्राव्य दो प्रकार का होता है—जनान्तिक और अपवारित।

तत्र जनान्तिकमाह—

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्॥ ६५

अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकत्रिपताकालक्षणं करं कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति।

हाथ की त्रिपताक मुद्रा बनाकर उससे अन्य पात्रों का दुराव करके संवाद-कथा के मध्य केवल दो पात्रों की परस्पर बातचीत जनान्तिक है। यह जनान्त अर्थात् दो व्यक्तियों के नेदिष्ठ सान्निध्य में होती है।

---

१. एकोक्ति और स्वगत के विशेष विश्लेषण के लिये द्रष्टव्य दशरूपकतत्त्व-दर्शनम् पृ० ७४-७८

जिसको नहीं सुनना है, उसकी ओर त्रिपताक करमुद्रा—(सभी अंगुलियों को ऊपर उठाकर और अनामिका को मोड़ लेना) बना कर किसी दूसरे व्यक्ति से जो बात-का विषय है, वह जनान्तिक है।

अथापवारितम्—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ।। ६६

परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

अपवारित में दूसरे पात्र की ओर मुड़कर केवल उसी से रहस्य कहा जाता है।

मुड़कर अन्य से रहस्य कहना अपवारित है।

नान्दी टीका

भरत के अनुसार अपवारित में त्रिपताक-करमुद्रा के द्वारा अपवारण होना चाहिए। धनञ्जय ने ऐसा कुछ भी नहीं बताया है। वे अपवारित की प्रस्तुति के के लिए परावृत्य (मुड़कर) मात्र निर्दिष्ट करते हैं।

जनान्तिक और अपवारित का अन्तर अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है, जिसके अनुसार जनान्तिक में बात किसी एक पात्र से छिपाई जाती है। अपवारित में बात बहुत से पात्रों से छिपाई जाती है।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

६७. किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ।। ६७

नाट्यधर्म से सम्बद्ध होने के कारण आकाशभाषित बताते हैं।

अन्यपात्र के रंगपीठ पर न होने पर 'क्या कहते हो' इत्यादि कहा जाता है। बिना कहा हुआ भी मानो सुन कर अकेले ही पात्र रंगपीठ पर उत्तर में बोलता जाता है—यह आकाशभाषित है।

नान्दी टीका

आकाशभाषित वस्तुतः कल्पित पात्र से कल्पित बातचीत है।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि। तेषाम-भारतीयत्वान्नाममात्र-प्रसिद्धानां केषांचिद्देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधर्मत्वाभावा-ल्लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति—

अन्य भी नाट्यधर्म प्रथमकल्प आदि कतिपय विद्वानों के द्वारा बताये जाते हैं। ये नाट्यधर्म भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलते, केवल नाममात्र उनका सुना जाता है। वे केवल देशभाषाओं में प्रयुक्त होते हैं और उनमें नाट्यधर्म का अभाव है। अतएव उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है।

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं-रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां-कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥६८

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु=वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदाः। रामायणादि बृहत्कथां च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य आलोच्य। तदनु=एतदुत्तरम्। नेत्रिति—नेता वक्ष्यमाणलक्षणः, रसाश्च तेषामानुगुण्याच्चित्राम्=चित्ररूपां, कथाम्=आख्यायिकाम्। चारूणि यानि वचांसि प्रपञ्चैर्विस्तरैरासूत्रयेदनुग्रन्थयेत्।

तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—

चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः॥
योगानन्दयशः शेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः।
चन्द्रगुप्तः धृतो राज्ये चाणक्येन महौजसा॥'

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं वीरचरितादि। आदिपदात् भारताद्युक्तदुष्यन्त शकुन्तलादि कथामूलमभिज्ञानशाकुन्तलादि ज्ञेयम्।

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपकावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः॥

६८. पूर्वोक्त वस्तु-विभेद को समझकर रामायणादि और बृहत्कथा का अनुशीलन करके नेता और रस के अनुकूल चित्र-विचित्र (रुचिकर) कथा को रमणीय वाणी का परिधान देकर रचे।

वस्तु-विभेद-जात से तात्पर्य है कथा के भेदोपभेद के सभी प्रकार। रामायणादि और गुणाढ्य-निर्मित बृहत्कथा का अध्ययन करके उसके पश्चात् नेता, रस और उनके अनुकूल चमत्कारपूर्ण कथा रमणीय वाणी को विस्तार देते हुए निर्मित करे। इस प्रकार बृहत्कथा में मुद्राराक्षस नाटक का मूल है, जो इस प्रकार है—

'उस चाणक्य के द्वारा शकटार के घर में कृत्या को गुप्त रूप से रख कर पुत्र सहित राजा मार डाला गया। योगानन्द की मृत्यु होने पर उसके पश्चात् पूर्वनन्द का पुत्र चन्द्रगुप्त महान् तेजस्वी चाणक्य के द्वारा राजा बना दिया गया।'

यह बृहत्कथा में कहा गया है। रामायणादि में 'आदि' से महाभारत पर उपजीवित अभिज्ञानशाकुन्तलादि समझें।

———

अथ[1] द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते[1]—

१. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ।। १

२. बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।। २

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते—

'यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवा कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नमयञ्जलिस्ते ।।४.२१

मधुरः=प्रियदर्शनः । यथा तत्रैव—

राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ।।२.३७

त्यागी=सर्वस्वदायकः यथा—

त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ।।

दक्षः=क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते—

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ।। १.५३

प्रियंवदः=प्रियभाषी । यथा तत्रैव—

उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान् देवः पिनाकी गुरु—
वीर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।

---

१. यह नायक भेद साधारणतः अङ्गी नायकों के लिए प्रयुक्त होना चाहिए, जो उत्तम प्रकृति के होते हैं । मध्यम और अधम प्रकृति के अङ्ग नायकों पर यह नायक-भेद सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है ।

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम् ॥ २.३६

रक्तलोकः—यथा तत्रैव—

त्वय्यास्त्राता यस्तवायं तनूज—
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात्।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमाः पूर्णकामाश्चरामः ॥ ४.४४

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्यम्। तत्र शौचं नाम मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम्। यथा रघौ—

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ १६.८

वाग्मी—यथा हनुमन्नाटके—

बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्र्यम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥ १.३८

रुढवंशो यथानर्घराघवे

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसंतानमल्ली-
मालाम्लानस्तवकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥ ३.२१

स्थिरो वाङ्मनःक्रियाभिरचञ्चलः। यथा वीरचरिते—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥ ३.८

यथा वा भर्तृहरिशतके—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २६

युवा प्रसिद्धः। बुद्धिर्ज्ञानम्। गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा। यथा मालविकाग्निमित्रे—

'यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥' १.५

रूपकों का परस्पर भेद समझाने के लिए कथावस्तु का भेद बताकर अब नायक-भेद बतलाते हैं—

१-२ नेता विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियभाषी, लोकप्रिय, पवित्र, वाग्मी, प्रसिद्ध-वंशोत्पन्न, स्थिर, युवा, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला और मान से समलंकृत, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्र को नेत्र बनाये हुए और धार्मिक होता है। १-२

नेता या नायक विनय आदि गुणों से सम्पन्न होता है ।

विनीत का उदाहरण महावीरचरित में—राम परशुराम से क्षमा याचना करते हैं—

ब्रह्मवादियों के द्वारा जिसके चरणों की वन्दना की जाती है, जिनका धन विद्या, तप और व्रत है, जो तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं, उन महात्मा आप के प्रति संयोग से मेरे द्वारा अविनय हुआ। इस विषय में आप क्षमापूर्वक प्रसन्न हों। हे भगवन्, आप के समक्ष हाथ जोड़ता हूँ।

मधुर = प्रियदर्शन का उदाहरण महावीरचरित में—

हे राम, अपने महानुभाव के अनुरूप नेत्रों के लिए रमणीयता धारण करते हुए, बुद्धि से परे गुणों की रमणीयता वाले आप सर्वथा ही मेरे हृदय में सर्वथा प्रतिष्ठित हैं।

त्यागी = सब कुछ दान कर देने वाला। उदाहरण—कर्ण ने त्वचा, शिवि ने मांस, जीमूतवाहन ने प्राण और दधीचि ने हड्डियाँ दे दीं। महात्माओं के लिए कुछ भी अदेय नहीं।

दक्ष = क्षिप्रकारी स्फूर्तिशाली। उदाहरण महावीरचरित में—राम का देवों के तेज से जाज्वल्यमान और त्रिपुर का विनाशक धनुष सामने प्रकट है। यह मानों चमकते हुए सहस्र वज्रों से निर्मित है। जिस प्रकार हस्तिशावक पर्वत पर अपनी सूँड़ रखता है, वैसे ही वत्स राम ने धनुष पर अपनी बाँह रखी ही थी कि धनुष को खींची हुई प्रत्यञ्चा से गर्जना हुई और वह टूट गया।

प्रियंवद = प्रियभाषी। उदाहरण महावीरचरित से—आपका जन्म जमदग्नि से हुआ है। प्रसिद्ध भगवान् देव पिनाकधारी शिव आपके गुरु हैं। आपकी वीरता वाणी का विषय नहीं है, पराक्रम से ही प्रकट है। आपके सात्त्विक त्याग की मर्यादा सात समुद्रों से सीमित पूरी पृथ्वी तक सुविदित है। आप सत्य, ब्रह्म और तप की निधि हैं। भगवत्स्वरूप आपका व्यक्तित्व किस दिशा में लोकोत्तर नहीं है।

रक्तलोक = लोकप्रिय। उदाहरण—महावीरचरित में भरत के मामा और भरत दशरथ से कहते हैं—

त्रयी (तीनों वेद) के रक्षक आपके ये पुत्र राम हैं। आप स्वामी हैं। आपकी कृपा से नियुक्त होने पर उनके द्वारा रंजित सभी लोक कल्याणयुक्त तथा पूर्ण काम हों।

इसी प्रकार शौचादि के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

शौच है मन की निर्मलता के द्वारा कामादि पर विजय। उदाहरण—रघुवंश में कुश अयोध्या की अधिष्ठातृदेवी से कहते हैं—

हे शुभे, आप कौन हैं ? किसकी पत्नी आप हैं ? मेरे पास आने का प्रयोजन क्या है ? आप इन प्रश्नों का उत्तर यह समझकर दें कि रघुवंशियों का मन परस्त्री से विमुख प्रवृत्ति वाला होता है।

वाग्मी—व्याख्यान देने में निपुण। उदाहरण—हनुमन्नाटक में राम परशुराम से—मुझे अपना बाहुबल विदित नहीं था और न शिव के धनुष की क्षीणता ज्ञात थी। अतएव यह अपराध हो गया। हे परशुराम जी, आप मेरी चपलता क्षमा करें। बालकों की गड़बड़ियाँ महापुरुषों की प्रसन्नता के लिए होती हैं।

रूढवंश=प्रसिद्ध कुल का उदाहरण—अनर्घराघव में विश्वामित्र राम का परिचय जनक को देते हैं—जो राजपुत्र सूर्यवंश की क्षत्रिय-परम्परा-रूपी बेले की माला के खिले हुए गुच्छे के मधुप उत्पन्न हुए हैं, उनमें से सबसे बड़े राम ताडका रूपी कालरात्रि के लिए प्रभात हैं और सुचरित का कथा रूपी कन्दली के प्रधान कन्द हैं।

स्थिर=वाणी, मन और क्रिया से धीर। उदाहरण परशुराम विश्वामित्र से महावीरचरित में कहते हैं—आप पूज्यजनों का उल्लंघन करने का प्रायश्चित्त मैं करूँगा, किन्तु शस्त्रग्रहण के महाव्रत को मैं दूषित नहीं करूँगा, अर्थात् छोड़ूँगा नहीं। भर्तृहरिशतक में

नीचे लोग तो विघ्न के भय से काम आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम कोटि के लोग काम आरम्भ करके विघ्नित होने पर रुक जाते हैं। उत्तम लोग विघ्नों से बारं-बार मार खाने पर भी हाथ में लिए हुए काम को छोड़ते नहीं।

युवा प्रसिद्ध ही है। बुद्धि=ज्ञान। प्रज्ञा थोड़े भी प्राप्त किये हुए ज्ञान में चार चाँद लगा देती है प्रज्ञा का उदाहरण मालविकाग्निमित्र में—अभिनय के विषय में मेरे द्वारा उस (मालविका) को जो रस-विषयक उपदेश दिये जाते हैं, उन-उनको अपने विशेष चमत्कार के द्वारा बाला मानों मुझे ही पुनः सीखने के लिए प्रस्तुत कर देती है।

नान्दी टीका

१. द्वितीय प्रकाश में नायक विषयक चर्चा की गई है। संस्कृत रूपकों में नायक पद से तीन प्रकार के अभिप्राय व्यक्त किये जाते हैं। यथा

(क) नायक प्रधान या अङ्गी नायक है। जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुष्यन्त। यह नायक शब्द का अतिविशेष-वचनात्मक प्रयोग है।

(ख) नायक प्रधान नायक, प्रतिनायक, नायिका, पताका नायक है। यह नायक शब्द का मध्यम-सामान्य-वचनात्मक प्रयोग है।

(ग) सभी कथापुरुष पूर्वोक्त के साथ ही अमात्य, कंचुकी, विदूषक, भृत्य, चेट, चेटी इत्यादि। यह नायक शब्द का महासामान्य-वचनात्मक प्रयोग है।

धनिक ने दशरूपक २.५-६ के अवलोक में अंगी नायक और अंग नायक में नायकों के उपर्युक्त वैविध्य का संकेत किया है।

इस प्रकाश में नायक से तीनों प्रकार के कथा-पुरुषों का आवश्यकतानुसार बोध होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार—कथा-शरीरफलेन प्रधानतया सम्बध्यमानो नायक उच्यते। अर्थात् कथाशरीर के फल से प्रधानतया सम्बद्ध पुरुष नायक है।

यहाँ नेता प्रधान या अंगी नायक हैं। धनञ्जय ने उसे अधिकारी बताया है, जो फल का स्वामी होता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि 'नेता विनीतो मधुरस्त्यागी' आदि क्या सभी प्रकार के प्रधाननायक के लक्षण हैं? ये सभी विशेषण या इनमें से गिने-चुने भी क्या धीरोद्धत कोटि के प्रधान नायक में मिलते हैं? समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि ये धीरोद्धत कोटि के नायकों में कम ही मिलते हैं। फिर तो इन्हें नायक का सामान्य लक्षण बताना ठीक नहीं है।

धनञ्जय ने इन्हें नायक का लक्षण बताया- यह नायक का लक्षण न होकर नृप का लक्षण है। प्राचीन काल के नाटकों में प्रायः नृप ही नायक होते थे।[1] अतएव धनञ्जय ने इन्हें नृपलक्षण न बताकर नायकलक्षण बता दिया।

स्पष्टमन्यत्।

नेतृविशेषानाह—

३. भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः॥ ३

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः। अतएव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारी मृदुरिति ललितः।

यथा रत्नावल्याम्—

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः॥ १.९

नेता के विशेष लक्षण बताते हैं—

३. ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत इन भेदों से वह नेता चार प्रकार का है।

१. नृप के सामान्य लक्षण के लिए देखिये नाट्यशास्त्र २४.७६-८०। कीथ ने संस्कृत ड्रामा नामक पुस्तक के पृष्ठ ३९ पर कहा है—
King is the normal hero of an Indian Drama.

धनञ्जय ने चार प्रकार के धीरोदात्तादि प्रधान नायक गिनाये हैं। यहाँ चार की सीमा बना देना वस्तुतः ठीक नहीं है। भाण और प्रहसन के नायकों को इन चार में से किसी कोटि में नहीं रखा जा सकता। प्रधान नायक अधम भी तो हो सकते हैं। अतएव नायक का अधम कोटिक एक और भेद मानना योग्य है। अभिनवगुप्त के अनुसार प्रहसन और भाण के नायक अधम कोटि के होते हैं। ये उत्तम और मध्यम कोटि के पूर्वोक्त चारों नायकों से भिन्न हैं।

नामक्रम से इनका लक्षण बताते हैं—

धीरललित निश्चिन्त, कलाओं में आसक्त, सुखी और कोमल होता है। ३

सचिव आदि के द्वारा (नायक का) योग-क्षेम सिद्ध हो जाने के कारण वह (धीर ललित) चिन्तारहित होता है। अतएव वह गीतादि कलाओं में मन लगाता है और भोग-विलास में प्रवृत्त होता है। शृङ्गारपरायण होने से वह कोमल जीवनवृत्ति वाला मृदु होता है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा उदयन विदूषक से कहता है—राज्य के सभी शत्रु परास्त हो चुके हैं। सारा राज्यभार योग्य मन्त्रियों पर डाल दिया गया है। प्रजा उचित संरक्षण से प्रसन्न है और उनके सारे कष्ट दूर कर दिये गये हैं। प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता, वसन्त ऋतु और तुम। ऐसी परिस्थिति में काम (मदन) पर्याप्त धृति (उत्सव) प्राप्त करे। मैं समझता हूँ कि मेरे लिए तो यह महान् उत्सव का समय है।

अथ शान्त :—

४. सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतृणामुपलक्षणम्। विवक्षितं चैतत्। तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्यम्। यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादिः।

'तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान्।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः॥' मालतीमाधवे २.१०

इत्यादि। यथा वा—

'मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।

मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै—
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्' ॥ मृच्छकटिके १०.१२

४. धीरशान्त—द्विजादि (नेता के पूर्वोक्त) सामान्य गुणों से युक्त होने पर धीरशान्त कहे जाते हैं।

विनय आदि नेता के सामान्य गुणों से युक्त धीरशान्त द्विजादिक हैं। इस द्विजादिक से विप्र, वणिक्, सचिव आदि प्रकरण कोटि के रूपक के नायक को भी लाक्षणिक रूप से समझा जाय। यही मन्तव्य (कारिकाकार का) है। इन विप्रादि में (धीरललितोचित) नैश्चिन्त्यादि गुण होने पर भी उनकी धीरशान्तता ही मानी जाती है, उनको धीरललित नहीं कहते।

उदाहरण के लिए मालतीमाधव में धीरललित है—उदयगिरि से अद्वितीय कलावान्, समुदित गुणों की ज्योति से सुन्दर, इस लोक में नेत्रधारियों के महोत्सव का कारण बालचन्द्र के समान माधव (नायक) प्रकट हुआ।

मृच्छकटिक में—सैकड़ों यज्ञों के द्वारा पवित्र किया हुआ जो गोत्र यज्ञभूमि के गम्भीरब्रह्म (वेद) घोष से ब्रह्म-सभाओं में सर्वप्रथम समलङ्कृत होता था, वही मेरे मरने की घड़ी में पापी और नीच मनुष्यों के द्वारा घोषणा का विषय बना है।

अथ धीरोदात्त :—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥ ४
५. स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।

महासत्त्वः=शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः । अविकत्थनः=अनात्मश्लाघनः। निगूढाहङ्कारः=विनयच्छन्नावलेपः। दृढव्रतः=अङ्गीकृतनिर्वाहकः। धीरोदात्तःयथा नागानन्दे—'जीमूतवाहनः—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥५·५

यथा च रामं प्रति—
'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥' हनुमन्नाटके ३·२५

यच्च केषांचित् स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित्संकीर्तनं तत्तेषां तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम् ।

ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते ? औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः । तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते । जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा नागानन्दे

तिष्ठन्भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत्संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो-
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः ॥' १·७

इत्यनेन ।

'पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष तथा जीमूतवाहनः ॥'१ ४

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागवच्छान्तता । अन्यच्चात्रायुक्तं यत्तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तम्—सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्तः' इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-युधिष्ठिर-जीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्त - सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ परिहीयते । न ह्येकरूपैव विजिगीषुता । यः केनापि शौर्यत्यागदयादिनायानतिशेते स विजिगीषुः, न यः पराक्रमेणार्थग्रहादिप्रवृत्तः । तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः । रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादिलाभः । जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद्विश्वमप्यतिशेत इत्युदात्ततमः । यच्चोत्तम्—'तिष्ठन्भाति' इत्यादिना विषयसुखपराङ्मुखतेति तत् सत्यम्—कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः । तदुक्तम् अभिज्ञानशाकुन्तले ।

'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छाययोपाश्रितानाम् ॥' ५·७

मलयवत्यनरागोपवर्णनं त्वशान्तरसाश्रयं शान्तनायकतां प्रत्युत निषेधति । शान्तत्वं चानहंकृतत्वं, तच्च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद्भेदः । अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति ।

४-५ धीरोदात्त अपनी सात्त्विकता से सविशेष शोभा पाने वाला, अतिशय गम्भीर, क्षमाशील, डींग न हांकने वाला, स्थिर, अपने अहंकार को न प्रकट होने देने वाला और हाथ में लिये काम को प्राणपण के पूरा करने वाला होता है ।

महासत्व=शोक, क्रोध आदि से जिसका अन्तःसत्त्व क्षीण नहीं होता। **अविकत्थन**=अपनी प्रशंसा न करने वाला। **निगूढाहंकार**=जिसका स्वाभिमान विनय के कारण प्रकट नहीं होता। **दृढव्रत**=अङ्गीकृत कार्य का निर्वाह करने वाला।

धीरोदात्त—उदाहरण के लिए नागानन्द में जीमूतवाहन गरुड से कहता है—

हे गरुड, आप खाते-खाते क्यों रुक गये ? सिराओं से रक्त निकल ही रहा है। अब भी मेरे शरीर में मांस है। अभी भी आपको भूख मिटी हुई मैं नहीं देखता हूँ।

राम के विषय में—

अभिषेक के लिए आमन्त्रित और वन के लिए विसर्जित उस राम के मुख पर कोई परिवर्तन मेरे द्वारा नहीं देखा गया।

स्थिर आदि को धीरोदात्त का सामान्य गुण गिनाया गया है। फिर उसे विशेष (धीरोदात्त) का लक्षण करने में क्यों पुनः गिनाया गया ? इसका उत्तर है धीरोदात्तादि में स्थिरादि गुणों की अतिशयता बताना धनञ्जय का अभीष्ट है।

प्रश्न—नागानन्द में जीमूतवाहनादि को उदात्त क्यों कहते हैं ? औदात्य तो वह व्यावहारिक वृत्ति है, जिससे कर्त्ता सर्वोपरि बन जाय। वह (उदात्त होना) विजिगीषु होने पर ही सुसिद्ध होता है। जीमूतवाहन तो कवि के द्वारा ऐसा वर्णित है कि वह विजय का इच्छुक नहीं है। नागानन्द में वह अपने विषय में कहता है—भूतल पर पिता के सामने खड़े रहने पर जैसी शोभा है, क्या वैसी शोभा सिंहासन पर बैठने पर है ? जो सुख पिता के चरणों को दबाने में है, क्या वह राज्यभोग में हैं ? क्या तीनों लोकों को भोगने में वैसा सन्तोष हैं, जो गुरुओं का जूठन खाने में है ? गुरुजनों को छोड़कर राज्यशासन करना श्रान्ति मात्र है। क्या राज्य में कोई अच्छाई भी है ? और भी—पैतृक परम्परा से प्राप्त ऐश्वर्य को छोड़कर माता-पिता की सेवा करने के लिए मैं वन में जाऊँगा, जैसे जीमूतवाहन। यह सूत्रधार का कहना है।

अतः जीमूतवाहन के अत्यन्त शान्तिप्रधान होने के कारण और परम करुणामय होने से उसमें शान्तता है, जैसी वैरागियों में होती है।

जीमूतवाहन को धीरोदात्त मानने में एक और कठिनाई है कि ऐसे नायक को राज्य-सुखादि के प्रति विरक्त बताकर फिर उसे ही नायिका मलयवती का प्रेमी बताया गया है। (ये सब प्रणयात्मक बातें धीरशान्त नायक के योग्य हैं, न कि धीरोदात्त के लिए।)

प्रश्न करने वाले के इस तर्क के पक्ष में क्या कहा जा सकता है, उसे वह स्वयं प्रस्तुत करता है।

ऐसा प्रश्नकर्ता ने कहा है - यह जो धीरशान्त की परिभाषा है, वह सर्वतः वास्तविकता का बोध नहीं कराती। अर्थात् इस परिभाषा के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि जिस-जिसमें ये सामान्य गुण पाये जायेंगे, केवल वे ही द्विजादि (विप्र,

वणिक्, सचिव आदि) हो धीरशान्त कोटि में परिगणित होंगे।[१] अतएव केवल राजा होने के कारण ही जीमूतवाहन धीरशान्त नहीं है, यद्यपि वह सामान्यगुणयोगी है—यह युक्ति-युक्त नहीं है।

अतएव जैसी वस्तुस्थिति है—बुद्ध, युधिष्ठिर और जीमूतवाहन आदि का व्यवहार उनका धीरशान्त होना प्रकट करता है।

(यहाँ प्रश्नकर्ता की शङ्का समाप्त होती है। इसके पश्चात् धनिक उसका समाधान करते हैं।)

उत्तर—उपर्युक्त-प्रश्न विषयक शंकाओं का समाधान है—यह जो कहा गया है कि सर्वोपरि होने के प्रयोजन से जो कार्य-व्यापार होता है, वह औदात्त्य है। इसका जीमूतवाहनादि में अभाव नहीं है। विजयी होने की इच्छा नाना प्रकार की होती है। जो अपने विशिष्ट शौर्य, त्याग, दया आदि के द्वारा दूसरों से बढ़ कर होता है, वह विजिगीषु है। वह विजिगीषु नहीं है, जो अपने पराक्रम से दूसरों का धन अपहरण करने में प्रवृत्त है। यदि ऐसे लोगों को विजिगीषु मानने की भूल की जाय तो डाकू आदि को भी धीरोदात्त मानना पड़ेगा। रामादि जगत् का पालन करने के लिए दुष्टों को दण्ड देने में प्रवृत्त हुए। ऐसा करने में साथ ही भूमि आदि की प्राप्ति अवश्यम्भावी है। जीमूतवाहन तो प्राण देकर भी दूसरों का काम करने के कारण सबसे आगे है। अतएव वह धीरोदात्त ही नहीं, धीरोदात्ततम है। 'तिष्ठन् भाति' इत्यादि श्लोक में जीमूतवाहन की विपद-पराङ्मुखता अवश्य बताई गई है। वस्तुतः जिगीषु तो वही होते हैं, जो अपने को तुच्छ बना देने वाली अपने सुख की प्राप्ति-विषयक तृष्णायें हैं, उनके प्रति विमुख हों। जैसा अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त के विषय में कहा भी है—

अपने सुख की इच्छा न करते हुए लोक सुख के लिए श्रम करते हैं। प्रतिदिन आपकी ऐसी ही जीवनचर्या है। वृक्ष अपने सिर से उष्ण ताप को सहता है, किन्तु अपनी छाया में बैठे हुए लोगों के ताप को दूर कर देता है।

मलयवती के प्रति जीमूतवाहन का अनुराग-वर्णन तो शान्तरस के विपरीत पड़ता है और इससे जीमूतवाहन का शान्तनायक होना कट जाता है। शान्तत्व तो अहंकार का अभाव है। यह विप्रादि को स्वभावतः प्राप्त है। विप्रादि की शान्तता वास्तविक है, केवल परिभाषा में दी हुई है—ऐसा नहीं है।

बुद्ध और जीमूतवाहन दोनों में करुणा समान रूप से है, किन्तु अन्तर यह है कि बुद्ध की करुणा निष्काम है और जीमूतवाहन की सकाम। अतएव जीमूतवाहन आदि धीरोदात्त ही हैं।

नान्दी टीका

धनिक ने कतिपय आलोचकों के इस मत का खण्डन किया है कि नागानन्द का नायक जीमूतवाहन धीरशान्त कोटि का है। उदात्त तो उसी को कहते हैं, जो

१. उपपत्तिशून्या स्वसंज्ञा खलु परिभाषा।

अपनी उपलब्धियों के द्वारा सबसे अधिक ऊँचा हो। ऐसी उपलब्धियाँ केवल भौतिक दृष्टि से ही नहीं आँकी जानी चाहिए। भर्तृहरि के शब्दों में 'स्वार्थो यस्य परार्थं एव स नृणामग्रणी:' अर्थात् नेता या सबसे ऊँचा तो वही है, जो परोपकार को ही स्वार्थ समझता है। इस दृष्टि से देखने पर औदात्त्य की दृष्टि से जीमूतवाहन अनन्यतम है।

इसी प्रकार युधिष्ठिर और बुद्ध भी धीरोदात्त कोटि में आते हैं।

अथ धीरोद्धतः।

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ॥५

६. धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः।

दर्पः=शौर्यादिमदः। मात्सर्यम्=असहनता। मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तु-प्रकाशनं माया। छद्म - वञ्चनामात्रम्। चलः=अनवस्थितः। चण्डः=रौद्रः। स्वगुणशंसी=विकत्थनो धीरोद्धतो भवति। यथा जामदग्न्यः—'कैलासोद्धार-सारत्रिभुवनविजय' इत्यादि महावीरचरिते २.१६। यथा च रावणः—'त्रैलो-क्यैश्वर्यलक्ष्मीहरणसहा बाहवो रावणस्य।' इत्यादि।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वत्स-वृषभमहोक्षादिवन्न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति। तदा हि महा-कविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्। जातेरनपायित्वात्, तथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्यः—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते॥'

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन 'कैलासोद्धारसार—' इत्यादि-भिश्च रामादीन् प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन, पुनः—'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादि-भिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णितः, न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्। अङ्गभूत-नायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात्। अङ्गिनस्तु रामादे-रेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यम्। यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधादमहासत्त्वतया वावस्था-परित्याग इति।

वक्ष्यमाणं च दक्षिणाद्यवस्थानाम् 'पूर्वां प्रत्यन्ययाहृतः' इति नित्य-सापेक्षत्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोऽप्यविरुद्धम्।

धीरोद्धत नायक घमण्डी, असहिष्णु, माया और धोखाधड़ी का व्यवहार करने वाला, चञ्चल, और डींग मरने वाला होता है।

दर्प=शौर्य आदि का मद। मात्सर्य=असहिष्णुता। माया=मन्त्र के द्वारा

अविद्यमान वस्तु को प्रकट कर देना। छद्म= ठगना। चल = अस्थिर। चण्ड = रौद्र। विकत्थन = आत्मप्रशंसक धीरोद्धत होता है।

उदाहरण—परशुराम हैं—'कैलास को उखाड़ देने की शक्ति वाले और त्रिभुवन का विजय करने से महिमान्वित भुजाओं वाले रावण के रणमद को बात की बात में दूर करने वाले कार्तवीर्य की सहस्रों भुजाओं को काटपीट कर छिन्न-भिन्न कर देने वाले यह परशुराम इत्यादि। दूसरा उदाहरण रावण है—'त्रिलोक की ऐश्वर्य-लक्ष्मी का बलपूर्वक अपहरण करने में समर्थ बाहें हैं रावण की' इत्यादि।

धीरललितादि शब्द नायक की उन अवस्थाओं को प्रकट कर देते हैं, जिनमें तात्कालिक तत्सम्बन्धी विशिष्ट लक्षण नायक में आरोपित होते हैं। अर्थात् जब नायक निश्चिन्त कलासक्त, सुखी और मृदु अवस्था में हो तो उसे धीरललित कहेंगे।

वही नायक अपने कार्यों और अवस्थाओं के अनुरूप कभी धीरोदात्त, धीरप्रशान्त या धीरोद्धत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उपर्युक्त चार भेद केवल अवस्था भेद के कारण एक ही नायक के लिए वैसे ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे एक ही बैल को अवस्था-परिवर्तन के क्रम से कभी बछवा, फिर उसके बढ़ने पर वृषभ और पूर्ण वयस्क होने पर महोक्ष नाम देते हैं। धीरललितादि नाम जातिरूप नहीं है कि नायक किसी काव्य में यदि आरम्भ में धीरललित है तो अन्त तक धीरललित ही रहेगा। महाकवियों की रचनाओं में एक ही नायक परस्पर विरुद्ध कोटियों का देखा जा सकता है। यह सम्भव नहीं होता, यदि नायक का कोई एक ही अनपायी (न परिवर्तन होने वाला) रूप होता। जाति अनपायी होती है, अर्थात् किसी को एक बार प्राप्त हो गई तो फिर बदलती नहीं। धीरललितादि विशेषण जातिगत नहीं हैं। उदाहरण के लिए भवभूति के द्वारा परशुराम का स्वरूप अनेकविध प्रस्तुत किया गया है। वे धीरोदात्त रूप में नीचे लिखे सन्दर्भ में वर्णित हैं—'ब्राह्मणों की हानि करने से अलग रहना आप लोगों के अभ्युदय के लिए है। अन्यथा आप लोगों का यह मित्र परशुराम खिन्नता का अनुभव करेगा।' इसमें रावण के प्रति परशुराम धीरोदात्त हैं। महावीरचरित में ही पूर्वोक्त कैलासोद्धारसार इत्यादि श्लोक में वे रामादि के प्रति धीरोद्धत हैं। आगे चलकर इसी नाटक में 'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादि श्लोक में धीरोद्धत बताये गये हैं। इस प्रकार नायक को धीरोदात्तादि अनेक अवस्थाओं में वर्णित करना अनुचित नहीं है। किन्तु यह अप्रधान नायक (कथापुरुषों) के लिए ही छूट है कि वे अनेक अवस्थाओं में वर्णित हों। वे प्रधान नायक के समान महासत्त्वादि उच्चकोटिक गुणों से शाश्वत रूप से समलंकृत नहीं होते। अङ्गी (प्रधान) नायक रामादि किसी काव्य में आद्यन्त एक ही प्रकार के रखे जाते हैं। उनकी कोटि बदलना न्यायोचित नहीं है। जैसे राम धीरोदात्त हैं तो छल पूर्वक उनका वालि को मारना अपने (धीरोदात्त) रूप का त्याग होने से अनुचित है, क्योंकि ऐसा करते समय वे धीरोद्धत कोटि में आ जाते हैं।

आगे चलकर नायक के दक्षिण आदि भेद अवस्थानुसार बताये जायेंगे—पहिली नायिका के प्रति नायक दक्षिण होता है, जब किसी दूसरी नायिका के प्रति प्रणयासक्त होता है। इस प्रकार की अवस्था का परिवर्तन तो अङ्गी नायक और अङ्ग (अप्रधान) नायक सबके लिए ठीक ही है।

अथ शृङ्गारनेत्रवस्थाः

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥६

नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययापूर्वनायिकयापहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः। तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः।

शृंगारी नेता की अवस्थायें—

नायिका के प्रति वह दक्षिण, शठ, धृष्ट होता है, जब वह किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त हो जाता है।६

पूर्वा का अर्थ पहले की नायिका लेना है, क्योंकि नायक का प्रकरण चल रहा है। ऐसी स्थिति में पूर्वा विशेषण का विशेष्य प्रकरणानुरूप नायिका ग्रहण किया गया। अन्या का अर्थ दूसरी नायिका है। जब दूसरी नायिका के प्रति नायक का चित्त अनुरागी होता है तो उस नायक की तीन अवस्थायें और भी होती हैं। इस प्रकार नायक की चार अवस्थायें नायिका के सम्बन्ध से हुईं। धीरललितादि चारों भेदों में से प्रत्येक की इन चार अवस्थाओं के होने पर सब मिलाकर सोलह अवस्थायें हो गईं।

७. दक्षिणोऽस्यां सहृदयः —

योऽस्यां ज्येष्ठाया हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः। यथा ममैव—

'प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः।
सविश्रम्भः कश्चित् कथयति च किञ्चित्परिजनो
न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥'

यथा वा मालविकाग्निमित्रे

'उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥'

७. दक्षिण नायक पहले की नायिका के प्रति सहृदय रहता है।

जो नायक ज्येष्ठ (पहले को) नायिका के प्रति सहृदय व्यवहार करता है, वह दक्षिण है। उदाहरण है धनिक का श्लोक—दिखाई देने पर नायक प्रसन्न हो जाते हैं, उनके साथ नई-नई प्रेम-निर्भर रति-क्रीडायें होती हैं। प्रतिदिन उनकी विनय अनुपम

है। फिर भी विश्वासी मित्र कहीं कुछ-कुछ (उनके अन्य नायिका से सम्बन्ध के विषय में) कहते हैं। मुझे उनकी बातों में विश्वास नहीं है। मुझे तो उनमें कोई विकार नहीं दिखाई देता।

मालविकाग्निमित्र में नायक विदूषक से कहता है - इरावती की यह इच्छा कि उसके साथ प्रमदवन में झूला जाय ठुकराई जा सकती है, इसको न मानने के अनेक कारण सोचे जा सकते हैं। मनस्विनी स्त्रियों के प्रति कृत्रिम प्रेमभाव-प्रदर्शन, यद्यपि वह पहले से अधिक हो क्यों न हो, सहृदयता से रहित होने पर स्पृहणीय नहीं रहता।

अथ शठः —

—गूढविप्रियकृच्छठः।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः। यथा अमरुशतके—

'शठाऽन्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः।
तदेतत् क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो—
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति॥' १०९

शठ छिपे-छिपे (अन्य नायिका से प्रेम करते हुए) (पहले की नायिका के प्रति) अप्रिय करता है।

दक्षिण और शठ दोनों प्रकार के नायक नई नायिका के प्रति अपना मन आसक्त कर लेते हैं, और इस प्रकार पुरानी नायिका के प्रति अप्रिय करते हुए समान ही हैं, किन्तु दक्षिण नायक पहली नायिका के प्रति सहृदय होता है और शठ नायक को पहली नायिका का ध्यान नहीं रहता है। यही दोनों में अन्तर है। उदाहरण है अमरुशतक में— शठ नायक के प्रति उसकी पूर्व नायिका की सखी का उपालम्भ—पहली नायिका के साथ आश्लेष को प्रशिथिल कर लिया, जब नई नायिका के आते हुए उसकी काञ्ची के मणियों की रुनझुन तुमने सुनी। यह बात कहां कैसे कही जाय? वह नायिका तो तुम्हारी बातों में आकर बेहोश-सी वैसे ही व्यवहार करती है, मानो घी और मधु रूपी तुम्हारी मीठी बातों में आकर वास्तविकता के प्रति सुन्न है।

अथ धृष्टः —

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो—

यथामरुशतके—

'लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः॥' ६०

धृष्ट नायक के अङ्ग पर (अन्य नायिका के साथ प्रणय-व्यापार से उभरे हुए) विकार (चिह्न) होते हैं।

ललाट पर महावर के चिह्न हैं, दोनों ओर केयूर नामक आभूषण के चिह्न गले पर हैं, मुँह पर काजल की कालिमा है और आँखों पर पान की ललाई लगी है। प्रातः-काल ऐसा रूप बनाये हुए धृष्ट नायक को देखकर मृगाक्षी (पूर्व नायिका) को श्वासोच्छ्वास-प्रक्रिया ही बन्द हो गई।

भेदान्तरमाह

अनुकूलस्त्वेकनायिकः ।। ७

यथा—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ।।'

किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यात् ? इत्युच्यते—पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः, परतस्तु दक्षिणः। ननु च गूढविप्रिय-कारित्वाद्व्यक्ततरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्टर्येऽपि कस्मान्न भवतः, न तथा-विधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वा-द्दक्षिणतैव, न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात्।। महाकविप्रबन्धेषु च—

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु—
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ।।' भोज० ३०२

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात्।

तथा च भरतः —

'मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते स तु भवेज्ज्येष्ठः' ।।ना०शा० ३.५६

इत्यत्र 'न रागं याति न मदनस्य वशमेति' इत्यनेनासाधारण एकस्यां स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति, अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्य-मिति। षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टाचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति।

अनुकूल नायक उसे कहते हैं, जिसकी एक ही नायिका होती है। उदाहरण है उत्तररामचरित में—

सीता को वनवास का आदेश देने के पहले उसके चित्रदर्शन के पश्चात् सोते हुए विरहभावना के उद्वेग से बड़बड़ाने पर राम उनका स्पर्श करते हुए कहते हैं—

सुख और दुःख की सभी अवस्थाओं में हम दानों (नायक और नायिका) का अद्वैत (एकत्व) बना रहा, जिसमें हृदय का सर्वथा विश्राम रहा, वृद्धावस्था में भी जिसमें रस कभी कम नहीं हुआ। समय की गति से एक दूसरे के प्रति आवरण के दूर हो जाने पर स्नेह-तत्त्व के परिपक्व हो जाने पर प्रेमाद्वैत बना रहा। उस भाग्यशाली मानव का कल्याण हो, जिसे ऐसा प्रेमाद्वैत प्राप्त हुआ हो।

रत्नावली नाटिका के नायक को पूर्वोक्त चार भेदों में से किसमें रखा जाय? उत्तर—पहले उनकी एक ही नायिका होने पर किसी दूसरी से प्रेम ही नहीं था। वे अनुकूल हैं। आगे चलकर वे दक्षिण नायक हो जाते हैं।

शंका—क्यों कर पहली नायिका के प्रति उनको गूढ़ विप्रयकारी होने से शठ और प्रत्यक्ष ही विप्रियकारी होने से धृष्ट नहीं कहा जाय?

उत्तर

ऐसा नहीं। पहली नायिका के प्रति ऐसा विप्रिय करते हुए भी वत्सराजादि नायक नाटिका की समाप्ति तक ज्येष्ठा नायिका से सहृदयता पूर्वक व्यवहार करने से दक्षिण ही हैं। 'ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों नायिकाओं के प्रति नायक का स्नेह नहीं हो सकता' ऐसा कहना ठीक नहीं। ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों के प्रति स्नेह में कोई विरोध नहीं पड़ता। महाकवियों के प्रबन्ध में भी ऐसा है—कंचुकी कहता है—'यह जानकर कि आज कुन्तलेश्वर की कन्या ऋतुस्नान कर चुकी है, और आज का दिन अंगराज की बहन के लिए गणनानुसार है। कमला रानी ने जुए में आज की रात अपने लिए जीत रखी है, आज की रात महादेवो के साथ बिता कर उन्हें राजा को प्रसन्न करना है, मैंने राजा को जब यह सब बताया तो राजा दो-तीन घड़ी किंकर्तव्यविमूढ पड़े रहे।' इसमें बताया गया है कि नायक का अनेक नायिकाओं के प्रति समान प्रेम है। भरत ने भी कहा है—ज्येष्ठ नायक मधुर, त्यागी और काम के वश में न आने वाला होता है। किसी नायिका से अपमानित होने पर वह विरक्त हो जाता है। इससे दक्षिण नायक का किसी एक में ही स्नेह होना निषिद्ध है। अतएव वत्सराजादि का नाटिका की समाप्ति तक दाक्षिण्य ही है।

पूर्वोक्त सोलह प्रकार के नायकों की ज्येष्ठ, मध्यम, और अधम तीन कोटियाँ होने से ४८ भेद हुए।

सहायानाह—

८. पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।

तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ।। ८

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका । तन्नायकः पीठमर्दः प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहायः । यथा मालतीमाधवे मकरन्दः, रामायणे सुग्रीवः ।

नायक के सहायक बताये जाते हैं—

८. पताकावृत्त का नायक पीठमर्द कहा जाता है । वह कार्यकुशल होता है । वह अङ्गी नायक का सहचर और भक्त होता है और गुणों की दृष्टि से उससे कुछ न्यून पड़ता है ।

पहले बता चुके हैं कि प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका है । उसका नायक पीठमर्द है, जो प्रधान इतिवृत्त के नायक का सहायक होता है । जैसे मालतीमाधव में मकरन्द और रामायण में सुग्रीव ।

सहायान्तरमाह—

९. एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषकः ।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः । हास्यकारी विदूषकः । अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते । यथा शेखरको नागानन्दे विटः विदूषकः प्रसिद्ध एव ।

नायक के दूसरे सहायक बताते हैं—

९. एक विद्या का ज्ञाता विट होता है । विदूषक हँसाने का काम करता है । विट और विदूषक ये दो सहायक हुए ।

नायक के लिए उपयोगी गीतादि अनेक शिल्पों में किसी एक का जानने वाला विट होता है । हँसाने का काम विदूषक करता है । विदूषक के विकृत आकार और वेषादि से हँसी उत्पन्न होती है । नागानन्द में शेखरक विट है । विदूषक प्रसिद्ध ही है ।

अथ प्रतिनायकः —

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः ।।९

तस्य नायकस्येत्थंभूतः प्रतिपक्षनायको भवति । यथा रामयुधिष्ठिरयो रावणदुर्योधनौ ।

प्रतिनायक रिपु (शत्रु) होता है लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध, पापी और भाग्यहीन ।

नायक का ऐसा प्रतिपक्ष नायक (प्रतिनायक) होता है । राम और युधिष्ठिर के प्रतिनायक क्रमशः रावण और दुर्योधन हैं ।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यगाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः[1] पौरुषा गुणाः ॥ १०

नायक के सात्त्विक गुण

१०. शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित, औदार्य—ये आठ पुरुषोचित गुण सात्त्विक हैं।

नान्दी टीका

रूपकों में नायक के सात्त्विक गुणों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इनका अभिनय सात्त्विक अभिनय है और रस की निष्पत्ति की दिशा में सात्त्विक अभिनय का सर्वोपरि महत्त्व है। सात्त्विक अभिनय में चित्तवृत्तियों का प्रस्तुतीकरण होता है।[2]

तत्र शोभा यथा—

११. नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।

नीचे घृणा यथा वीरचरिते—

'उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥' १.३७

गुणाधिके स्पर्धा यथा—

'एतां पश्य पुरःस्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥

शौर्यशोभा यथा ममैव—

'अन्त्रैः स्वैरपि, संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन्।
भुग्नानुद्वलयन् निजान् परभटान् सन्तर्जयन्निष्ठुरं
धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥'

दक्षशोभा यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः।

---

१. सात्त्विकाः के स्थान पर सत्त्वजाः पाठान्तर है।

२. तत्र सात्त्विकाभिनये प्रकृतेः चित्तवृत्तेरनुकरणं पात्रैः प्रस्तूयते। ना० शा० भाग २ पृ० ४५९ गा० ओ० सी०

शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक—
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥' १.५३

११. शोभा का लक्षण है नीच के प्रति घृणा, अपने से बढ़े-चढ़े लोगों के प्रति स्पर्धा, शौर्य और दक्षता।

नीचे के प्रति घृणा महावीरचरित में—

• भयङ्कर रूप वाली ताडका के उत्पात को देख कर भी न काँपने वाले राम जब उसे मारने के लिए नियुक्त हुए तो उसके स्त्री होने के कारण सोच-विचार में पड़ गये।

अधिक गुण वालों के प्रति स्पर्धा।

यह सामने का भूभाग देखें—यहाँ क्रीडा के लिए किरात बने हुए शिव, अर्जुन के द्वारा धनुर्बाण से पूरे बलपूर्वक चूडा में मारे गये। हिमालय पर अर्जुन की इस अद्भुत कथा को सुनकर उसके द्वारा अपनी दोनों भुजायें धीरे-धीरे मण्डलाकार बना ली गईं।

शौर्य शोभा का उदाहरण।

घायल वीर की मूर्छा दूर होने के क्षण में उसके पैर की अँगुलियाँ आँतों से फँस रही थीं, उसके अंग-प्रत्यङ्ग घायल होने से शस्त्र से भरे थे, फिर भी रोमाञ्च होने से ऐसा लगता था कि उसने मानो कवच धारण कर रखा है। उसने भागते हुए अपने वीरों को उत्साहित किया और शत्रु वीरों को निष्ठुरता से डाँटा। जयलक्ष्मी का वह धाम रणस्तम्भ की पताका की भाँति सुशोभित था।

महावीरचरित में दक्षशोभा का उदाहरण है—

राम के लिए देवों के तेज से जाज्वल्यमान और त्रिपुर का विनाशक धनुष सामने प्रत्यक्ष है। यह मानों चमकते हुए सहस्र वज्रों से निर्मित है। जिस प्रकार हस्ति-शावक पर्वत पर अपनी सूँड रखता है, वैसे ही वत्स राम ने धनुष पर अपनी बाँह रखी ही थी कि धनुष की खींची हुई प्रत्यञ्चा से गर्जना हुई और वह टूट गया।

अथ विलासः—

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥ ११

यथा उत्तररामचरिते।

'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥६.१९

विलास का लक्षण है धैर्यशालिनी गति और दृष्टि तथा स्मितपूर्ण वाणी। ११

उदाहरण—कुश को देखकर राम कहते हैं—अपनी दृष्टि से तीनों लोकों के

सत्त्वसार को इसने तृणवत् बना दिया है। धीरोद्धत गति से पृथ्वी को झुकाये-सा जा रहा है। कुमारावस्था में होने पर भी पर्वत की भाँति गौरव धारण कर रहा है। यह मूर्तिमान् वीर रस है या दर्प है।

अथ माधुर्यम्—

१२. श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम्। यथा हनुमन्नाटके—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥' १·१९

१२. माधुर्य का लक्षण है महान् क्षोभ होने पर भी थोड़ा-सा ही विकार प्रकट होना।

बड़े विकार का कारण होने पर भी मधुर विकार होना माधुर्य है। हनुमन्नाटक में उदाहरण है—हस्तिशावक की दन्तद्युति को धारण करने वाले जानकी के कपोल पर कामभाव के हास्य से युक्त और गण्डस्थल पर रोमाञ्चित अपने मुखकमल की छाया वारंवार देखते हुए और राक्षसों की सेना का कल-कल निनाद सुनते हुए रघुवंशियों में श्रेष्ठ राम अपने जटाजूट की गाँठ को दृढता से बाँधने लगे।

अथ गाम्भीर्यम्—

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेण विकारो नोपलक्ष्यते ॥ १२

मृदु विकारोपलम्भाद् विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद् गाम्भीर्यम् यथा।

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥'

गाम्भीर्य के प्रभाव से पूर्वोक्त विकार प्रकट ही नहीं हो पाता।

माधुर्य में थोड़ा-थोड़ा विकार दिखाई देता है। गाम्भीर्य में विकार सर्वथा अदृश्य रहता है। यही दोनों का अन्तर है। उदाहरण—राम को अभिषेक के लिए बुलाया गया या उनको वन में जाने के लिए विसर्जित किया गया। (इन दोनों स्थितियों में) मुझे उनमें थोड़ा भी आकार-परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ा।

अथ स्थैर्यम्—

१३. व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥ ३.८

१३. स्थैर्य—विघ्नों का समूह आने पर भी अपने पराक्रम पर डटे रहना है।

उदाहरण—महावीरचरित्र में परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं—आप पूज्य जनों का उल्लंघन करने का प्रायश्चित्त मैं करूंगा। किन्तु शस्त्र-ग्रहण के महाव्रत को मैं दूषित नहीं करूँगा।

अथ तेजः—

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥ १३

यथा—

ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी।
अंगुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥'

तेज है प्राण जाने का समय होने पर भी अपमानादि बातें न सहना ॥१३

उदाहरण—कहिए, हम मनस्वी कौन कुम्हड़े के नये फल हैं, जो अँगुली दिखलाने मात्र से निष्प्राण हो जाते हैं?

अथ ललितम्—

१४. शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः। तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम्।

यथा ममैव—

'लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण।
किं वा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥'

१४. ललित है शृङ्गारित आकार और चेष्टायें, जो स्वाभाविक और मृदु हों।

स्वाभाविक शृंगार मृदु (कोमल) होता है। इस प्रकार की शृंगारमयी चेष्टा ललित है। उदाहरण है धनिक की रचना—

नायक के लावण्य और मन्मथविलास का संवर्धन स्वाभविक सुकुमार और मनोहर है। वह नायिका का उपदेशक बन चुका है। काम नायिका को विषम ताप पहुँचा रहा है। वह अपनी सखी से पूछती है कि इस उपदेशक प्रियतम को भी काम ने मेरे ही समान क्या विषम रूप से सन्तप्त कर रखा होगा?

अथौदार्यम्—

प्रियोक्त्याजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥१४

प्रियवचनेन सहाजीवितावधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च। यथा नागानन्दे—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ।।'

सदुपग्रहो यथा--

'एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ।।' कुमार० ६·६३

औदार्य है प्रिय बातों को कहते हुए जीवन-दान भी दे देना और सज्जन को अपने पक्ष में रखना । १४

प्रिय वचन के साथ जीवन रहने तक दान देना और सज्जनों को अपने पक्ष में रखना औदार्य है । उदाहरण नागानन्द में है—

सिराओं से रक्त अभी निकल रहा है । अब भी मेरे शरीर में मांस है । आपको तृप्ति नहीं हुई है—यह मैं देख रहा हूँ । फिर हे गरुड, आप खाते-खाते रुक क्यों गये ?

सदुपग्रह का उदाहरण है—ये हम लोग रहे । यह कुल की प्राणभूता कन्या है । कहें, आप लोगों का किससे कार्य है ? हम लोगों को बाह्य वस्तुओं के प्रति चिन्ता नहीं है ।

नायिका

१५. स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।

तद्गुणेति । यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्त्री, परस्त्री, साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ।

१५. नायक के समान गुण वाली नायिका तीन प्रकार की होती हैं-स्वा (अपनी पत्नी), अन्या (प्रणयिनी नायिका, जिससे गान्धर्व विधि से प्रेम चल रहा है) और साधारण स्त्री (वेश्या, गणिकादि) ।

नायिका यथासम्भव नायक के समान गुणों वाली होती है । स्वस्त्री, परस्त्री और साधारण स्त्री —ये तीन विभाग नायिकाओं के हैं ।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ।। १५

शीलं=सुवृत्तम् । पतिव्रता, अकुटिला लज्जावती पुराचारनिपुणा स्वीया नायिका । तत्र शीलवती यथा—

'कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा ।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एत्ते ।।'
('कुलबालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।
प्रवसन्तीव प्रोषिते आयान्तीव प्रिये गृहमायाते ।।')

आर्जवादियोगिनी यथा—

'हसिअं अविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलाससच्छाअम् ।
भणिअं सहावसरलं धण्णाणं घरे कलत्ताणं ।।
('हसितमविकारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससच्छायम् ।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम् ।।'

लज्जावती यथा—

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परचिन्ताणिप्पिवासाइं ।
अविणअदिम्मोहाइं धण्णाणं घरे कलत्ताइं ।!'
('लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परचिन्तानिष्पिपासानि ।
अविनयदिङ्मोहानि धन्यानां गृहे कलत्राणि ।।')

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धा-मध्या-प्रगल्भा-भेदात्त्रिविधा ।

स्वीया नायिका के विभाग के साथ ही उसके सामान्य लक्षण बताते हैं—

स्वीया तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा । वह शील, ऋजुता (सरलता) आदि से युक्त होती है । १५

शील सदाचार है । इससे स्वीया नायिका का पतिव्रता कुटिलता-रहित लज्जावती और पुराचार (लोकयात्रा) में निपुण होना अभिप्रेत है ।

शीलवती नायिका का उदाहरण है—श्रेष्ठ कुल की बालिका के यौवन, लावण्य, विभ्रम और विलास, प्रिय के प्रवास करने पर मानो प्रवास कर जाते हैं और प्रिय के आने पर पुनः लौट आते हैं ।

आर्जवादि से युक्त नायिका—बड़भागी वे लोग हैं, जिनके घर में स्त्रियों का हँसना निर्विकार होते हुए भी मन को मोह लेता है, जिनका घूमना-फिरना विलास रहित होने पर भी शोभन है और बोलना स्वभावतः सरल है ।

लज्जावती नायिका—जिनका पर्याप्त प्रसाधन लज्जामात्र है, जो दूसरों की चिन्ता के विषय में इच्छारहित हैं और अविनय के पथ पर जिन्हें दिशाभ्रम है, अर्थात् उसे जानती तक नहीं, ऐसी स्त्रियाँ जिनके घर में हों, वे धन्य हैं ।

स्वीया नायिका उपर्युक्त प्रकार की होती है । स्वीया नायिकायें मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन प्रकार की होती हैं ।

१६. मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ।

तत्र वयोमुग्धा यथा—

विस्तारी स्तनभार एव गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।

मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥'

यथा च ममैव—

'उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरो वृद्धेः शंसत्यस्याः स्तनद्वयम् ॥'

काममुग्धा यथा—

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥'

रतवामा यथा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥' कुमार ८.२

मृदुः कोपे यथा—

'प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरितेनासज्याङ्के विनम्रमुखैवसा ।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदत्यपि चुम्बिता ॥'

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीयाः, यथा—

'न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते
न निःश्वासैः सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुखं
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति ॥'

१६. मुग्धा नायिका की अवस्था और कामवृत्ति नूतन होती है । वह रति के प्रति अनिच्छुक रहती है और क्रोधी होने पर भी कोमल बनी रहती है ।

मुग्धा नायिका वह है, जिसमें यौवन और काम प्रथम बार प्रकट हुए हैं । वह रमण में वाम होती है और सरलता से प्रसन्न की जा सकती है ।

वयोमुग्धा—स्तन कुछ बड़े तो हुए किन्तु वे पूर्ण ऊँचाई न प्राप्त कर सके । त्रिवली रेखामात्र से स्पष्ट हुई, किन्तु उनका उतार-चढाव स्पष्ट न हुआ । उसके बीच में सीधी लम्बी कुछ-कुछ भूरी रोमावली भी बन गई । यौवन और शैशव के मिलन से मिश्रावस्था रमणीय होती है ।

गोलाई की सीमा रेखा बनाये हुए, कली रूप में बँधे हुए उस वयोमुग्धा नायिका के उरोजद्वय मानो उच्छ्वास लेते हुए कह रहे हैं कि हमारी पूरी वृद्धि के लिए छाती पर पर्याप्त अवकाश नहीं है।

काममुग्धा—दृष्टि अलसाई हुई है, शिशुओं की क्रीड़ा में कोई रुचि न रही। सखियों के संभोग-विषयक वार्तालाप को जानने के लिए उधर कान लगाती है। पुरुषों की गोद में निःशंक भाव से बैठ जाने की प्रवृत्ति अब पहले जैसी नहीं रही। ऐसा करने वाली बाला धीरे-धीरे नूतन यौवनावस्था के प्रभाव से संयत हो चली है।

रति में वाम—पार्वती ने पूछने पर उत्तर नहीं दिया। वस्त्र पकड़े जाने पर भी चले जाने की इच्छा की, पराङ्मुख होकर सोई। यह सब शिव की प्रसन्नता के ही लिए हुआ।

कोप में मृदु—बाला के लिए पहला अवसर है कि प्रियतम के अपराध करने पर उसे मन्यु (कोप) हुआ। वह विकार मानो नहीं प्रकट कर रही है, केवल मुख नीचे करके बैठी रो रही है। उसका धूर्त-चरित बाला नायक उसे अंक में लेकर उसके चिबुक (ठोड़ी) और मस्तक को ऊँचा करके उसके अश्रुसिक्त होंठ चूम लेता है। वह बाला किसी प्रकार प्रणयभाव प्रकट नहीं करती।

मुग्धा नायिका का लज्जा के कारण अप्रत्यक्ष अनुराग-निबन्धन (संयम) पूर्ण होता है। उसका व्यवहार इस प्रकार चित्रित किया जाय। जैसे

पात्र में रखे आसव में प्रतिबिम्बित प्रियतम के मुख की छाया को मुग्धा नायिका देख रही है और उसे देखते ही रहना चाहती है। उसको यह सह्य नहीं कि उस आसव पर पुष्प का संस्कार (शोभा या आस्वादवर्धक वस्तु डालना) हो। (क्योंकि ऐसा होने देने पर नायक के मुख की छाया आसव में नहीं दिखाई देती।) इसी भय से सुभ्रू नायिका अपने निःश्वास भी धीमा रखती है कि कहीं आसव में लहर उठने से छाया विकृत न हो जाय। उस नवविवाहिता वधू को प्रियतम की छाया देखते हुए रोमाञ्च हो आया है। वह आसव न तो पीती है और न उसे हिलाती-डुलाती है। (ऐसा करने में छाया-दर्शन असम्भव हो जाता।)

अथ मध्या—

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तसुरतयोग्या मध्या।

तत्र यौवनवती यथा—

'आलापान् भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तियातं
नीवीग्रन्थि प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ् मध्यनिम्नो नितम्बः।
उत्पुष्यत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तःस्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्रीः ॥'

कामवती यथा—

'स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि—
यंदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रियाः॥'

मध्या सम्भोगे यथा—

ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति।
जाव ण कुवलयदलसच्छइं मउलेन्ति णअणाइं॥गाथा० १.५
('तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते।
यावन्न कुवलयदल-सच्छाये मुकुलयतो नयने॥

एवं धीरायामधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम्।

मध्या नायिका का यौवन और काम पूर्ण विकसित हैं। वह रमण करते समय मूर्च्छित तक हो जाती है।१६

मध्या को तरुणाई और काम पूर्णतः प्राप्त होते हैं। वह इस योग्य होती है कि रमण करते-करते मूर्च्छित हो जाय।

यौवनवती मध्या—अवश्य ही काम के द्वारा अपने धनुष की नोक से मृगछौने के समान नेत्रों वाला इस नायिका की यौवनश्री भीतर ही भीतर प्रभावित कर दी गई है। इसके भ्रूविलास उसकी वाणी को संयमित कर रहे हैं। अर्थात् वह भ्रूविलासों से ही काम लेती है, बातचीत की आवश्यकता उसके लिए कम हो रह गई है। उसके चलने में बाहों का आगे-पीछे होना शोभाशाली है। उसका नितम्ब मध्यभाग में कुछ निम्न हो चुका है और उसकी वृद्धि के कारण नीवी को ग्रन्थि अधिक विस्तृत बनानी पड़ती है। उसकी छाती पर उच्छ्रित कुच के शिखर पार्श्व-भाग के विकास से समृद्ध हैं।

कामवती मध्या—काम की नदी में जो बाढ़ आई, उसमें कामवती मध्या नायिका और उसके नायक बह चले, पर बड़े-बड़े सेतुओं (गुरुओं) से रक्षित वे विधृत (अलग) बने रहे। ऐसी स्थिति में उनके मनोरथ अपूर्ण रहे। वे चित्रलिखित से निश्चल अंगों से परस्पर उन्मुख होकर नयनरूपी नलिनी-नाल से प्राप्त रस का पान करते हैं अर्थात् दूर से परस्परावलोकन का रस ले रहे हैं।

मध्या का सम्भोग—रति के समय तब तक ही महिलाओं के लीला-विलास अच्छे लगते हैं, जब तक कमलदल के समान शोभाशाली उनके नेत्र मुकुलित नहीं हो जाते।

(इस प्रकार अन्य उदाहरण धीरा, अधीरा और धीराधीरा के दिये जा सकते हैं।)

अथाऽस्या मानवृत्तिः —

१७. धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद् दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ।। १७

मध्याधीरा कृतापराधं प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत् । यथा माघे—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ।।'७.५३

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथामरुशतके—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत् किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन् मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ।।'५७

अधीरा साश्रु परुषाक्षरम् यथा—

'यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च सखि मादरं कृथाः ।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ।।'

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिताः स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति, यथा—

'स्वेदाम्भःकणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विश्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्कम्पेऽपि वृद्धिं गते ।
दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाभियुक्तः प्रिया—
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया ।'

स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवेत्युत्प्रेक्षया प्रतीयते ।

१७. धीरादि की मानवृत्ति—

अपने अपराधी नायक को मध्या धीरा नायिका ताना सुनाती है, व्यंग्य बोलती है तथा आँसू गिराती है। इस प्रकार वह नायक को खेद पहुँचाती है। अधीरा मध्या नायिका क्रोध से कठोर वाणी का प्रयोग करती है।

मध्या धीरा अपराधी प्रिया को ताने सुनाकर और व्यंग्य बोलकर खिन्न करती है।

मध्याधीरा नायिका का प्रियतम अपराधी है। वह विटप (पल्लव) का उपहार देते हुए उसे प्रसन्न करना चाहता है। नायिका उसकी भर्त्सना करती है—हम इस उपहार

के योग्य नहीं हैं। किन्तु वह जो तुम्हारी प्रिया है, जो अकेले में तुम्हारा रस पान करती है और तुम्हारी रक्षा करती है, उसे ही यह पल्लव (विटप) दो, ताकि दो समान गुणधारियों का योग हो। (विटप का एक अर्थ है मनचला युवक)। यहाँ नई प्रेयसी को मनचला प्रेमी मिल जायेगी—यह मध्याधीरा नायिका का व्यंग्य है।)

ताना और व्यंग्य बोलने वाली धीराधीरा—नायक और मानिनी नायिका का संवाद है—हे प्रिये, नाथ। हे मानिनि, क्रोध छोड़ो। क्रोध करके मैंने क्या कर लिया है? तुम लोगों को खेद पहुँचाती हो। मेरी दृष्टि में आपका कोई अपराध नहीं है, मेरे ही सभी अपराध हैं। तो फिर तुम गद्गद स्वर से क्यों रो रही हो? किसके सामने रो रही हूँ? मेरे सामने। मैं तेरी कौन हूँ। दयिता। वही तो नहीं हूँ—इसीलिए रो रही हूँ।

अधीरा मध्या—आँखों में आँसू भरकर नायक को झिड़कती है। जैसे—

जायें, जायें। इन (नायक) के यहाँ ठहरने से क्या लाभ? हे सखि, इन्हें छोड़ो, छोड़ो। इनका आदर करना व्यर्थ है। इनके अधर (दूसरी प्रेयसी द्वारा) कलंकित हैं। ऐसे प्रिय को फूटी आँखों देखने में असमर्थ हूँ।

इसी प्रकार के मध्या नायिका के अन्य व्यवहार भी होते हैं, जिनमें व्रीड़ा (लज्जा) के तत्त्व का आवरण नहीं होता है और नायिका की ओर से नायक से मेल-मिलाप का प्रयास नहीं रहता है। जैसे—

मध्या नायिका के शरीर पर पसीने की कणिकायें उग आईं। उसे रोमाञ्च हो आया, गुरुओं के सम्बन्ध से सर्वथा निर्विघ्न वातावरण था, छाती में कँपकँपी बढ़ती जा रही थी, हृदय काम के पूर्ण वेग से निर्भर हो चला था। तब भी हठपूर्वक केश-कर्षण के साथ घनालिंगन-रूपी अमृत की आकांक्षावती उस मध्या नायिका ने अपनी ओर से नायक से समागम की पहल नहीं की।

नायिका ने पहल नहीं की—यह उसकी हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृत की उत्कट इच्छा से प्रतीत होता है। (यदि की होती तो यह स्थिति नहीं आती।)

अथ प्रगल्भा—

१८. यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्कके।
विलीयमानेवानन्दाद् रता रम्भेऽप्यचेतना ॥१८

गाढयौवना यथा ममैव—

'अभ्युन्नतस्स्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि।
मध्योऽधिकं तनुरतीव गुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

यथा च—

'स्तनतटमतीव तुङ्गं निम्नो तु नाभिः समुन्नतं जघनम् ।
विषमे मृगशावाक्ष्याः वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥'

भावप्रगल्भा यथाऽमरुशतके

'न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥'·८४

रतप्रगल्भाऽमरु[illegible]के—

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं वन्धनाद्-
वासः प्रश्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्वे स्थितम् ।
एतावत् सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः ॥'१०१

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणा वैदग्ध्यप्रायाः प्रगल्भाव्यवहारा वेदितव्याः । यथाऽमरुशतके ।

'क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ॥'१०७

१८. प्रगल्भा नायिका यौवनोचित काम के कारण मानों अन्धी और उन्मत्त होती है । प्रियतम के अङ्गों में आनन्द से विलीन-सी होती हुई, वह काम-क्रीड़ा के आरम्भ में ही बेसुध हो जाती है ॥१८

गाढयौवना प्रगल्भा के उदाहरण—छाती पर उरोज अभ्युन्नत होते हैं, आँखें वड़ी होती हैं, भौं टेढ़ी होती है । टेढ़ी वातें बहुत वनाती है । कटि अति क्षीण हो जाती है । नितम्व अतीव वढ़ जाता है । चाल धीमी हो जाती है । इस अद्भुत यौवनवती का यह सब कुछ निराला ही है ।

गाढयौवना का उरोज का चढ़ाव अतीव ऊचा है, नाभि नीची है । जघन-प्रदेश ऊँचा है । मृगछौने जैसी आँख वाली के अभिनव ऊँचे-नीचे (विषम) शरीर के विषय में कौन स्खलित-सा नहीं हो जाता ।

भावप्रगल्भा नायिका का उदाहरण—(वह कहती है) मेरा प्रिया जब सामने आता है और प्रिय बातें करता है, उस समय मेरे सभी अङ्ग नेत्र बन जाते हैं या कान ? यह समझ में नहीं आता ।

रतप्रगल्भा का उदाहरण—(उसका कथन है) प्रियतम मेरी शय्या पर आया तो नीवी अपने आप बन्धन-विमुक्त हो गई, शिथिल मेखला के शिथिल सूत्र में फँसा हुआ वस्त्र नितम्ब पर कुछ अँटका रह गया । हे सखि, बस यहीं तक जानती हूँ ।

उसके अङ्गों के सम्पर्क में आने पर—वह कौन है? मैं कौन हूँ। कामक्रीडा क्या है और कैसो है? किसी प्रकार की मुझे थोड़ी सी भी स्मृति न रही।

इस प्रकार अन्य भी प्रगल्भा के व्यवहार होते हैं, जिनमें लज्जोचित संयम का अभाव होता है और उसकी विदग्धता सविशेष होती है। उदाहरण है—प्रगल्भा की शय्या की चादर नायिका के सर्वविध प्रणय-क्रीडा का रहस्य प्रकट कर देती है—उस पर कहीं ताम्बूल के धब्बे होते हैं, कहीं चन्दन के लेप से चिह्नित होने की मलिनता होती है। कहीं चूर्ण विखरा है। कहीं आलक्तक-रंजित पद का चिह्न हैं। कहीं त्रिवली के चिह्न होते हैं और कहीं केशपाश से कुसुम विखरे होते हैं।

नान्दी टीका

भरत ने स्त्रियों के प्रथम, द्वितीय आदि चार यौवनों के लक्षण दिये हैं, जिनके समकक्ष धनञ्जय के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा प्रथम तीन के स्थान पर हैं। भरत का चतुर्थ यौवन धनञ्जय ने छोड़ दिया है।

अथास्याः कोपचेष्टा—

१९. सावहित्थादरोदास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा।
सन्तर्ज्य ताडयेद्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत्॥ १९

सहावहित्थेन = आकारसंवरणेनादरेण च = उपचाराधिक्येन वर्तते सा सावहित्थादरा, रतावुदासीना क्रुद्धा—कोपेन भवति।

सावहित्थादरा यथाऽमरुशतके—

‘एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत—
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्याऽन्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः॥’ १८

रतावुदासीना यथाऽमरुशतके

‘आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न स्रंसने वाससो
भग्नभ्रूगतिखण्डयमानमधरं धत्ते न केशग्रहे।
अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्या शिक्षित एष सम्प्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः।’’ १०६

इतरा त्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती सन्तर्ज्य ताडयति। यथाऽमरुशतके—

‘कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदन्त्या हसन्॥’ ९

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव तं वदति सोत्प्रासवक्रोक्त्या। यथा तत्रैव—

'कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनं
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः॥' ३८

प्रगल्भा की कोपचेष्टा

१८. आकार से मनोभाव न प्रकट करने वाली और आदर करती हुई-सी धीरा प्रगल्भा काम क्रीडा के प्रति उदासीन रहती है। अधीरा प्रगल्भा क्रोध से नायक को डाँटकर उसकी ताड़ना करती है। मध्या प्रगल्भा मध्याधीरा की भाँति नायक से बोलती है।

अवहित्थ=आकार-संवरण-पूर्वक और आदर अर्थात् उपचार की अधिकता-पूर्वक व्यवहार करती है। रति में उदासीन रहती है। क्रोध करती है।

सावहित्थादरा—प्रगल्भा का अमरुशतक में उदाहरण है—नायिका नायक के साथ आसन पर नहीं बैठती। दूर से ही प्रत्युद्गमन करके पान लाने के बहाने सह-सालिंगन भी नहीं करती। उससे संलाप भी नहीं करती, नौकर-चाकरों को उसके निकट नियुक्त कर देता है। उस चतुर नायिका ने नायक के प्रति कोरा उपचार दिखाते हुए अपने कोप को चरितार्थ किया।

रति में उदासीन—का उदाहरण अमरुशतक में—नायक के द्वारा वस्त्र खींचने पर दुःखिनी नायिका पूर्ववत् कलह नहीं करती। उसके केश पकड़ने पर नायिका भौंहें चला कर उसका अधर-दंशन नहीं करती। नायक के द्वारा हठपूर्वक आलिङ्गन करते समय वह संकोच नहीं करती हुई स्वयं सर्वात्मना समर्पण कर देती है। इस तन्वी ने कहीं से अब तो कोप प्रकट करने की एक नई विधि ही सीख ली है।

अधीर-प्रगल्भा—तो कोप करने पर डाँट-फटकार के साथ अपराधी पति की ताड़ना करती है। उदाहरण है अमरुशतक में—सन्ध्या के समय सखियों के सामने क्रोध करने वाली नायिका ने कोमललोल-बाहुलतिका पाश से नायक को दृढतापूर्वक पकड़कर केलिगृह में ले गई। उसने टूटे-फूटे अक्षरों वाली मृदुवाणी से नायक को उसके अपराधों को बताया कि तुमने फिर पूर्ववत् अपराध किया। धन्य है वह नायक जो रोती हुई नायिका के द्वारा इस प्रकार पीटा जाता हुआ अपने अपराधों को छिपाते हुए हँस रहा है।

मध्याधीराप्रगल्भा—मध्याधीरा की भाँति नायक को उपालम्भ और व्यंग्यवाणी सुनाती है। उदाहरण अमरुशतक में—वह प्रेम था जिसमें कोप भौं चढ़ा लेने मात्र तक सीमित था, मौन हो जाना मात्र दण्ड था, परस्पर विहँस देना अनुनय था और दृष्टिक्षेप मात्र प्रसाद था। देखो, उस भूतपूर्व प्रेम की तो अब इतिश्री हो गई कि तुम पैर पर गिरे पड़े हो और बुरी मैं हूँ कि मेरा क्रोध दूर नहीं हो रहा है।

पुनश्च—

२०. द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति। मुग्धा त्वेकरूपैव। ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥' १९

न चानयोर्दाक्षिण्यप्रेमभ्यामेव व्यवहारः, अपि तु प्रेम्णापि यथा चैतत्त-थोक्तं दक्षिणलक्षणावसरे । एषां च धीरमध्या-अधीरमध्या-धीराधीरमध्या-धीरप्रगल्भा-अधीरप्रगल्भा-धीराधीरप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठाभे-दाद् द्वादशानां वासवदत्ता-रत्नावलीवत्प्रबन्धनायिकानामुदाहरणानि महाकवि-प्रबन्धेष्वनुसर्तव्यानि ।

२०. अमुग्धा (मध्या और प्रगल्भा) के दो भेद ज्येठा और कनिष्ठा होते हैं। इस प्रकार उनके सब मिलाकर १२ भेद हैं।

मध्या और प्रगल्भा के पूर्वोक्त भेदों में से प्रत्येक ज्येष्ठ और कनिष्ठ दो-दो प्रकार के होने पर उनके सब १२ भेद हैं। मुग्धा एक ही प्रकार की होती है ।

ज्येष्ठा-कनिष्ठा का उदाहरण अमरुशतक में—

नायक ने देखा कि उसकी दो नायिकायें एक ही आसन पर बैठी हैं। पीछे से आकर उसने एक की आँखें बन्द करके प्रणय-क्रीडा का कृत्रिम कार्यक्रम प्रवर्तित किया। अपने कन्धे को थोड़ा टेढ़ा करके रोमाञ्च पूर्वक धूर्त नायक ने प्रेमपगी मन वाली और निगूढ हास्य से सुश्रीक कपोलों वाली दूसरी नायिका का चुम्बन लिया।

इन दोनों में ज्येष्ठा के प्रति दाक्षिण्य से और कनिष्ठा के प्रति वास्तविक प्रेम से युक्त नायक का व्यवहार होता है अपितु प्रेम से दोनों के प्रति नायक व्यवहार करता हैं। इस बात को दक्षिण नायक की चर्चा करते हुए पहले भी लिखा जा चुका है।

पूर्वोक्त नायिकाओं के धीरमध्या, अधीरमध्या, धीराधीरमध्या, धीरप्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा और धीराधीर-प्रगल्भा—इन छः भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिका रूप दो-दो भेद कर देने पर १२ भेद हुए। वासवदत्ता, रत्नावली नामक नाटिकाओं के समान अन्य काव्यों की नायिकाओं का अनुशीलन करने पर इन सभी भेदों का उदाहरण—स्वरूप नायिकायें ढूंढ निकालें।

अथान्यस्त्री

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ॥ २०
२१. कन्यानुरागमिच्छांतः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्योढा यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन् गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वनदीस्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥'

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न क्वचिन्निबन्धनीयेति न प्रपञ्चिता । कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते, तस्यां पित्रादिभ्योऽलभ्यमानायां सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात्प्रच्छन्नं कामित्वं प्रवर्तते, यथा मालत्यां माधवस्य सागरिकायां च वत्सराजस्येति । तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधाना-प्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीयः । यथा रत्नावलीनागानन्दयोः सागरिका मलयवत्यनुराग इति ।

अन्य स्त्री—कन्यका या अन्योढा दूसरे से (विवाहित) हो सकती है। अङ्गी रस में ऊढा को कहीं स्थान नहीं रहता । २०

२१ अङ्गरस और अङ्गीरस का आधार कन्या कोटि की नायिका का अनुराग स्वेच्छातः वर्णनीय है ।

किसी दूसरे नायक की अन्योढा का उदाहरण—अन्योढा कहती है—हे पड़ोसिन, थोड़ी देर के लिए इस घर पर भी दृष्टि डाले रखना । हमारे इस मुन्ने के पिता जी प्रायः कुयें का खारा जल नहीं पीते । मैं अकेले ही तमालवृक्षों से घिरे वननदी को धारा तक जाऊँगी । मार्ग में घने और खुर्राट टुकड़े वाली नरकट की गाँठों से मेरे शरीर पर खरोंच लगना स्वाभाविक है । (इसका व्यंग्यार्थ है कि कुलटा विवाहित नायिका उपपति से समागम के लिए जा रही है ।)

ऐसी अन्योढा परकीया को अङ्गी प्रधान रस का आलम्बन विभाव नहीं बनाते । अतएव इसका विस्तार नहीं किया जाता है । कन्या को इसलिए अन्य स्त्री कहते हैं कि वह पिता आदि (अन्य) के अधीन तो रहती ही है, यद्यपि अविवाहित होती है । वह पितादि संरक्षकों के अधीन होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से नहीं मिल पाती, फिर भी लुकछिप कर सुलभ बन ही जाती है । दूसरों के द्वारा प्रस्तुत बाधा या अपनी ही पहले की पत्नी के भय से उस कन्या से नायक का प्रणय-व्यापार प्रच्छन्न (छिपे-छिपे) चलता है । जैसे मालती-माधव प्रकरण में परोपरोध से मालती के साथ माधव का या

रत्नावली नाटिका में ज्येष्ठा नायिका के भय से सागरिका के साथ वत्सराज की छिपे-छिपे कामक्रीडा चलती है। ऐसी कन्या-नायिका के साथ नायक का अनुराग स्वेच्छातः अङ्ग और अङ्गी दोनों रसों में वर्णनीय है। रत्नावली और नागानन्द में सागरिका और मलयवती का अनुराग क्रमशः अङ्गी रस और अङ्गरस के रूप में है।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ।।२१

तद्व्यवहारो विस्तरतः शास्त्रान्तरे निर्दशितः। दिङ्मात्रं तु—

साधारण स्त्री गणिका होती है। वह कामकला, प्रगल्भता और धूर्तता में सविशेष होती है ।। २१

गणिका का व्यवहार विस्तार पूर्वक अन्य (काम-) शास्त्र में वर्णित है। नाम मात्र के लिए यहाँ भी उसका परिचय है—

२२. छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुषण्डकान् ।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत् ।।२२

छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः श्रोत्रियवर्णिलिङ्गिप्रभृतयः। सुखार्थः अप्रयासावाप्तधनः सुखप्रयोजनो वा। अज्ञो मूर्खः। स्वतन्त्रो निरङ्कुशः। अहंयुरहङ्कृतः। षण्डको बालषण्डादिः। एतान्बहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम्-तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्तेः। गृहीतार्थान्कुट्टिन्यादिना निष्कासयेत् पुनः प्रतिसन्धानाय। इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम्।

२२. अपनी काम-प्रवृत्तियों को छिपाने वाले, सुख चाहने वाले, विचारहीन, स्वतन्त्र, अहंकारी, और नपुंसकों (मनुष्य रूप में साँड़ों) का अनुरक्त-सी बनकर मनोरंजन करती है। उनके धनहीन हो जाने पर अपनी संरक्षिका से निकलवा देती है। २२

छन्नकाम वे हैं, जो लुकेछिपे काम-वासना परितृप्त करते हैं—श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी आदि। सुखार्थ वे हैं, जो विना श्रम के ही धनी वन जाते हैं या सुख की कामना करते हैं। अज्ञ मूर्ख हैं। स्वतन्त्र = निरंकुश। अहंयु=अहंकारी। इनके बहुत धनी होने पर धन पाने के लिए अनुरक्त-सी बनकर मनोरजन प्रस्तुत करती है। इसीलिए तो उसका धन्धा होता है। धन ले लेने पर कुट्टिनी के द्वारा निकलवा देती है, फिर आने के लिए। यह उनका स्वाभाविक रूप है।

रूपकेषु तु—

२३. रक्तैव त्वप्रहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये ।

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया। यथा मृच्छकटिके वसन्तसेना चारुदत्तस्य। प्रसहने त्वरक्तापि हास्यहेतुत्वात्। नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया।

२३. रूपकों में रक्ता कोटि की गणिका होती है। अपवाद है प्रहसन। दिव्य कोटि के या राजा के नायक होने पर गणिका नायिका नहीं हो सकती।

प्रहसन को छोड़कर प्रकरण आदि में अनुरागमयी ही गणिका नायिका बनाई जाती है। जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना चारुदत्त की है। प्रहसन में अनुराग रहित भी गणिका हँसी के लिए होती है। नाटकादि में दिव्य या नृप नायक के साथ गणिका का सामञ्जस्य वर्जित है।

अथ भेदान्तराणि—

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥२३

स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः। नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय। अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः।

न च वासकसज्जादेः स्वाधीनपतिकादावन्तर्भावः, अनासन्नप्रियत्वाद्वासकसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम्। यदि चेष्यत्प्रियापि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियापि न पृथग्वाच्या, न चेयता व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तुं शक्यम्। न चाविदितप्रियव्यलीकायाः खण्डितात्वम्। नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छायाः प्रोषितप्रियात्वम्। स्वयमगमनान्नायकं प्रत्यप्रयोजकत्वान्नाभिसारिकात्वम्। एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्यः। औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा, तथा विप्रलब्धापि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः,—उक्त्वा नायात इति प्रतारणाधिक्याच्च वासकसज्जोत्कण्ठितयोः पृथक्। कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका तथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः। तत् स्थितमेतदष्टाववस्था इति।

नायिका के अन्य भेद हैं।

इनकी आठ अवस्थायें स्वाधीनपतिकादि होती हैं।

स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका—ये आठ स्वकीया स्त्री आदि की अवस्थायें हैं। नायिकाओं की पहले भी अवस्थायें बताई जा चुकी हैं। अब ये नई अवस्थायें इस लिए बताई जा रही हैं कि पहले की अवस्थायें धर्मी हैं (जिनके धर्म यहाँ निर्दिष्ट आठ अवस्थात्मक हैं।) आठ इसलिए कहा गया कि आठ से न्यूनाधिक अवस्थात्मक भेद नहीं होते।

वासकसज्जादि को स्वाधीनपतिकादि के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता, क्योंकि वासकसज्जा का पति दूर होने के कारण उसे स्वाधीनपतिका नहीं मान सकते। यदि

उस नायिका को स्वाधीनपतिका मानें, जिस (वासकसज्जादि) का पति आने वाला है तो प्रोषितपतिका को भी स्वाधीनपतिका मानना पड़ेगा। ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता कि इतनी दूरी को दूरी न मानकर सान्निध्य ही माना जाय। जिस (वासकसज्जा) नायिका को अपने प्रियतम के अन्यनायिकासमागम की बात नहीं ज्ञात है, उसे खण्डिता नहीं कहेंगे। (वासकसज्जा) को प्रोषित प्रिया नहीं कहेंगे, क्योंकि रतिभोग की इच्छा में वह प्रवृत्त होती है और प्रोषितपतिका को रतिभोगेच्छा नहीं होती। वासकसज्जा को अभिसारिका नहीं कह सकते क्योंकि वह न तो प्रिय से मिलने के लिए अभिसार करती है और न उसे बुलवाती है। इसी प्रकार उत्कण्ठिता भी अन्य भेदों से अलग ही है। उत्कंठिता ठीक समय पर पति के न आने से खिन्न रहती है। वासकसज्जा ऐसी नहीं है। विप्रलब्धा भी वासकसज्जा के समान ही अन्य प्रकार की नायिकाओं से भिन्न ही है। विप्रलब्धा का प्रिय यह कहकर कि उस समय तुमसे मिलूँगा, नायिका से नहीं मिलता—ऐसी बात वासकसज्जा और उत्कंठिता के विषय में नहीं होती। कलहान्तरिता खण्डिता से इस बात में भिन्न है कि कलहान्तरिता अनुनय-विनय करने वाले प्रिय को ठुकराने पर उसके दूर चले जाने पर पश्चात्ताप करती है, खण्डिता के विषय में यह बात नहीं होती, यद्यपि खण्डिता और कलहान्तरिता में यह समानता है कि दोनों को अपने प्रियतम के अन्य नायिका से समागम रूप अपराध का ज्ञान रहता है।

इस विवेचन से यह निश्चित होता है कि पूर्वोक्त भेद आठ ही हैं, कम नहीं।

तत्र—

२४. आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः॥'

२४. स्वाधीनपतिका वह है जो अपने अधीन पति के निकट होने पर सुप्रसन्न है।

उदाहरण—(दो स्वाधीनपतिकायें अपने सौभाग्य का परिचय परस्पर दे रही हैं। उनमें से एक कहती है) हे सखि, गर्व मत करो कि मेरे कपोलतल पर प्रियतम के हाथों बनाई हुई मंजरी शोभित हो रही है। इस प्रकार के चिह्न मेरे कपोल पर भी होते, यदि उनको बनाते समय मेरे पति के हाथों की (सात्त्विक भाव के उद्रेक से उत्पन्न) कँपकँपी विघ्न न डालती।

यथा वासकसज्जा—

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २४

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये वासकसज्जा । यथा—

'निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ॥'

वासकसज्जा प्रिय के आने वाला होने पर प्रसन्नता से अपना मंडन करती है ।

यहाँ अपना मण्डन से तात्पर्य है घर का भी । प्रिय के आने का समय होने पर वह प्रसन्नता से अपना, अपने घर आदि को अलंकृत करती है । उदाहरण है—

कोई नायिका अपनी पल्लव के समान हथेली से मुखकमल का श्वास रोकने पर नासिका के छिद्रों की ओर ऊपर गई हुई मुख की सुगन्ध की परीक्षा करके प्रमुदित हुई ।

अथ विरहोत्कण्ठिता —

२५. चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मनाः ।

यथा—

'सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपालज्ञितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ॥

२५. विरहोत्कंठिता अपराध रहित प्रियतम के देर करने पर उन्मनस्क हो जाती है ।

उदाहरण—विरहोत्कण्ठिता नायिका अपनी सखी से कहती है—हे सखि, मेरे प्रियतम किसी दूसरी स्त्री के द्वारा वीणावादन की स्पर्धा में जीत लिये गये हैं । फिर तो निश्चय ही उसके साथ प्रियतम की रात कटेगी । अन्यथा अब आधी रात के समय शेफालिका के पुष्पों के झड़ जाने पर और चन्द्रमा के आकाश के मध्य पहुँच जाने पर मेरे प्रियतम अभी तक आकर मुझसे यहाँ नहीं मिले ।

अथ खण्डिता—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥२५

यथा शिशुपालवधे

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥११.३४

खण्डिता नायिका नायक की अन्य नायिका से प्रसक्ति के लक्षण देखकर ईर्ष्या के कारण खट्टे मन वाली हो जाती है ।२५

उदाहरण—नायिका नायक से कहती है—अपने गमछे से नायिका के द्वारा बनाये हुए नये नख-चिह्नों वाले अंग छिपा रहे हो । नायिका के दाँतों से कटे हुए अपने ओठ को हाथ से छिपा रहे हो । दूसरी स्त्री के संसर्ग को बताने वाला नव परिमल गन्ध सभी दिशाओं में फैल रहा है । इसको कौन छिपा सकता है ?

अथ कलहान्तरिता—

२६. कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

यथा अमरुशतके

'निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नेति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तंदिवं रुद्यते ।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः ॥'८२

२६ कलहान्तरिता अमर्षवशात् नायक को ठुकराकर उसके लिए पश्चात्ताप करती है ।

उदाहरण—(कलहान्तरिता स्वयं अपनी दशा का वर्णन करती है) हे सखियों, बताओ तो भला इस मान में कौन सा गुण है जिसे देखकर हम लोग इसका आश्रय लेते हैं । मानवती होने पर अब तो अपने ही निःश्वास से मेरा मुख जला जा रहा है । हृदय जड़ से उखड़ा जा रहा है । नींद नहीं आती । प्रियतम का मुख तक न दिखाई देने से रात-दिन रोना है । अंग सूख रहे हैं । मैंने ही पैर पर गिरे प्रिय को ठुकराया था ।

अथ विप्रलब्धा—

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥२६

यथा—

'उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥'

विप्रलब्धा प्रत्याशित मिलन-वेला पर नायक के न आने से अति अनादृत प्रतीत होती है ।

उदाहरण—विप्रलब्धा दूती से कहती है—हे दूति, उठो, अब चलें । पहर बीत गया । तथापि वे नहीं आये । इसके बाद भी जो जी सके, उसी के प्राणनाथ वे होने के योग्य हैं ।

अथ प्रोषितप्रिया—

२७. दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।

यथाऽमरुशतके—

'आदृष्टिप्रसरात् प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विश्रान्तेषु पथिष्वहःपरिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
माभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ॥'७६

२७. प्रोषितप्रिया का नायक कार्यवशात् परदेश में रहता है ।

जैसे अमरुशतक में—

जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी, वहाँ तक प्रियतम के आने का पथ देखकर विदेश गये पति की नायिका खिन्न हो गई । दिन बीतने पर मार्ग चलना बन्द होने पर और अन्धकार के घिर आने पर उस नायिका ने शोक से अपने घर लौटने के मार्ग पर एक पद रखा । इसी क्षण न आ गये हों—यह विचार करके तेजी से गर्दन मोड़कर फिर उसने पीछे की ओर देखा ।

अथाभिसारिका—

कामार्ताभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥२७

यथामरुशतके—

'उरसि निहितस्तारो हारः कृता जघने घने
कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षसे ॥'३१

यथा च शिशुपालवधे

'न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥'९·५६

अभिसारिका कामपीडित होकर स्वयं नायक के पास जाती है या उसे अपने पास बुलाती है ।२७

जैसे अमरुशतक में—नायिका ने छाती पर चमकता हार धारण किया । उत्फुल्ल जघन-प्रदेश पर कलकल करती हुई काञ्ची पहनी । पैरों में रुनझुन करता हुआ मणिनूपुर पहना । (उसकी सखी उससे कह रही है कि) इस प्रकार हे मुग्धे, ढोलक पीटकर यदि तुम प्रियतम के पास जा रही हो तो फिर क्यों कर भय से कम्पित होकर दिशाओं को देख रही हो ?

(प्रिय को अपने पास बुलाने के लिए किसी नायिका ने दूती को इस प्रकार

सन्देश दिया—उनके पास जाकर तुम इस प्रकार कुशलता से बोलना कि मेरी लघुता उनकी दृष्टि में न प्रतीत हो और वे मेरे ऊपर करुणा करें।

२८. चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।
युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः ॥२८

परस्त्रियौ तु कन्यकोढे। संकेतात् पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे इति त्र्यस्थितैवाऽनयोरिति। अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात्।

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ 'योऽप्येवं धीरः सोऽपि दृष्टो देव्याः पुरतः' इति मालविकावचनानन्तरम्, राजा—

'दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः॥' ४.१४

इत्यादि तन्न खण्डितानुनयाभिप्रायेण, अपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति।

तथानुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितात्वमेवेति न प्रोषितप्रियात्वम्-अनायत्तप्रियत्वादेवेति।

२८. अन्त की छः नायिकायें (विरहोत्कण्ठिता, खण्डितादि) चिन्ता, निःश्वास, खेद, अश्रु, विवर्णता, ग्लानि और प्रसाधनहीनता से युक्त होती हैं। आदि को दो नायिकायें—स्वाधीनपतिका और वासकसज्जा क्रीड़ा, धवलता और प्रमोद से युक्त होती हैं। २८

परस्त्री कन्या और विवाहित दो प्रकार की होती हैं। वे संकेत के पूर्व विरहोत्कण्ठिता होती है, फिर विदूषक आदि की सहायता से प्रियतम से मिलती-जुलती हुई अभिसारिका बनती हैं। नायक के किसी कारणवश संकेतस्थान पर न पहुँचने पर वे विप्रलब्धा होती हैं। इन दोनों प्रकार की नायिकाओं की यही अवस्थायें निर्धारित हैं। क्योंकि जिनके प्रिय उनके अधीन नहीं हैं, उनकी कोई अन्य अवस्था का योग नहीं बैठता।

परस्त्री खण्डिता नहीं हो सकती। मालविकाग्निमित्र में मालविका ने कहा है कि आप जो इतने धीर बनते हैं, वह मैंने देख लिया था जब आप महारानी के सामने थे। इसका उत्तर राजा ने दिया है—'हे बिम्बोष्ठि, नायकों का कुलव्रत होता है कि वे दक्षिण हों। हे दीर्घाक्षि, मेरे प्राण तो तुम्हारी आशा से ही अँटके हुए हैं।' इस प्रसंग में मालविका खण्डिता नायिका नहीं, जिसकी मनुहार के लिए नायक ने यह पद्य कहा है, 'अपितु मालविका मुझे सर्वथा देवी के अधीन समझ कर निराश न हो जाय' यह उसे विश्वास दिलाने के लिए कहा गया है।

इन दोनों प्रकार की नायिकाओं को, यदि नायक का समागम नहीं हो पा रहा है, क्योंकि वह कहीं दूर देश में है, उत्कण्ठिता ही कहेंगे, प्रोषितपतिका नहीं कहेंगे, क्योंकि प्रोषितपतिका वे ही नायिकायें होती हैं, जिनके प्रिय उनके अधीन हों अर्थात् जो विवाहित हों। यहाँ ऐसा नहीं है।

अथासां सहायिनः—

२६. दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥२६

दासी=परिचारिका। सखी=स्नेहनिबद्धा। कारूः=रजकीप्रभृतिः। धात्रेयी=उपमातृसुता। प्रतिवेशिका=प्रतिगृहिणी। लिङ्गिनी=भिक्षुक्यादिका। शिल्पिनी=चित्रकारादिस्त्री। स्वं चेति। दूतीविशेषाः। नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ताः। तथा च मालतीमाधवे कामन्दकीं प्रति—

'शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु ॥'३.११

तत्र सखी यथा—

'मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि वैधवी।
इति तु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते ॥'

यथा च गाथासप्तशत्याम्

'सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से ॥'१.१२
('सत्यं ज्ञायते द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्याः ॥')

स्वयं दूती यथा—

'महुएहि किं व पंथिअ जइ हरसि णियंसणं णियंबाओ।
साहेमि कस्स रन्ने गामो दूरे अहं एक्का ॥
(मधूकैः किंवा पथिक यदि हरसि निवसनं नितम्बात्।
साधयामि कस्यारण्ये ग्रामो दूरेऽहमेका ॥')

इत्याद्यूह्यम्।

२६. नायिका की सहायता करने वाली स्त्रियाँ हैं—दूती, दासी, सखी, कारू,

धाई, पड़ोसिन, भिक्षुकी (साधुनी) शिल्पिनी और स्वयं ही। ये सभी नेता के मित्र के पूर्वोक्त गुणों से समन्वित होती है।२९

दासी=परिचारिका। सखी—स्नेह-निबद्धा। कारू=धोबिन आदि। धात्रेयी=दाई। प्रतिवेशिका=पड़ोसिन। लिंगिनी (साधुनी)। शिल्पिनी=स्त्री-चित्रकारादि। स्वं च=अपने लिये दूती का काम स्वय करने वाली नायिका। दिये हुए काम को पूरा कर देने वाले गुणों से युक्त दूतियाँ इस दृष्टि से वैसी ही होती हैं, जैसे नायक के मित्र पीठमर्दादि। जैसे मालतीमाधव में कामन्दकी है—शास्त्रों में विश्वास, सहज बोध, प्रगल्भता, गुणशालिनी वाणी, समयानुशीलता, नित्य नूतन प्रतिभा का स्फुरण—ये गुण काम पूरा कराने वाले हैं। सखी सहायक है—(नायक से सखी कहती) मृगछौने जैसे नेत्रों वाली उस नायिका का ताप क्या बताऊँ? मैंने तो चन्द्रमा की मूर्ति अग्नि में गिरी देखी ही नहीं। दर्शकों की दृष्टि के लिए अमृत वह नारी रूप है—यह सुविदित है। ब्रह्मा को यह शिल्प विषयक उत्कृष्ट रचना तुम्हारी (नायक की) शठता से अब मिट जायेगी।

गाथा सप्तशती में उदाहरण है—यह सत्य ही प्रतीत होता है कि समान योग्य व्यक्ति के प्रति अनुराग ठीक रहता है। नायिका मर भी जाय तो तुमसे न कहूँगी। उसका तो मर जाना ही ठीक है।

नायिका अपने लिए स्वयं दूती का काम करने का उदाहरण है—

महुए से क्या? हे पंथक, यदि तुम नितम्ब-प्रदेश से वस्त्र भी खिसकाओ तो इस अरण्य में मैं किससे कहने जाऊँगी? गाँव दूर है और मैं अकेली हूँ।

अन्य प्रकार की नायिका की सहेलियों के उदाहरण सरलता से ढूँढ़े जा सकते हैं।

योषिदलङ्काराः

अथ योषिदलङ्काराः—

३०. यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्काराः स्त्रीणां भवन्ति।

तत्र—

३०. यौवन में स्त्रियों के सत्त्व से उत्पन्न बीस अलंकार होते हैं।

नान्दी टीका

नायक के जैसे सात्त्विक गुण शोभादि होते हैं, वैसे ही स्त्रियों के २० सात्त्विक अलंकार होते हैं। इनमें से नायक के प्रायः सभी सात्त्विक गुण तेज को छोड़ कर नायिका के सात्त्विक अलंकारों में परिगणित हैं, किन्तु इनकी परिभाषा नायक के लिए कुछ और है और नायिका के लिए कुछ और। भरत ने अलंकारों का विशेष महत्व बताते हुए कहा

है कि इन्हीं में रस और भाव की निर्झरिणी सविशेष हैं।[1] सात्त्विक अभिनय के द्वारा इनकी प्रस्तुति होती है, जो सर्वोपरि अभिनय-प्रकार हैं।

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः ॥३०

३१. शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥३१

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः, शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यं धैर्यमित्ययत्नजाः सप्त।

३२. लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्वोको ललित तथा ॥३२
३३. विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः।

उनमें से भाव, हाव और हेला—ये तीन शरीर से उत्पन्न होते हैं।

३१. शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य—ये सात भाव बिना किसी यत्न के ही प्रकट होते हैं।३१

३२. लीला, विलास, विच्छत्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विहृत—ये दश भाव स्वभावतः उत्पन्न होते हैं।

तानेव निर्दिशति—

निर्विकारात्मकात् सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३

तत्र विकारहेतो सत्यप्यविकारं सत्त्वं यथा कुमारसम्भवे—

'श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥३·४०

तस्मादविकाररूपात् सत्त्वात् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भावः। यथा—

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥'

यथा वा कुमारसम्भवे—

'हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥'३·६७

---

१. अलंकारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेया भावरसाश्रयाः ॥२२.४

यथा व ममैव—

'तं च्चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं च्चिअ किं पि साहेइ॥'
('तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति॥')

भाव निर्विकार सत्त्व से उत्पन्न होता है। यह सर्वप्रथम विकार के रूप में होता है।३३

विकार का कारण होने पर भी यदि मन में विकार न हो तो वह मन सत्त्व है।[1] सत्त्व का उदाहरण कुमारसम्भव में है—उस क्षण अप्सराओं का गीत सुनकर भी शिव ध्यानमग्न रहे। आत्मवशी लोगों की समाधि तोड़ने में कोई भी विघ्न समर्थ नहीं होते।

ऐसे विकाररहित मन से जो प्रथम शृंगारात्मक विकार होता है, वह भीतर ही भीतर परिणमन से बीज के (अङ्कुरित होने के पहले) फूलने की भाँति होता है। वही विकार भाव है।[2] जैसे—

दृष्टि अलसाई हुई है। शिशुओं की क्रीडा में कोई रुचि न रही। सखियों के सम्भोग-विषयक वार्तालाप को जानने के लिए उस ओर कान लगाती है। पहले जैसी प्रवृत्ति अब पुरुषों की गोद में निःशङ्क भाव से बैठ जाने की न रही। इस प्रकार व्यवहार करने वाली बाला धीरे-धीरे नूतन अवस्था के प्रभाव से संयत हो चली है।

जैसे कुमारसम्भव में—शिव तो कुछ-कुछ वैसे ही धैर्यहीन हो गये, जैसे समुद्र चन्द्रोदय के समय होता है। बिम्ब फल के समान ओठों वाले उमा के मुख पर उन्होंने दृष्टि डाल ही दी।

धनिक का भाव का निजी उदाहरण है—

वही वाणी, वे ही आँखें, वही यौवन है। अब दूसरी ही मदनश्री आ गई, जिससे कुछ नया ही संकेत होने लगा।

अथ हावः—

३४. भावतस्तु स शृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत्।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गारः स्वभावविशेषो हावः, यथा ममैव—

'जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहा तहा च्चेअ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेह॥'
('यत्किमपि प्रेक्षमाणां भणन्तीं रे यथा तथैव।
निर्ध्याय स्नेहमुग्धां वयस्य मुग्धां पश्य॥')

---

१. रागद्वेषाभ्यामनुपहतं हि मनः सत्त्वम्।

२. यद् वागादेरान्तररतिवासना सद्भावसमुपनतं किंचिद्विशिष्टरूपत्वं संदेहविकारविशेषो भावः। अभिनवभारती ना०शा० २२.८ पर।

३४. भाव का शृंगार (विकास-क्रम में) हाव होता है। इसमें आँख और भौं में थोड़ा विकार हो जाता है।[१]

हाव ऐसा शृङ्गार है, जो निर्धारित अंग (आँख और भौं) में विकार उत्पन्न करता है। वह विशेष प्रकार का स्वभाव (चित्तवृत्ति) ही है। जैसे धनिक का श्लोक उदाहरण प्रस्तुत करता है—हे मित्र स्नेह-प्रवण मुग्धा को सूक्ष्मता से देखो, वह कुछ नये ढंग से देख रही है, नये ढंग से बोल रही है।

अथ हेला—

स एव हेला सुव्यक्तश्शृङ्गाररससूचिका ।। ३४

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात् सुव्यक्तश्शृङ्गाररससूचको हेला। यथा ममैव—

'तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्गं विब्भमा थणुब्भेए।
संसइअबालभावा होइ चिरं जह सहीणं ऽपि ।।'
('तथा झटित्यस्याः प्रवृत्ताः सर्वाङ्गं विभ्रमाः स्तनोद्भेदे।
संशयितबालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि ।।)

हेला हाव ही का विकसित रूप है। यह स्पष्ट रूप से शृंगार-सूचिका होती है। ३४

प्रबलतर विकार के स्पष्ट होने पर हाव के पश्चात् शृंगार का अगला क्रम हेला है। ऐसी स्थिति में इसमें शृंगार रस सुव्यक्त होता है। उदाहरण धनिक का—नायिका का स्तनोद्भेद होने पर उसके सभी विभ्रम एकाएक बढ़ चले। सखियों को भी अब सन्देह हो रहा है कि वह नायिका बाला रह गई क्या ?

अथायत्नजाः सप्त। तत्र शोभा—

३५. रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम्।

यथा कुमारसम्भवे—

'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य बालां क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः' ।। ७.१३

---

१. हाव की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं कि इसमें हु धातु देने के अर्थ में है। किसी कुमारी से अपनी चित्तवृत्ति दूसरे को अर्पित करने के लिए हाव उसे प्रेरणा प्रदान करता है। ना० शा० २२.१० पर भारती।

इत्यादि। यथा च शाकुन्तले—

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः' ॥२·१०

अयत्नज अलंकार सात होते हैं। इनमें प्रथम शाभा है—

३५. शोभा अङ्गों का समलंकरण है, जो रूप, उपभोग और यौवन से उत्पन्न होता है। जैसे कुमारसम्भव में—

वहाँ बाला पार्वती को पूर्वमुख करके सामने खड़ी स्त्रियाँ क्षण भर के लिए रुक गईं। सभी प्रसाधन निकट होने पर भी सहज सौन्दर्य से आकृष्ट नेत्रों वाली वे स्त्रियाँ स्तब्ध हो गईं। इत्यादि

शाकुन्तल में दुष्यन्त नायिका के नैसर्गिक रूप से विमुग्ध होकर कहता है—

शकुन्तला का सर्वाङ्गपूर्ण रूप न सूँघे हुए पुष्प के समान, नख से न लूने पल्लव के समान, अनछेदे रत्न की भाँति, अनचखे नये मधु के समान मानो पुण्य का अखण्ड फल ही है। पता नहीं, कब भगवान् इस रूप का भोगने वाला यहाँ उपस्थित कर देंगे ?

अथ कान्तिः—

मन्मथाप्यायितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥ ३५

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः। यथा—

'उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम्।
एतस्याः कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका-
दप्राप्ताङ्गसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ॥'

यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य।

कान्ति शोभा ही है, जिसमें काम वृत्ति से शोभा का चमत्कार संवर्धित होता है। ३५

नायक के प्रति अनुराग के घनीभूत होने पर शोभा कान्ति बन जाती है।

नायक रूप धारी अन्धकार नायिका के चन्द्रमुख के द्वारा अपनी द्युति से भगाया गया वह पीन कुचस्थली की द्युति से छिन्न-भिन्न हो गया। हाथ की प्रभा से वह अन्धकार मार भगाया गया। इन अंगों का स्पर्शसुख न पाकर गौरा पक्षा के कण्ठ के समान अन्धकार मिलन की उत्सुकता से क्रोधपूर्वक सहसा उसके केशपाश में चिपक गया।

बाणभट्ट की कादम्बरी में महाश्वेता का वर्णन कान्ति का उदाहरण है।

अथ माधुर्यम्—

३६. अनुल्वणत्वं माधुर्यम्—

यथा शाकुन्तले—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥' १·१७

३६. माधुर्य है सौम्यता।

अभिज्ञानशाकुन्तल में उदाहरण—सेवार चिपकने पर भी कमल रमणीय बना रहता है। चन्द्रमा का मलिन कलङ्क भी उसकी शोभा को बढ़ाता है। यह सुन्दरी (शकुन्तला) वल्कल धारण करने पर भी अधिक मनोरम है। मधुर आकृति के लिए सब कुछ मण्डन बन जाता है।

नान्दी टीका

सन्तापक या रामणीयक सभी स्थितियों में अपनी चेष्टा को सौम्य बनाये रखना माधुर्य है। ना० शा० २२·२८ पर भारती।

अथ दीप्तिः—

—दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः।

यथा—

'दे आ पसिअ णिअन्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥'
'प्रसीद प्रार्थये तावत् निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥'

दीप्ति कान्ति नामक अलंकार की अतिशयता है।

जैसे—(नायक दूर चले जाने का उपक्रम करती हुई नायिका से कहता है) प्रार्थना करता हूँ कि प्रसन्न हो जाओ, लौट पड़ो। अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से सामने की अन्धकार-राशि के हट जाने से अन्य कृष्णाभिसारिकाओं को प्रियतम-मिलन के लिए निकलने में तुम बाधा पहुँचा रही हो।

अथ प्रागल्भ्यम्—

निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्—

मनःक्षोभपूर्वकोऽङ्गसादः साध्वसम्, तदभावः प्रागल्भ्यम्। यथा ममैव—

'तथा व्रीडाविधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यकं गता ॥'

प्रागल्भ्य (पूर्ण वैदग्ध्य से उत्पन्न) निर्भयता है।

मन के क्षोभ के साथ अङ्गों का अशक्त होना साध्वस है। उसका अभाव प्रागल्भ्य है। उदाहरण के लिए धनिक की उक्ति है—लज्जाशील और मुग्धा तो सुन्दरी है, किन्तु कला प्रयोग के कौशल (प्रदर्शन) में वह सभासदों के बीच आचार्य रूप में प्रतिष्ठा पाती है।

नान्दी टीका

ना० शा० २२.३१ के अनुसार निस्साध्वसता प्रयोग में होनी चाहिए। प्रयोग है ६४ कामकलायें।

अथौदार्यम्—

—औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥३६

यथा गाथासप्तशत्याम्

'दि अहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारम्।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्ताए ॥' ३.२६
('दिवसं खलु दुःखितायाः सकलं कृत्वा गृहव्यापारम्।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे स्मरामः पादान्ते सुप्तस्य ॥'

यथा वा—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि। रत्नावली २.२०

औदार्य है नित्य विनय।३६

जैसे गाथासती में उदाहरण है—दिन भर घर के सब काम कर लेने के पश्चात् भारी मानसिक सन्ताप होने पर भी वह नायिका नायक के पैर के पास सो गई—यह हमें स्मरण है।

रत्नावली में उदाहरण है—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि २.२०

नान्दी टीका

अभिनव भारती ना० शा० २२.३१ के अनुसार सदा से तात्पर्य है अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोधादि की अवस्थाओं में भी। प्रश्रय है परुष वचन न बोलना।

अथ धैर्यम्—

३७. चापलाविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना।

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति। यथा मालतीमाधवे—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी
दहतु मदनः किं वा मृत्योः परेण विधास्यति।
मम तु दयिता श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥ २.२

३७. धैर्य वह चित्तवृत्ति है, जो चंचलता से त्रुटित न हो। इसमें विकत्थना (आत्मप्रशंसा) का अभाव होता है।

चपलता के कारण विघ्नित न होने वालो मनोवृत्ति धैर्य है। इसमें आत्मगुणों की वर्णना का अभाव होता है। मालतीमाधव में उदाहरण है—मालती कहती है—पूर्ण चन्द्र प्रतिरात्रि आकाश में ज्वाला उत्पन्न करता रहे। कामदेव भी जलाने का काम प्रवर्तित करता रहे। वह मृत्यु से बढ़ कर और कौन विपत्ति ढायेगा ? मेरे प्रिय पिता प्रशंसनीय हैं। मेरी माता शुभ्र वंश की है। मेरा कुल निर्मल है। यह पुरुष (माधव) और मेरा जीवन भी इतने प्रिय नहीं हैं।

अथ। स्वाभाविका दश। तत्र —

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥३७

प्रियकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला।
यथा ममैव—तह दिट्ठं तह भणिअं ताए णिउदं तहा तहासीणम्।

अवलोइअं सइण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहिं॥'
('तथा दृष्टं तथा भणितं तथा निवृत्तं तथा तथासीनम्।
अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः॥')
यथा वा—'तेनोदितं वदति याति तथा यथासौ' आदि।

स्वाभाविक दशायें दश होती हैं। उनमें

लीला है प्रियतम का अनुकरण। ऐसा करते हुए आङ्गिक चेष्टायें मधुर होनी चाहिए। ३७

प्रिय की वाणी, वेष और चेष्टा के समान कामिनियों के द्वारा अपनी वाणी, वेष और चेष्टायें दिखाना लीला है। उदाहरण है धनिक की उक्ति—नायिका का वर्णन है—

(नायक) जैसे देखता, बोलता, प्रावरण धारण करता है, वैसा ही जब नायिका ने किया तो सपत्नियों के द्वारा यह सब कार्य-व्यापार सतृष्ण होकर विभ्रमपूर्वक देखा गया।

अन्य उदाहरण है—उस (नायक) के द्वारा कही बात नायिका कहती है, वैसे ही चलती है, जैसा नायक चलता है। इत्यादि

अथ विलासः—

३८. तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु।

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्ति-र्विलासः। यथा मालतीमाधवे—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य-
माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥' १२९

३८. विलास है (नायिका के) अङ्ग, क्रिया और वाणी में कुछ तात्कालिक (समयोचित) अतिशयता या विशेषतायें ।

दयित (प्रियतम) को देखने के समय अङ्ग, क्रिया और वाणी में जो अत्युत्कृष्ट विशेपतायें उत्पन्न हो जाती हैं, वे विलास हैं । जैसे मालतीमाधव में नायक माधव मालती के विषय में कहता है—

इस बीच उस विशालनयना नायिका का रमणीय अनिर्वचनीय, विजयी तथा कामदेव के द्वारा उल्लासित वैचित्र्य था । वह मानों सबके लिए आचार्य रूप में प्रकट हुआ । वह सात्त्विक विकारों के कारण विशेप रम्य था और उनमें विभ्रमों का साहचर्य था ।

अथ विच्छित्तिः —

आकल्परचनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥३८

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छितिः । यथा कुमारसम्भवे—

'कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोच नाभेदनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥'७.१७

विच्छित्ति है नायिका का तनिक भी प्रसाधन, जिससे उसकी कान्ति में चार चाँद लग जायें ।३८ .

थोड़ा भी वेष, जो अतिशय रमणीयता उत्पन्न कर दे, विच्छित्ति है । जैसे कुमार-सम्भव में—

कान पर पार्वती ने जो जौ का अङ्कुर धारण किया उसने तो आँखों को बाँध ही लिया, क्योंकि वह किंशुक का चूर्ण लगाने से सूखे और गोरोचना के लेप से नितान्त गौर उसके कपोल पर सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था ।

इस प्रसंग में वेष है माल्याच्छादन-विलेपनादि ।

अथ विभ्रमः—

३९. विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

यथा —

'अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥'

यथा वा ममैव—

'श्रुत्वायातं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः॥'

३८. विभ्रम है व्यग्रता के कारण किसी विशेष अवसर पर अलंकरण का अयथा-स्थान होना। जैसे

चन्द्रोदय होने पर अपने कुशल प्रियतम की दूती से बातचीत करती हुई नायिकाओं की आँख और मानस के स्वस्थ न होने के कारण उन्होंने जो अपना प्रसाधन किया, उसके अयथास्थान प्रयोग से सखियाँ हँसने लगीं।

दूसरा उदाहरण धनिक-विरचित है—

प्रियतम को आया हुआ सुनकर अपना प्रसाधन पूरा करने के पहले ही नायिका ने मस्तक पर अंजन, आँखों में लाक्षा (महावर) और कपोल पर तिलक धारण कर लिया।

अथ किलकिञ्चितम्—

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम् ॥३८

यथा ममैव—

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित-
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥'

किलकिंचित है क्रोध, अश्रु, हर्ष, भीति आदि भावों का मिश्रण।३९

उदाहरण है धनिक की उक्ति—नायक कहता है—

रतिक्रीडा के जुये में किसी-किसी प्रकार बाजी जीतकर मेरे द्वारा जब उस नायिका का अधर प्राप्त किया गया तो अपने कण्ठ से मधुर कलकल ध्वनि निकालती हुई उसने भौं चढ़ाई, लज्जा से रोने-सी लगी, हास्य, क्रोध और घबराहट दिखाई और अन्त में मेरी ओर मुख कर दिया।

अथ मोट्टायितम्—

४०. मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं मोट्टायितम्। यथा पद्मगुप्तस्य नवसाहसाङ्कचरिते

'चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा॥' ६.४२

यथा वा—

'मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु-
र्जृम्भामन्थरतारकां सुललितापाङ्गां दधाना दृशम् ।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव-
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः ॥'

यथा वा ममैव—

'स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्याः
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥'

४०. मोट्टायित है प्रिय के प्रति (अनुराग) से (अन्तःकरण का) भावित होना, जब प्रिय की कथादि सामने हो ।

इष्ट कथा से तात्पर्य है प्रियतम की कथा, (चित्र, मूर्तादि के द्वारा) अनुकरणादि। इस स्थिति में प्रिय के प्रति जो अनुराग होता है, उससे अन्तःकरण का प्रभावित होना मोट्टायित है। जैसे पद्मगुप्त के नवसाहसाङ्कचरित में—नायिका ने चित्र में राजा को देखा तो उसके चित्त में तत्त्वतः राजा का आवेश हुआ। परवश-सी नायिका ने भी लज्जा से मुखचन्द्र मोड़ लिया ।

दूसरा उदाहरण है—नायिका की सखी उससे कहती है—जँभाई से शिथिल-तारकायुक्त और रमणीय अपाङ्ग युक्त नेत्र धारण करती हुई किसको हृदय में बसा कर बड़ी देर से रोमाञ्चित अङ्गों वाली बन गई हो ? तुम सोई हुई सी, चित्र में लिखी हुई सी रेखामात्र सी बन गई हो। अपने से ही द्रोह करने वाली, लज्जा करने से क्या ? मुझसे तो बताओ। अज्ञात काम तो प्राण ही हर लेता है ।

तीसरा उदाहरण धनिक की उक्ति है—

नायिका की सखी नायक से कहती है कि उस नायिका की कामपीडा का कारण जानने के उद्देश्य से, हे सुभग, जब तुम्हारी चर्चा प्रस्तुत की गई तो अंगड़ाई-पूर्वक जँभाई लेकर पीठ को तानती हुई और पृथुल उरोजों को उचकाती हुई उसने बाँहों को ऊपर गोलाकार बना लिना ।

अथ कुट्टमितम्—

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत् केशाधरग्रहे ॥ ४०

यथा—

नान्दीपदानि रतिनाटकविघ्नशान्ता-
वाज्ञाक्षराणि मधुराणि मनोभवस्य ।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥'

कुट्टमित में नायिका मन ही मन प्रसन्न होती है, पर दिखाने के लिए कोप करती है, जब नायक उसका केश-ग्रहण और अधरपान करता है।

उदाहरण—उस नायिका के सीत्कार और शुष्क रोदन बंधाई के योग्य हैं जिसके अधर को नायक ने उसकी अंगुलियों के प्रकम्पित होते हुए भी दन्तक्षत अर्पित किया था। वे (सीत्कार और रुदित) रति रूपी नाटक में आने वाले विघ्नों की शान्ति के लिए नान्दीपाठ स्वरूप हैं, अथवा काम देव की आज्ञा के मधुर अक्षर स्वरूप हैं।

अथ विव्वोकः—

४१. गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया।

यथा ममैव—

सव्याजं तिलकालकान् विरलयंल्लोलाङ्गुलिः संस्पृशन्
वारं वारमुदञ्चयन्कुचयुगप्रोदञ्चि नीलाञ्चलम्।
यद्भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकित—
स्तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थीकृतः॥

४१. बिब्वोक है नायक के अभीष्ट होने पर भी गर्व और अभिमान के कारण नायिका द्वारा उसका अनादर।

उदाहरण है धनिक की उक्ति—नायक नायिका को उलाहना देता है—बहाने से तिलक पर आये हुए केशपाश को हटाते हुए, चंचल अंगुलियों वाला (मैं) स्पर्श करते हुए उरोजद्वय को आवृत करते हुए नीलाञ्चल को वारंवार खिसकाते हुए (मैं) तिरस्कारपूर्वक भ्रूभंगी से लहराती हुई दृष्टि से अनादर पूर्वक तुम्हारे द्वारा देखा गया। मैं गर्व से तुम्हारे द्वारा तिरस्कृत हूँ। हे प्रियतमे, तुम्हारे द्वारा मैं कृतार्थ तो किया ही नहीं गया।

अथ ललितम्

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत्॥ ४१

यथा ममैव—

'सभ्रूभङ्गं करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याञ्चलेन।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-
र्निस्सङ्गीतं प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी॥'

ललित है अङ्गों का सुकुमार विन्यास, जो रमणीय हो। ४१

उदाहरण है धनिक की उक्ति—नायिका का वर्णन है—उसकी वाणी के साथ भौं की भंगिमा और कर-किसलय की मुद्रायें होती हैं। देखती है तो लालित्य-पूर्वक कनखियों से। चलती है तो चरणकमलों को लीलापूर्वक धरती है। नये यौवन ने बिना संगीत के ही उस कमलनयनी को नर्तनमयी बना दिया है।

अथ विहृतम्

४२. प्राप्तकालं न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विहृतं हि तत् ।

प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यदवचनं तद्विहृतम् । यथा

पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिना सापदेशं लिखन्ती
भूयो भूयः क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यन्मां नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तद् दुनोति ॥१३६

४२. अवसर आने पर यदि नायिका लज्जा के कारण कुछ बोले नहीं तो विहृत नामक अलङ्कार होता है ।

अवसरोचित बात को भी लज्जा के कारण मुँह से न निकालना विहृत है । उदाहरण है अमरुशतक में—नायक नायिका के सम्बन्ध में आपबीती सुनाता है—बहाने से ही नायिका पैर के किसलय जैसे सुन्दर अंगूठे से भूमि पर रेखा बनाती हुई, बारंबार मेरे ऊपर चंचल पुतली वाली चितकबरी दृष्टि डालती हुई, लज्जा से थोड़ा अवनत और स्फुरणशील होठ वाले, कोई वाक्य भी अपने भीतर छिपाये हुए मुख वाली उस नायिका ने मुझसे कुछ भी नहीं कहा, जो उसके हृदय में था । यह सब मेरे मन को खिन्न बना रहा है ।

नेता के अन्य सहायक

अथ नेतुः कार्यान्तरसहायानाह—

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वात्मा वोभयं वा सहायः ।

नेता के कुछ अन्य कार्यक्षेत्रों के सहायक बतलाते हैं—

मन्त्री, स्वयं राजा या दोनों राजकीय अर्थ चिन्तन में सखा (सहायक) होते हैं ।

उस नायक की अर्थचिन्ता में मन्त्री, स्वयं राजा (युवराज ?) या दोनों ही सहायक होते हैं । अर्थचिन्ता दो प्रकार की है ।[1]

१. तन्त्र=स्वराष्ट्रचिन्ता और २. आवाप=परराष्ट्रचिन्ता ।

नान्दी टीका

राजा स्वयं अपना सहायक हो—यह असमंजस में डाल देता है । भरत ने

१. तन्त्रः स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तने इति वैजयन्ती ।

हो इस भ्रान्ति को जन्म दिया था यह कह कर कि नृप का सहायक राजा भी होता है।[1] अभिनवगुप्त ने इस असमंजस को दूर करने के लिए व्याख्या की कि इस कारिका में राजा का अभिप्राय युवराज है।[2] धनञ्जय के प्रयुक्त पद 'स्वम्' (राजा) को युवराज के लिए मानना समीचीन होगा।

यहाँ भरत और धनंजय दोनों ने सहायक की सूची में भ्राता को नहीं रखा— यह उनका अनवधान ही कहा जा सकता है। रामचरित से सम्बद्ध नाटकों में लक्ष्मण और वेणीसंहार में भीम और अर्जुन भातृकोटि के अनुत्तम सहायक हैं। प्रतिमा नाटक और कुन्दमाला के भरत इसी कोटि के कथा पुरुष हैं।

तत्र त्रिभागमाह—

४३. मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धिः। शेषा धीरोदात्तादयः अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वाङ्गीकृतसिद्धये इति।

४३. मन्त्री के द्वारा ललित कोटि के नायक को फल की प्राप्ति कराई जाती है। धीरोदात्तादि नायकों के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। मन्त्री के द्वारा स्वयं अपने प्रयास से या दोनों के मिले-जुले प्रयास से उनको सफलता मिलती है।

धर्मसहायास्तु—

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३

ब्रह्म=वेदस्तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः, आत्मज्ञानिनो वा। शेषाः प्रतीताः।

ऋत्विक् और पुरोहित नायक के धर्मकार्य में सहायक होते हैं। तपस्वी और ब्रह्मवादी भी ऐसे ही धर्मक्षेत्र के सहायक हैं।४३

ब्रह्म=वेद, उसकी जो व्याख्या करे या आचरण में उतारे वह ब्रह्मवादी है। वे आत्मज्ञानी कहे जाते हैं। शेष स्पष्ट है।

दुष्टदमनं दण्डः। तत्सहायास्तु—

४४. सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

स्पष्टम्।

दण्ड है दुष्टों का दमन करना। इस काम के सहायक—

४४. सुहृत्, कुमार, आटविक, सामन्त और सैनिक हैं।

---

१. राजा सेनापतिश्चैव पुरोधा मन्त्रिणस्तथा।
सचिवाः प्राड्विवाकाश्च कुमाराधिकृतस्तथा ॥२४.७४

२. युवराजोऽत्र राजशब्देनोक्तः।

एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि । यदाह ।

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ।।४४

४५. म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः ।

शकारो राज्ञः श्यालो हीनजातिः ।

इस प्रकार अन्य विविध कार्यों में अन्य सहायक बनाये जायँ । यही बात कही गई है—

अन्तःपुर में वर्षवर (नपुंसक), किरात, मूक, वामन, म्लेच्छ, आभीर, शकारादि अपने-अपने पद के अनुरूप कार्यों में उपयोगी बनाये जाते हैं ।

शकार राजा का साला नीच जाति का होता है ।

विशेषान्तरमाह—

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ।।४५

४६. तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः ।।४६

एवं प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रीपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन त्रिरूपता । उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्ययोपचयापचयेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ।

नायकों के अन्य भेद बताते हैं—

सभी (नायकों या कथापुरुषों) का तीन वर्गों में विभाजन होता है—ज्येष्ठ, मध्यम और अधम । इनका उत्तम आदि वर्गों में स्थान पाना पूर्वोक्त गुणों के तारतम्य भाव से निर्धारित होता है ।

इस प्रकार नाट्य में नायक (राजा) अपने सहायकादि के साथ प्रस्तुत किया जाता है ।४६

पहले बताये हुए नायक, नायिका, दूत; दूती, मन्त्री, पुरोहित आदि के उत्तम, मध्यम और अधम होने से तीन वर्ग बन जाते हैं । उत्तमादि होना (सामान्य) गुणों की संख्या की न्यूनाधिकता से नहीं निर्णीत होता, अपितु गुणों की अतिशयता के तारतम्य (उच्चतर, उच्चतम) होने से जाने जाते हैं ।

वृत्तिः

उक्तो नायकः । तद्व्यापारस्तूच्यते—

४७. तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा, तत्र कैशिकी ।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ।।४७

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः । सा च कैशिकी सात्त्वती

आरभटी-भारतीभेदाच्चतुर्विधा । तासां गीतनृत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्यमाणो मृदुः शृङ्गारी कामफलावच्छिन्नो व्यापारः कैशिकी ।

नायक की व्याख्या समाप्त हो गई। नायक के व्यापार का विवरण दिया जाता है।

४७. नायक की व्यापारात्मिका वृत्ति चार प्रकार की होती है। उनमें से कैशिकी वृत्ति गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गार-चेष्टाओं के कारण मृदु (कोमल) होती है।

नेता के व्यापार का स्वभाव वृत्ति है। अर्थात् नेता किस प्रकार का काम करता है—यह वृत्ति से व्यक्त होता है। वृत्ति और प्रवृत्ति एक हैं। वृत्ति चार प्रकार की होती है—कैशिका, सात्त्वती, आरभटी और भारती। इनमें से फल रूप में काम को प्राप्त कराने वाले व्यापार—गीत, नृत्य, विलास, कामोपभोग आदि नाम से जाने जाते हैं। ये व्यापार स्वभावतः मृदु और शृंगारी होते हैं।

नान्दी टीका

वृत्ति का अभिप्राय व्यापार, व्यवहार या काम है। तद्व्यापारात्मिका में तत् नायक या कथापुरुष के लिए प्रयुक्त है। यहाँ उन्हीं व्यापारों को वृत्ति के अन्तर्गत लिया जायेगा, जो फल प्राप्ति के साधक हैं।

वृत्तियाँ कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती हैं। इनमें से कैशिकी गीत-वाद्यादि रंजक शृंगार-प्रधान व्यापारों के लिए आती है, सात्त्वती शौर्य, त्याग आदि से सम्बद्ध व्यापारों के लिए प्रयुक्त होती है। आरभटी मे आवेशमय घटना होती है। भारती में मौखिक व्यापार (भाषण) होता है। अभिनव गुप्त ने बताया है कि साधारणतः ये वृत्तियाँ अकेली ही नहीं रहतीं, सकीर्ण रूप में मिलती हैं अर्थात् एक, दो या तीन वृत्तियाँ साथ-साथ चलती हैं। वृत्तियों में वाङ्मनःकायचेष्टायें साथ-साथ रहती हैं। जिस प्रसंग में जिस प्रकार का व्यापार सबसे अधिक होता है, उसके नाम पर वहाँ वृत्ति का नाम दिया जाता है। करुण कथा में भी मन और शरीर के कुछ व्यापार रहते ही हैं, किन्तु वाग्व्यापार के बाहुल्य के कारण वहाँ भारतीवृत्ति होती है।

रूपक में वृत्ति आद्यन्त रहती है, क्योंकि अभिनव गुप्त के अनुसार कथा व्यापार (वृत्ति) के विना नहीं चलती।[1]

सा तु—

४८. नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका ।

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परामृश्यते ।

४८. कैशिकी वृत्ति के चार अङ्ग हैं—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ ।

१. न हि किञ्चिद् व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति । ना० शा० १८.११० पर भारती ।

तत् के प्रयोग के कारण स्फिञ्जादि के साथ भी तत् लग गया।

तत्र—

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥ ४८

४९. हास्येनैव स शृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा।
आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥ ४९

५०. शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥ ५०

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपः परिहासो नर्म। तच्च शुद्धहास्येन सशृङ्गारहास्येन सभयहास्येन रचितं त्रिविधम्। शृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदनसम्भोगेच्छाप्रकाशन-सापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव। भयनर्मापि शुद्धरसान्तराङ्गभावाद् द्विविधम्। एवं षड्विधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टाव्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम्।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा कुमारसम्भवे

'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥' ७.१९

वेषनर्म नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे। क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्र उत्स्वप्नामानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति। एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम्।

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा—

'मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पयः पीयतां
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः ॥'

सम्भोगनर्म यथा गाथासप्तशत्याम्

'सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥' २.३०
('सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा।
अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥')

माननर्म यथा शिशुपालवधे

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः।

मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री—
व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥' ११.३३

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे 'सुसङ्गता—जाणिदो मए एसो सव्वोवुत्तन्तो समं चितफलएण ता देविए णिवेदइस्सम्' ('ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्तः सह चित्रफलकेन तद्देव्यै निवेदयिष्यामि ।') इत्यादि ।

शृङ्गाराङ्ग भयनर्म यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालोकः सकलविफलोपायविभव—
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम्' ॥'

४८-५० नर्म है नायक को अपना बना लेने के लिए कुशल काम-क्रीडायें। इसके तीन उद्‌भव-स्थान हैं—हास्य, शृङ्गार और भय, जिसके अनुसार यह तीन प्रकार का होता है।

शृङ्गारी नर्म आत्मोपक्षेप (मन की बात कहना) सम्भोग और मान विशिष्ट होने से तीन प्रकार का होता है। भय दो प्रकार का होता है शुद्ध और अंग (किसी दूसरे रस का सहायक)। ये छः (एक प्रकार का हास्य, तीन प्रकार का शृंगार और दो प्रकार का भय) पुनः वाणी, वेष और चेष्टा के द्वारा प्रयोजित होने के आधार पर तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार नर्म १८ प्रकार का हुआ। ये सभी हास्य से युक्त होते हैं।

अग्राम्य (शिष्ट), इष्टजनावर्जन रूप (प्रिय को अपना बना लेना) ऐसा परिहास नर्म है। यह तीन प्रकार का होता है—शुद्ध हास्य, सशृङ्गारहास्य और सभय हास्य से रचित होने के कारण। शृङ्गार-हास्य भी तीन प्रकार होता है—अपना प्रेम प्रकट करने से (आत्मोपक्षेप), सम्भोग की इच्छा को प्रकट करना और मान (अपराधी प्रियतम का प्रतिभेदन अर्थात् तर्जन और तिरस्कार) के द्वारा। भय नर्म भी शुद्ध भय और किसी दूसरे रस का सहायक बनकर आये हुए भय रूप में दो प्रकार का है। इस प्रकार जो छः भेद बने, वे वाक्, वेष और चेष्टा के संविधान से १८ प्रकार के हैं। वचोहास्यनर्म कुमारसम्भव में—

सखी ने पार्वती के चरणों को रंग कर परिहास पूर्वक आशीर्वाद दिया कि इससे पति के सिर चढ़ी चन्द्रकला का स्पर्श करो। पार्वती ने माला से प्रहार कर उसे चुप कराया।

वेष नर्म का उदाहरण नागानन्द में है विदूषक शेखरक के संविधान में।

क्रियानर्म मालविकाग्निमित्र में है। स्वप्न देखते हुए विदूषक के ऊपर निपुणिका ने सर्प की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला डण्डा गिरा दिया।

इसी प्रकार वाक्, वेष और चेष्टा सम्बन्धी उदाहरण प्रस्तुत हो सकते है। शृंगारात्मक आत्मोपक्षेप नर्म का उदाहरण—

पानी पिलाने वाली नायिका पथिक से आत्मानुराग व्यक्त करती हुई कहती है— दुपहरी यहीं विताइये। पसीना तो सूखने दीजिये। थोड़ा रुककर पानी पायें। यहाँ कोई नहीं है—ऐसी स्थिति में विवश होकर चल न दें। प्याऊ-प्रदेश शीतल है। दुःखद काम के प्रखर वाण से पीडित अपनी घरवाली प्रेयसी का स्मरण करते रहें। हे पथिक, प्रायः प्याऊ की स्त्रियाँ आपके चित्त का रंजन करने में असमर्थ होंगी।

सम्भोग नर्म का उदाहरण गाथा सप्तशती में—सूर्य अभी डूबा भी नहीं था कि हँसती हुई गृहिणी हँसते हुए गृहस्वामी के पैरों को उसके न चाहते हुए भी धोने लगी।

माननर्म का उदाहरण शिशुपालवध में—मानवती नायिका नायक से कहती है।—

तुमने यह सच ही कहा था कि मैं तुम्हारा प्रिय हूँ। अपनी अन्य प्रिया के धारण किये हुए दुकूल को पहने हुए मेरे आवास पर आ पहुँचे हो। वस्तुतः कामियों के मण्डन की शोभा वल्लभा के देखने से ही सफल होती है।

शुद्ध भय नर्म का उदाहरण रत्नावली में चित्रदर्शन के अवसर पर इस प्रकार है—

सुसंगता—(नायक से) मेरे द्वारा सारा वृत्तान्त (सागरिका के प्रति नायक का अनुराग-विषयक) जान लिया गया। साथ ही चित्रफलक का वृत्तान्त भी ज्ञात हो चुका। यह सब महादेवी को बताती हूँ। (यह सुनकर विदूषक और राजा को भय हो गया।) शृङ्गार के अंगभूत भय नर्म का उदाहरण धनिक की उक्ति है—धूर्त नायक का वर्णन है—उसके अपराध प्रकट हो चुके हैं। उसके नायिका को प्रसन्न करने के सारे उपाय विफल हो चुके हैं। फिर तो कुछ देर विचार करके और नकली घबराहट का बहाना करके उसने नायिका को यह कहकर डराया कि यह पीछे क्या है? यह सुनते ही नायिका उससे आश्लिष्ट हो गई। तब तो उस धूर्त ने हँसते हुए मधुरता-पूर्वक उस वधू को चिपकाये हुए आलिंगन किया।

अथ नर्मस्फिञ्जः —

५१. नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृतायां नायकः—

'विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि॥' ४१३

'मालविका—भट्टा देवीए भयेण अत्तणो वि पिअं काउं ण पारेमि।'
('भर्त्तः देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्त्तुं न पारयामि।') इत्यादि।

५१. नर्मस्फिञ्ज नायक-नायिका के नये समागम में वह शृङ्गार-व्यापार है, जिसके आरम्भ में सुख हो किन्तु अन्त में भय हो।

उदाहरण--मालविकाग्निमित्र में नायिका के नायक के पास अभिसार करने पर नायक कहता है -

हे सुन्दरि, संगमोचित घबराहट को छोड़ो। बहुत समय से तुम्हारे प्रणय में मेरे प्रवृत्त होने पर सहकार (आम्र वृक्ष) के समान मुझ पर तुम अतिमुक्त (माधवी) लता के समान परिग्रहण करो।

मालविका - स्वामिन्, देवी के भय से मैं अपने लिए भी सुखप्रद काम नहीं कर पा रही हूँ। इत्यादि

नान्दी टीका

नर्मस्फिञ्ज में अस्थायी सम्भोग की स्थिति नायिका की ईषत्प्राप्ति में होती है। इसमें पूर्वनायिका के द्वारा नायक और नायिका को भय रहता है। स्फिञ्ज का अर्थ है बाधा या विघ्न।

अथ नर्मस्फोटः —

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः ।।५१

यथा मालतीमाधवे—'मकरन्दः —

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति धीरताम् ।।' १·२०

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाश्यते ।

नर्मस्फोट है विविध भावों के लव (अपूर्ण प्रादुर्भाव) के द्वारा रस (हास्य) की अल्प (अपूर्ण) सूचना मात्र अर्थात् रस की पूर्ण निष्पत्ति नहीं होती।

उदाहरण है मालतीमाधव में मकरन्द की उक्ति—

(माधव का) गमन स्फूर्ति-रहित है। दृष्टि शून्य (रुचिरहित) है, शरीर प्रसाधनरहित है। साँस अधिक चल रही है। यह पहचानना कठिन हो गया है कि यही (प्रेम) कारण है या अन्य कोई। संसार में कामदेव की आज्ञा प्रचारित है कि यौवन विकारपूर्ण है। वे ललित और मधुर भाव धैर्य को विघटित कर देते हैं। इसमें गमनादि अपूर्ण भावों से माधव का मालती में अनुराग अधूरा ही व्यक्त हो पाता है।

नान्दी टीका

नर्मस्फोट में नव नायिका विषयक नायक का व्यापार नर्मस्फिञ्ज की अपेक्षा कुछ अधिक विकसित होता है, किन्तु पूर्ण रूप से नहीं। विभाव के स्तोकमात्र

(अपर्याप्त रूप से प्रभावशाली) होने के कारण भाव आंशिक रूप से प्रकट होते हैं, समग्रतया नहीं। भयानक, हास्य, रौद्रादि रसों के स्थायी भाव सचारी की स्थिति में ही रह जायेंगे।

स्फोट का अर्थ विकास है। नर्मस्फोट प्रणय का विकास है। इस वृत्ति मे यहाँ हास लव होगा हास रस नहीं।

अथ नर्मगर्भः —

५२. छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।

यथामरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपालफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति॥'१९

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्भाङ्के वत्सराजवेषमनोरमास्थाने साक्षाद्वत्सराज-प्रवेशः।

५२. नर्म गर्भ है काम बनाने के लिये नेता का रहस्यमय व्यवहार।

उदाहरण है अमरुशतक में

अपनी दो नायिकाओं को साथ ही आसन पर बैठा देख कर पीछे से आकर नायक ने काम क्रीडा करने का छल करते हुए एक नायिका की दोनों आँखें बन्द कर दीं। पुलकित होकर अपने कन्धे को थोड़ा टेढ़ा करके धूर्त नायक ने दूसरी नायिका का चुम्बन लिया, जिसका मन प्रेम के कारण खिल रहा था और कपोल आन्तरिक हास्य से शोभित हो रहे थे।

प्रियदर्शिका में गर्भाङ्क में वत्सराज के वेष में आने वाली मनोरमा के स्थान पर साक्षात् वत्सराज का प्रवेश करना नर्मगर्भ है।

अंगः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्र कैशिकी ॥५२

पूर्वोक्त हास्ययुक्त और हास्य रहित अंगों से यह कैशिकी पूरी हुई।५२

नान्दी टीका

नायिका से नवसंगम की सिद्धि की दिशा में नर्मगर्भ में प्रणय-व्यापार नर्मस्फोट की स्थिति से अधिक विकसित होता है। पहली नायिका से प्रच्छन्न रह कर नायक नायिका का संगम प्राप्त कर लेता है। प्रच्छन्नता के लिए नायक अद्भुत उपाय (विशेष विज्ञान) का सहरा लेता है। यहाँ विज्ञान के गर्भ में होने के कारण नर्मगर्भ नाम सार्थक है।

धनञ्जय कैशिकी वृत्ति के निर्हास्य रूप की सम्भावना भी बताते हैं। वस्तुतः

नर्म में हास्य आवश्यक अङ्ग है, जैसा अभिनवगुप्त ने कहा है।[१] अतएव धनञ्जय की निर्हास्य-कैशिकी-विषयक मान्यता पुष्ट नहीं प्रतीत होती।

अथ सात्त्वती—

५३. विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।

संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥५३

शोकहीनः सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापारः सात्त्वती। तदङ्गानि च संलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि।

५३. सात्त्वती शोकरहित होती है। सत्त्व, (शुचिता) शौर्य, त्याग, दया और औचित्य के द्वारा निष्पन्न होती है। इसके चार प्रकार होते हैं—संलापक, उत्थापक, सांघात्य और परिवर्तक।५३

शोक रहित सत्त्व-शौर्य-त्याग-दया-हर्षादि भावों के कारण नायक का उत्कृष्ट व्यापार सात्त्वती है। उसके अंग संलापादि हैं।

नान्दी टीका

कैशिकी वृत्ति प्रणयात्मक रूपकों में होती है और सत्त्वती वीरोचित रूपकों में स्थान पाती है।

इसमें सात्त्विकता के लिए शौर्य, त्याग, दया, आर्जव आदि वीर रसोचित तत्त्व तो समीचीन हैं, जैसा धनञ्जय नें बताया है। कठिनाई आती है भरत के मत का समन्वय करने में। वे रौद्ररस को भी सात्त्वती में समाहित करते हुए उद्धतपुरुषों के कार्यों को भी रखने के पक्ष में हैं।[२] वस्तुतः रौद्ररस और उद्धत पुरुष के कार्य आरभटी वृत्ति में होने चाहिए। यहाँ भरत का मत समीचीन नहीं लगता।

इसमें सात्त्विक अभिनय सविशेष होता है। सात्त्वती के चारों भेदों में युद्ध, दान आदि व्यापारों का प्रत्यक्ष समावेश नहीं है, कोरी तत्सम्बन्धी बाह्य परिस्थितियों की मौखिक चर्चामात्र है—यह अभाव प्रतीत होता है।

तत्र—

५४. संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः।

यथा वीरचरिते—'रामः—अयं स यः किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः! परशुरामः—राम राम दाशरथे! स एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशु —

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां
सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमारः।

---

१. हास्यप्रवचन-बहुल नर्म।

२. वीराद्भुतरौद्ररसा निरस्तशृंगार—करुण-निर्वेदा। उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणकृता च ॥२०.४३ अभिनवगुप्त के अनुसार भी 'सत्त्वं प्रकाशः, तद्विद्यते यत्र, तत् सत्त्वं मनः। तस्मिन् भवः सात्त्वतः सत्त्वोत्थानस्य सत्त्वाधारस्य वचनं येषु प्रकरणेषु।' ऐसा प्रकाश रौद्र में कैसे रहेगा?

एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे ।।'२·३४

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा संलाप इति।

संलापक गम्भीर उक्ति है, जिसमें नाना भाव और रस एक दूसरे के बाद होते हैं।

महावीर चरित में उदाहरण है—राम यह वह परशु है, जिसे सपरिवार कार्तिकेय की विजय से प्रसन्न भगवान् शिव के द्वारा सहस्र वर्षों तक शिष्य रहने वाले आप के लिए पुरस्कार रूप में दिया गया। परशुराम—राम, राम दशरथ के पुत्र, यह वही आचार्य का प्रिय परशु है। शस्त्रप्रयोग की प्रतियोगिता होने पर गण सेना से घिरे कुमार को मैंने जीत लिया था। ऐसा करते पर भी गुणों से प्रेम करने वाले प्रसन्न, भगवान् मेरे गुरु (शिव) ने आलिंगन करके इसे मुझे दिया था। इत्यादि नाना प्रकार के भाव और रस से युक्त राम और परशुराम की परस्पर गम्भीर वाणी संलाप है।

नान्दी टीका

संलापक की धनञ्जय की परिभाषा अपूर्ण है। इसमें वीररसोचित कोई लक्षण आया ही नहीं है, जिसके विना इसका सात्त्वती का अंग होना असम्भव है। भरत के अनुसार इसमें अधिक्षेप वचन होना चाहिए।[1] यही अधिक्षेप वीररस का कारण है।

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ।।५४

यथा वीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ।।'५·४६

उत्थापक में युद्ध के लिए वीर दूसरे वीर को उत्तेजित करते हैं।

जैसे महावीरचरित में वालि राम से कहते हैं—तुम्हारा दर्शन आनन्द विस्मय या दुःख का कारण है, किन्तु तुम्हारे दर्शन से मेरी आँखों को अभी क्यों कर तृप्ति नहीं हो रही है? तुम्हारी संगति-सुख का मैं विषय नहीं हूँ। फिर बहुत कहने से क्या? तुम तो धनुष को परशुराम के विजय से प्रसिद्ध बाहु में प्रत्यञ्चित करो।

५५. मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम्।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या

१. साधिक्षेपालापो ज्ञेयः संलापकः सोऽपि। ना० शा० २०·४८

भेदनम् अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम् दैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद्विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

५५. सांघात्य संघभेदन (फोड़ना) है मन्त्र, अर्थ (धनादि), दैव या शक्ति आदि के प्रयोग द्वारा ।

मन्त्रशक्ति से मुद्राराक्षस में राक्षस के सहायकों को चाणक्य ने अपनी बुद्धि से फोड़ दिया । इसी नाटक में अर्थशक्ति से पर्वतक के आभरण को राक्षस के हाथों में पहुँचा कर मलयकेतु के साथ फूट हो जाती है । रामायण में दैवशक्ति से रावण से विभीषण की फूट हो जाती है ।

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः ।। ५५

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः । यथा वीरचरिते—

'हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ।।'

रामः—'भगवन् ! परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् ।' इत्यादि ।२.२८

परिवर्तक है हाथ में लिए हुए उत्थान (अभ्युदयात्मक) कार्य को छोड़कर अन्य काम करने लगना ।५५

परिश्रम का काम छोड़ कर कुछ और ही करने लगना परिवर्तक है । जैसे महावीरचरित में— परशुराम राम से कहते हैं—

गणेश के मुसल के समान दाँत से काढ़ी हुई एक भित्ति वाला और कार्तिकेय के बाण से बने घाव के चिह्न वाला मेरा वक्षःस्थल तुम्हारे जैसे अनुपम वीर के मिलने में रोमाञ्चित हो गया है, जिससे सचमुच यह तुम्हारा आलिंगन करना चाहता है ।

राम—भगवन्, आलिंगन यह तो प्रस्तुत कार्यक्रम से विपरीत पड़ेगा ।

सात्त्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह—

५६. एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।।५६
५७. संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

माया—मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनम्, तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।

सात्त्वती का उपसंहार करके आरभटी का लक्षण बताते हैं—

५६. पूर्वोक्त अङ्गों से सात्त्वती चार प्रकार की निष्पन्न हुई। आगे आरभटी माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध और पैंतरेबाजी की चेष्टायें होती हैं। इसके चार प्रकार—संक्षिप्तिका, सम्फेट, वस्तूत्थान और अवपातन होते हैं।

माया है मन्त्र के द्वारा अविद्यमान वस्तु को प्रकट करना। तन्त्र से इन्द्रजाल होता है।

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥५७

५८. पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः।

मृद्वंशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्थापनं संक्षिप्तिः। यथोदयनचरिते किलिञ्जहस्तियोगः। पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्यावस्थान्तरपरिग्रहमन्ये संक्षिप्तिकां मन्यन्ते। यथा वालिनिवृत्त्या सुग्रीवः। यथा च परशुरामस्यौद्धत्त्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम् 'पुण्या ब्राह्मणजातिः—'इत्यादिना

संक्षिप्तिका है शिल्प के द्वारा मायात्मक वस्तु की रचना। इसकी दूसरी परिभाषा कही जाती है। पहले से चली आती हुई नायक की अवस्था को हटा कर नई अवस्था को ग्रहण करना।

मिट्टी, बाँस, पत्ते, चर्म आदि द्रव्य को लगाकर कोई वस्तु बना देना संक्षिप्ति है। जैसे उदयनचरित में चटाई के हाथी का योग (छल, उपाय) जैसे बालि को हटाकर सुग्रीव को लाना। दूसरा उदाहरण है—परशुराम के औद्धत्य को दूर करके शान्त बना देना। 'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादि से यह स्पष्ट है।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने अन्य आचार्यों की संक्षिप्ति की परिभाषा भी उद्धृत की है कि पहले के नेता को हटाकर दूसरे नेता को रख लेना संक्षिप्ति है। इसका उदाहरण देते हुए धनिक ने बताया है कि जैसे बालि को हटाकर सुग्रीव को नेता बना दिया गया है। मेरी दृष्टि में धनंजय ने अन्य आचार्यों की जो परिभाषा उद्धृत की है, वह सर्वथा ठीक है, किन्तु धनिक का उदाहरण ठीक नहीं है। आरभटी को कपट-वंचनोपेता भी तो होना चाहिए। इस कापटिक प्रयोग के द्वारा किसी नायक के स्थान पर दूसरा नायक लाना संक्षिप्ति है। इसका उदाहरण दूताङ्गद में सीता के स्थान पर माया सीता को प्रस्तुत करना संक्षिप्ति का ठीक उदाहरण है। इसी प्रकार सूर्य और संज्ञा की कथा में संज्ञा के स्थान पर छाया को रख देना संक्षिप्ति है।

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः ॥५८

यथा माधवाघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे। इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायण-प्रतिबद्धवस्तुषु।

सम्फेट है क्रोध और आवेश में आये हुए नायक और प्रति नायक का एक दूसरे को चोट पहुँचाना ।५८

जैसे मालतीमाधव में माधव और अघोरघण्ट की लड़ाई। रामायणविषयक काव्यों में इन्द्रजित् और लक्ष्मण की लड़ाई ।

५९. मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
भास्वन्तः सकला रवेरपि कराः कस्मादकस्मादमी ।
एताश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चत्याननकन्दरानलमितस्तीव्रारवाः फेरवाः ॥

इत्यादि ।

४९. वस्तूत्थापन है माया आदि के द्वारा कृत्रिम वस्तु को प्रकट करना ।

जैसे उदात्तराघव में—क्योंकर एकाएक सूर्य की सभी प्रकाश-पूर्ण विजयिनी किरणें आकाश मे व्याप्त घनी अन्धकार-राशि से परास्त हो रही हैं? भय उत्पन्न करने वाले धड़ के छिद्र के रक्त से अपने पेट को फुलाये हुए प्रखर हुँआस भरने वाले सियार मुखरूपी कन्दरा से अग्नि का उद्गार कर रहे हैं। इत्यादि

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥५९

यथा रत्नावल्याम्—

कण्ठे कृत्वावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः ।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥२.२
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा—
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृते
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥२.३
यथा च प्रियदर्शिकायाम् प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेतववस्कन्दे ।

अवपात बाहर जाने, भीतर आने के त्रास और भगदड़ से लक्षित होता है ।५९

जैसे रत्नावलो में चूलिका है—वन्धन-विमुक्त यह वानर अश्वशाला से भागते हुए राजभवन में प्रवेश कर रहा है। टूटने से शेष वची हुई सोने की साँकल कण्ठ में नीचे की ओर घसीट रहा है। लीलापूर्वक चंचल चरणों में उसकी किंकणी का मण्डल

रुनझुन कर रहा है। हाथी आतंकित हैं। घबराये हुए साईस पकड़ने के लिए उसका पीछा कर रहे हैं।

नपुंसक भाग खड़े हुए विना किसी लज्जा के, क्योंकि मनुष्यों में उनकी गणना नहीं होती। यह बौना डर के मारे कंचुकी के कंचुक में छिपा जा रहा है। किरात ने अपने नाम के अनुरूप ही काम किया कि दूर जा खड़ा हुआ। कुबड़े देखे जाने के भय से धीरे-धीरे और भी झुके हुए चले जा रहे हैं।

अन्य उदाहरण प्रियदर्शिका के प्रथम अङ्क में है विन्ध्यकेतु का आक्रमण।

उपसंहरति--

६०. एभिरङ्गैश्चतुर्धेयम्, नार्थवृत्तिरतः परा।
चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥ ६०

६१. कैशिकीं सात्त्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति।
पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥ ६१

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते न चोपपद्यते। रसेषु, हास्यादीनां भारत्यात्मकत्वात्. नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात्। तिस्र एवैता अर्थ-वृत्तयः। भारती तु शब्दवृत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या।

६०. पूर्वोक्त अङ्गों से आरभटी चार प्रकार की हुई। इन तीन कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी के अतिरिक्त कोई अर्थवृत्ति नहीं होती। चौथी वृत्ति भारती है, जिसकी चर्चा नाटक की परिभाषा करते समय करेंगे। ६०

कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी इन अर्थवृत्तियों की गणना करते हुए उद्भट सम्प्रदाय के नाट्यशास्त्राचार्य पाँचवी वृत्ति भी बताते हैं।

यह पाँचवीं वृत्ति नाटकादि लक्ष्य ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलती। रस-प्रसंग में उसकी सिद्धि भी नहीं होती। हास्यादि रस भारती-मय हैं। यदि कहा जाय कि पांचवीं वृत्ति रस-सम्पृक्त नहीं है तो हमारा उत्तर है कि नीरस रचना काव्य ही नहीं होती और अकाव्य की वृत्ति का हम विचार नहीं करते। अर्थवृत्तियाँ तीन ही हैं। भारती शब्दवृत्ति है, क्योंकि वह आमुख का अंग होती है। आमुख के साथ उसका लक्षणादि दिया जायेगा।

६२. शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ ६२

शृंगार रस में कैशिकी, वीर रस में सात्त्वती, रौद्र और बीभत्स में आरभटी वृत्ति होती हैं। भारती वृत्ति सभी रसों में होती है।

नान्दी टीका

किसी वृत्ति में कौन रस हो—इस सम्बन्ध में धनञ्जय ने भरत के मत का अनुसरण नहीं किया है, जैसा नीचे लिखी कारिका से स्पष्ट होता है।[१]

वृत्ति	धनञ्जय के अनुसार रस	भरत के अनुसार रस
कैशिकी	शृङ्गार	हास्य तथा शृंगार
सात्त्वती	वीर	वीर तथा अद्भुत
आरभटी	रौद्र तथा बीभत्स	रौद्र तथा भयानक
भारती	सभी रस	बीभत्स तथा करुण

भरत के अनुसार नाटक और प्रकरण में सभी वृत्तियाँ होती हैं, शेष रूपकों में कैशिकी वृत्ति नहीं होती।[२] इस मत को भरत ने सभी स्थलों में दृष्टि में नहीं रखा। वे वीथी में कैशिकी वृत्ति मानते हैं, जो उन्हीं के बनाये नियम के प्रतिकूल पड़ता है।

प्रवृत्तिः

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापारः प्रवृत्तिरित्याह—

६३. देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ।। ६३

प्रवृत्ति नायकादि का ऐसा व्यापार है, जो उसके किसी विशिष्ट देश का होने के कारण उसके विशिष्ट वेषादि में प्रकट होती हैं।

६३. प्रवृत्तियाँ किसी विशिष्ट देश की विशिष्ट भाषा, क्रिया (जीविका के साधन) और वेष से परिलक्षित होती हैं प्रवृत्ति-विषयक व्यापार-वैचित्र्य को लोक से ही जान कर यथोचित प्रयोग करे।

तत्र पाठ्यं प्रति विशेषः —

६४. पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित ।। ६४

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्धः ।

६४. (अनीच, उत्तम और मध्यम) कोटि के सुसंस्कृत पुरुष पात्र संस्कृत बोलें। स्त्रियों में से साधुनी, महादेवी, मन्त्रिकन्या और वेश्या कहीं-कहीं संस्कृत बोलेंगी। ६४

---

१. हास्य-शृंगार-बहुला कैशिकी प्रतिपादिता
सात्त्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतसमाश्रया ।
रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः ।
बीभत्से करुणे चैव भारती सम्प्रकीर्तिता ।। ना० शा० २०. ७३, ७४

२. ना० शा० १८.७-८

क्वचित् शब्द के प्रयोग से धनञ्जय का तात्पर्य है कि महादेवी, मन्त्रिकन्या और वेश्या कहीं-कहीं संस्कृत बोलेंगी और प्रायशः प्राकृत बोलेंगी, किन्तु लिंगिनी सदा संस्कृत बोलेगी। यह धनिक का मत है।

६५. स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्। तद्भवं तत्समं देशीत्यनेकप्रकारम्। शौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते।

६५. स्त्रियाँ प्रायः प्राकृत बोलेंगी। अधम पात्र शौरसेनी बोलेंगे।

प्रकृति से जो निकली है, वह प्राकृत है। प्रकृति संस्कृत भाषा है। भाषा अनेक प्रकार की है—तत्सम (संस्कृत) तद्भव (प्राकृत), देशी आदि। शौरसेनी और मागधी का स्वशास्त्र (प्राकृत व्याकरण) में लक्षण है।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥ ६५
६६. यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम्।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥ ६६

स्पष्टार्थमेतत्।

अत्यन्त नीच और पिशाचादि पैशाची और मागधी बोलेंगे। ६५

६६. जिस देश का नीच पात्र होगा, उस देश की भाषा वह बोलेगा। उत्तम और मध्यमादि पात्र भी कार्यवशात् प्राकृत और पैशाची आदि भाषायें बोलेंगे। यह उनके संस्कृत बोलने के पूर्वोक्त नियम का अपवाद है। ६६

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनामन्त्रणमाह—

६७. भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥६७

आर्याविति सम्बन्धः।

बुलाने वाला कौन है और किसको बुलाया जा रहा है—इन दोनों के औचित्य को ध्यान में रखते हुए सम्बोधन-प्रकार बताते हैं।

६७. श्रेष्ठ लोग विद्वान्, देव, ऋषि और लिंगी को भगवन् कहेंगे। वे विप्र, अमात्य और अग्रज को आर्य कहेंगे। नटी और सूत्रधार एक दूसरे को आर्य कहेंगे।

६८. रथी सूतेन चायुष्मान्पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः ॥६८

अपिशब्दात् पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्याः, सोऽपि तैस्तातेति सुगृहीतनामा चेति ।

६८. सूत रथो को आयुष्मान् कहेगा । पूज्यजन शिष्य, पुत्र और अनुज को आयुष्मान् कहेंगे या वत्स और तात कहेंगे । वे शिष्य, पुत्रादि पूज्य को तात या सुगृहीताभिध (नामा) कहेंगे ।

अपि शब्द से अर्थ निकलता है शिष्य, आत्मज और अनुज को पूज्य जन तात कहेंगे और पूज्य जन को शिष्यादि भी तात और सुगृहीतनामा कहेंगे ।

६९. भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च ।

सूत्रधारः पारिपार्श्वकेन भाव इति वक्तव्यः । स च सूत्रिणा मार्षं इति ।

६९. अनुग (पारिपार्श्वक) के द्वारा सूत्रधार को भाव कहा जायेगा । (सूत्रधार के द्वारा) (पारिपार्श्वक) को मार्ष कहा जायेगा । सूत्रधार को पारिपार्श्वक भाव कहेगा और सूत्रधार पारिवार्श्वक को मार्ष कहेगा ।

देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ।।६९

७०. आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः ।

(उत्तम और मध्यम) भृत्यों के द्वारा नृपति को देव और स्वामी कहा जायेगा । अधम कोटि के भृत्य राजा को भट्टा कहेंगे । ६९

७०. ज्येष्ठ, मध्यम और अधम पात्रों के द्वारा स्त्रियों को पति के सम्बोधन के अनुरूप सम्बोधन से आमन्त्रित किया जायेगा ।

देवरादि के द्वारा विद्वान् और देव की स्त्रियों को पति के समान बुलाया जायेगा ।

तत्र स्त्रियं प्रति विशेषः —

समा हलेति, प्रेष्या च हञ्जे, वेश्याज्जुका तथा ।।७०

७१. कुट्टिन्यत्तेत्यनुगतैः पूज्याम्बा जरती जनैः ।।

विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ।।७१

पूज्या जरती अम्बेति । स्पष्टमन्यत् ।

स्त्रियों के विशेष सम्बोधन—

समान पद वाली स्त्रियाँ एक दूसरे को हला कहेंगी । प्रेष्या को हञ्जे कहा जायेगा । वेश्या को परिजन अज्जुका कहेंगे । कुट्टिनी को परिजन अम्बा कहेंगे । वे पूज्य और वृद्ध स्त्रियों को अम्बा कहेंगे । विदूषक चेटी और राज्ञी को भवती कहेगा ।

पूज्या और जरती अम्बा कही जायेंगी ।

७२. चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावानशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा यो वा न देवःशशिखण्डमौलिः ।।७२

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः। चेष्टा लीलाद्याः, गुणा विनयाद्याः, उदाहृतयः संस्कृतप्राकृताद्या उक्तयः, सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनः, भावः सत्त्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

नेता की अवस्था के अनुसार वैचित्र्य-युक्त चेष्टा, गुण, संवाद, सत्त्व और भावों को पूर्णतया बताने में कौन समर्थ हो सकता है, जो शिव या भरत न हो।

आचार्य का मन्तव्य है कि ये विषय सक्षेप में वताये गये हैं। चेष्टा = लीलादि। गुण = विनयादि। उदाहृति = संस्कृत और प्राकृत की उक्तियाँ। सत्त्व = निर्विकार मन : भाव = सत्त्व का प्रथम विकार—इससे हाव, आदि भी ग्रहण किये जायें।

———

अथ तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते—

१. प्रकृतित्वादथान्येषां भूयोरसपरिग्रहात् ।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥१

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः । शेषं प्रतीतम् ।

तत्र —

रस का विवरण देने में बहुत अधिक कहना पड़ेगा । अतएव उसे अभी छोड़कर वस्तु, नेता और रस का उपयोग प्रत्येक रूपक-विधा में अलग-अलग बताया जाता है ।

१. सबसे पहले नाटक का लक्षण दिया जाता है, क्योंकि यह अन्य शेष रूपक-भेद का मूल है, इसमें रस का संग्रह सविशेष रहता है और सब प्रकार के रूपकों के लक्षण इसमें समाविष्ट हैं अर्थात् रूपक-तत्त्व पूर्णतः नाटक में ही मिलता है ।

उद्दिष्ट (विशेष रूप से वर्णित) लक्षण वाला नाटक शेष अपरविध वर्णित प्रकरणादि रूपकों की प्रकृति है ।

२. पूर्वरंगं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥२

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गः, उत्थापनादिप्रयोगः । प्रथमं प्रयोगे तद् उत्थापनादौ पूर्वरंगत्वम् ।

तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत्[1] । स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात्स्थापकः ।

२. प्रारम्भ में सूत्रधार के पूर्वरंग-विधि पूरा करके चले जाने पर उसके समान दूसरा कोई नट काव्य (रूपक) की स्थापना करे ।२

---

१. जंघा को थोड़ा कुटिल करके, दोनों पैरों को ढाई ताल एक दूसरे से दूर रखते हुए एक जांघ को टेढ़ा करके शरीर को सीधा खड़ा रखते हुए वैष्णवस्थानक मुद्रा है । ना० शा० १०.५२,५३ में विशेष विवरण ।

सबसे पहले जिसमें (प्रेक्षकों का) मनोरंजन हो, वह पूर्वरङ्ग है। पूर्वरङ्ग है उत्थापनादि प्रयोग। यह नाट्यशाला में होता है। प्रथम प्रयोग होने से उत्थापनादि को पूर्वरङ्ग नाम दिया गया है। पूर्वरङ्ग को सम्पादित करके पहले सूत्रधार के चले जाने पर उसी के समान वैष्णवस्थानक मुद्रा में प्रवेश करके दूसरा नट काव्य के अर्थ (रूपक की कथावस्तु की संकेतात्मक बात) की स्थापना करता है। उसको काव्य के अर्थ (विषय) की स्थापना करने अर्थात् सूचना देने के कारण स्थापक कहते हैं।

नान्दी टीका

(क) धनञ्जय ने पूर्वरङ्ग के विषय में कुछ नहीं कहा है। पूर्वरंग को सत्तामात्र स्वीकार करते हैं। उनका यह प्रकरण पूर्वरंग की विषय-वस्तु के पश्चात् आरम्भ होता है। पूर्वरंग को छोड़ देना शास्त्रीय वितर्कवाद से धनञ्जय ने भले ही ठीक मान लिया हो, किन्तु प्रत्येक रूपक के अभिनय में इसकी आरम्भिक महिमा सविशेष है। सम्भवत: यह देखते हुए धनिक ने धनञ्जय की इस त्रुटि का अंशतः परिहार करते हुए लिखा है पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गः। अर्थात् जिस कार्यक्रम में प्रेक्षकादि का सर्वप्रथम मनोरंजन होता है, वह पूर्वरङ्ग है।

(ख) यहाँ धनिक के द्वारा प्रस्तुत अवलोक नामक टीका का प्रायः सभी प्रकाशित संस्करणों में त्रुटिपूर्ण पाठ है। भ्रमवश आधुनिक सम्पादकों और टीकाकारों ने त्रुटिपूर्ण पाठ को लेकर अवलोक के इस अंश का अनर्थ कर डाला है कि पूर्वरङ्ग नाट्यशाला है। जैसा शब्द पाठ यहाँ प्रस्तुत किया गया है पूर्वरंग उत्थापनादि प्रयोग है। पूर्वरङ्ग के नाट्यशाला होने की बात सर्वथा निराधार है।

(ग) रूपकों के आरम्भ में जो पूर्वरंग नामक विधान होता था, उसकी परिभाषा भरत ने स्पष्ट दी है—

यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादयं पूर्वरंगो विज्ञेयो द्विजसत्तमैः॥ ५७

अर्थात् रङ्ग (नाट्यशाला) में यह प्रयोग (पूजापाठादि सभारम्भ) सबसे पूर्व (पहले) किया जाता है, अतएव इसे पूर्वरङ्ग कहते हैं।

(घ) रूपकों के लगभग २० अङ्गों में से नान्दी, त्रिगत और प्ररोचना का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। धनञ्जय ने नान्दी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है, फिर भी इसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भरत के नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत नान्दी की परिभाषा नीचे दी जा रही है।

नान्दी

आशीर्वचन-संयुक्ता नित्यं यस्मात् प्रयुज्यते।
देव-द्विज-नृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः ।
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलंकृताम् ।।
नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यः शुभं तथा ।
जितं सोमेन वै राजा शिवगोब्राह्मणाय च ।
ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
प्रशास्त्विमां महाराजः पृथ्वीं च ससागराम् ।।
राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव रंगस्याशा समृद्ध्यतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितः ।।
काव्य-कर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ।।

ना० शा० ५.२४,१०६-११०

अर्थात् देव, द्विज, नृप आदि के लिए आशीर्वाद के रूप में नान्दी होती है। बारह या दस पद वाली नन्दी होती है। इसका पाठ स्वयं सूत्रधार मध्यम स्वर में करता है। सभी देवताओं को नमस्कार, द्विजातियों का कल्याण, राजा को विजयश्री गौ और ब्राह्मण को शुभ—ऐसो भावनायें नान्दी के द्वारा सूत्रधार व्यक्त करता है।

वेद या ब्रह्मविद्या की सर्वोपरि उन्नति हो। वेद द्वेषी का अभ्युदय न हो। महाराज सागर तक पृथ्वी का शासन करें। राष्ट्र उन्नति करे, रंग से सम्बद्ध सभी जन—सभापति, सभ्य, गायक, वादक, नटो, नट आदि की कामनायें पूर्ण हां। प्रेक्षागार बनवाने वाले को वेदोक्त महान् धर्म की प्राप्ति हो। रूपक लिखने वाले को यश मिले, धर्म का अभ्युदय हो। इस नाट्ययज्ञ से सभी देवता प्रीति प्राप्त करें।

रंगद्वार

भावी रूपक का द्वार—रूपक रंगद्वार होता है, जहाँ से अभिनय का प्रारम्भ होता है।

त्रिगत

त्रिगत का तात्पर्य है तीन पुरुषों के बीच हुई बातचीत। तीन पुरुष हैं – सूत्रधार, पारिपार्श्वक और विदूषक। ये भावी नाटक के विषय में चर्चा करते हैं।

प्ररोचना

प्ररोचना में काव्य की कथा की सूचना दी जाती है और अभिनय की सफलता से सबको प्रीति की कामना की जाती है।

भरत के अनुसार नान्दी, त्रिगत और प्ररोचना पूर्वरंग के अङ्ग हैं।

धनञ्जय की इस ३.२ कारिका के अनुसार यहाँ पूर्वरंग समाप्त हो चुका है और उसके पश्चात् नट काव्य को स्थापना करता है। इसके पश्चात् धनञ्जय ३.६ में प्ररोचना का विवरण देते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे प्ररोचना को पूर्वरंग का अङ्ग नहीं मानते। भरत ने प्ररोचना को पूर्वरंग का अङ्ग माना है।[१] धनञ्जय का यह भरता-तिक्रम निराधार और निष्प्रयोजन लगता है। धनञ्जय सम्भवतः त्रिगत तक ही पूर्वरङ्ग की परिधि मानते हैं। दश० ३.१६

३. दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥३

स स्थापको दिव्य वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्तरो भूत्वा सूचयेत्—वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा।

वस्तु यथोदात्तराघवे—

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां संपदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥'

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिश ऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥ १.७

मुखं यथा छलितरामे

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥'

पात्रं यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥' १.५

३. वह स्थापक जैसी वस्तु हो, वैसा रूप बनाकर कथा की वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना दे। वह दिव्य वस्तु के लिए देव रूप, मर्त्य वस्तु के लिए मर्त्य रूप और मिश्र वस्तु के लिए दिव्य या मर्त्य रूप धारण कर लेता है।३

---

१. सर्वपापप्रशमनी पूर्वरंगे प्ररोचना। ना० शा० २०.२।
त्रिकं प्ररोचना चापि पूर्वरंगे भवन्ति हि। ना० शा० ५.१५

वह स्थापक दिव्य वस्तु के लिए दिव्य पात्र बन कर मर्त्य वस्तु के लिए मर्त्य पात्र बन कर और मिश्र वस्तु के लिए दिव्य या मर्त्य बन कर उसकी वस्तु, बीज, आरम्भ या पात्र की सूचना देता है।

उदात्तराघव में वस्तु-सूचना

राम ने पिता की आज्ञा को माला की भाँति शिरोधार्य कर वनगमन किया। उनकी भक्ति से भरत ने माता के साथ पूरे राज्य को छोड़ा। सुग्रीव और विभीषण उनका अनुसरण करते हुए सर्वोच्च वैभव पर पहुँचाये गये। अभिमानी रावण आदि (समस्त शत्रु विनष्ट हुए)।

रत्नावली में बीज का उदाहरण—

किसी दूसरे द्वीप से भी, समुद्र के बीच से भी, दिशाओं के छोर से भी लाकर झट से सहायक भगवान् अभीष्ट को मिला देता है। (इसमें कथा के बीज की सूचना है।)

मुख का उदाहरण—छलितराम में—यह विशुद्ध रमणीय शरद् ऋतु आ पहुँची, जिसमें चन्द्रमा का हास पूर्णता प्राप्त कर चुका है, जिसने घने अन्धकार वाली उग्र वर्षा ऋतु को उन्मूलित करके बन्धुजीव पौधे को हराभरा कर दिया है, वैसे ही जैसे बन्धुओं को प्राण देने वाले, चन्द्रहास नामक तलवार को भग्न करने वाले राम गाढ़े अन्धकार स्वरूप घनघोर संहारक रावण का अन्त कर प्रकट हुए हैं।)

(इसमें राम कथा के आरम्भ की सूचना है।)

पात्र का उदाहरण अभिज्ञान-शाकुन्तल में।

तुम्हारे इस मनोरम गीतराग से मैं वैसे ही बलात् आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे यह राजा दुष्यन्त हरिण की प्रखर गति से। (इसमें पात्र नायक दुष्यन्त की सूचना है।)

नान्दी टीका

इस कारिका में नट के द्वारा काव्य-स्थापना की चर्चा की गई है।

४. रंगं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥४

रङ्गस्य प्रशस्ति काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा
'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।

दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ॥'रत्नावली १.२

इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।

४. वह स्थापक काव्य के विषय की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्ग (प्रेक्षकों) को प्रसन्न करे। किसी ऋतु की वर्णना करे। फिर भारती वृत्ति का आश्रय ले। ४

काव्य के विषय को गर्भित करने वाले अभिप्राय से युक्त श्लोकों के द्वारा रंग (प्रेक्षकों) की प्रशंसा कर लेने के पश्चात्—

नवसंगम के समय पति के समीप जाने के लिए उत्सुकता के कारण उतावली, सहज लज्जा के कारण लौटती हुई, फिर सखियों के द्वारा अवसरोचित योग्य वचनों से सामने लाई हुई, सामने पति को देखकर भय और मनोरागवती, रोमाञ्चवती, हँसते हुए शिव के द्वारा आश्लिष्ट शिवा (गौरी, पार्वती) आपकी रक्षा करें।

इत्यादि वाक्यों से भारती वृत्ति का आश्रय ले।

नान्दी टीका

इसमें नट के द्वारा रंग-प्रसादन की चर्चा की गयी है।

सा तु—

५. भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचनायुक्तै वींथीप्रहसनामुखैः ॥५

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो नटाश्रयो व्यापारो भारती, प्ररोचनावीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि।

५. भारती अधिकांशतः संस्कृतभाषामयी वाणी से नटों के माध्यम से व्यापार-वर्णना है। इसके भेद हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख।५

विशेष पुरुषों के द्वारा (स्त्रियों के द्वारा नहीं) भारती का प्रयोग होना चाहिए। इसमें संस्कृत भाषा की अधिकता होती है और नटों के कथोपकथनमात्र वर्णनात्मक व्यापार होता है। इसमें प्ररोचनादि चार अङ्ग होते हैं। (प्ररोचना और आमुख में नटों का संवाद होता ही है। वीथी और प्रहसन में भी नटों के संवाद मात्र में भारती का क्षेत्र है। पात्रों के संवाद में नहीं।)

इस कारिका में वर्त्तमान चर्चा से सम्बद्ध दो प्रमुख शब्द हैं—प्ररोचना और आमुख। पहले कहा जा चुका है कि प्ररोचना भरतानुसार पूर्वरंग का अङ्ग है और ३.१ की टीका में इसका संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

६. उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना। यथा रत्नावल्याम्—

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥१.५

६. प्ररोचना है प्रशंसा करके उत्सुक बना देना।

अभिनेय नाट्यकथा की प्रशंसा करके प्रेक्षकों की मानसिक वृत्ति को उत्सुक बना देना प्ररोचना है। रत्नावली में उदाहरण है—

श्रीहर्ष निपुण कवि हैं। यह प्रेक्षक-परिषद भी गुणग्राही है। लोगों में वत्सराज का चरित चित्ताकर्षक है। हम लोग अभिनय करने में दक्ष हैं। इनमें से एक-एक भी वस्तु अभीष्ट फल की प्राप्ति का योग प्रदान करता है। फिर तो मेरे भाग्य के संवर्धन से सारी गुणराशि एकत्र उत्पन्न हो गई है।

प्रस्तावनाङ्गानि

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥६
७. वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव, तत्पुनः।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम् ॥७
८. स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्।
प्रस्तावना वा तत्र स्युःकथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥८
९. प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश।

वीथी और प्रहसन को इनका प्रसङ्ग आने पर बताया जायेगा ।६

७. वीथी के अङ्ग आमुख के भी अंग होते हैं । अतएव उनको यहीं समझाते हैं ।

आमुख में सूत्रधार नटी, मार्ष या विदूषक से अपना कार्य बताता है, किन्तु उक्ति की विचित्रता के कारण सूत्रधार की उस कार्य-सम्बन्धी उक्ति से नाट्य-कथा की सूचना मिलती है । यही आमुख है । इसी को प्रस्तावना भी कहते हैं । उसके भेद हैं— कथोद्घात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय और १३ वीथ्यङ्ग ।

नान्दी टीका

दशरूपक में वीथी के सभी अङ्गों को आमुख का अङ्ग कहा गया है । यह मत भरत के विरुद्ध पड़ता है । भरत के अनुसार वीथी के केवल दो अङ्ग उद्घात्यक और अवलगित आमुख के अंग हैं और शेष वीथ्यङ्गों में कथा का उपक्षेपण न होने से प्रस्तावना का अंग बनने की योग्यता नहीं है, भले ही वे आमुख में आयें । ऐसी स्थिति में धनञ्जय का सभी वीथ्यङ्गों को आमुखाङ्ग मानना चिन्त्य है ।

तत्र कथोद्घातः —

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ।।९
१०· गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधेव सः ।

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—द्वीपादन्यस्मादपि–' इति । वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे—'सूत्रधारः—

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ।।'१.७

ततोऽर्थेनाह—'भीमः —

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ।।१.८

कथोद्घात में सूत्रधार के द्वारा कहे हुए अपने इतिवृत्त के समान वाक्य या अर्थ को बोलते हुए नायक (पात्र) रंगपीठ पर प्रवेश करता है। यह दो प्रकार का होता है—वाक्यार्थ को कहते हुए पात्र का आना और दूसरे वाक्य के अर्थ को बताते हुए पात्र का आना।

वाक्य को कहते हुए का उदाहरण रत्नावली में—'द्वीपादन्यस्मादपि' इस सूत्रधार के श्लोक को कहता हुआ यौगन्धरायण नामक पात्र रंगपीठ पर प्रवेश करता है।

सूत्रधार के कहे वाक्य का अर्थ (अभिप्राय) अपने वाक्य में प्रकट करता हुआ पात्र वेणीसंहार में रंगपीठ पर आता है। जैसे सूत्रधार की उक्ति है—

शत्रुओं के शान्त हो जाने से वैर की अग्नि के बुझ जाने पर कृष्ण के साथ पाण्डव प्रसन्न हों। वे कौरव अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हों, जिनके अधीन सारी पृथ्वी अनुरक्त है और जिनके प्रति कलह-भाव मिट चुका है।

इस उक्ति के अभिप्राय को ग्रहण करके भीम नीचे की उक्ति बोलते हुए रंग पीठ पर प्रवेश करता है—

लाक्षागृह में आग लगाकर, विषान्न देकर, द्यूत सभा में प्रवेश करा कर हमारे प्राण और धनराशि पर प्रहार करके द्रौपदी के वस्त्र और केश को विसंष्ठुल करने वाले कौरव मेरे जीवित रहते कैसे स्वस्थ हों?

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त ने कथोद्घात की व्याखया की है—कथा काव्यार्थं रूपा ऊर्ध्वमेव हन्यते गम्यते तत्रेति कदोद्घातः। अर्थात् जिसमें कथा को ऊपर की ओर पहुँचाया जाय। कथोद्घात में कथा प्रस्तावना के क्षेत्र से आगे बढ़ाकर मुखसन्धि के क्षेत्र में ला दी जाती है।

अथ प्रवृत्तकम्—

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥१०

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकम्, यथा छलितरामे

'आसादितंप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥'

प्रवृत्तक में नायक का रङ्ग पीठ पर प्रवेश काल (ऋतु) की उससे उपमा देते हुए समञ्जसित करते हैं।

जो समय चल रहा है उसके समान गुण का वर्णन करने से पात्र का प्रवेश हो तो प्रवृत्तक है। यथा यह विशुद्ध रमणीय शरद् ऋतु आ पहुँची, जिसमें चन्द्रमा का ह्रास पूर्णता प्राप्त कर चुका है, जिसने घने अन्धकार वाली उग्र वर्षा ऋतु को उन्मूलित करके वन्धु जीव पौधे को वैसे ही हरा भरा कर दिया, जैसे बन्धुओं को प्राण देने वाले राम चन्द्र हास नामक रावण की तलवार को भग्न करके गाढ़े अन्धकार स्वरूप रावण का अन्त कर प्रकट हुए हैं।

अथ प्रयोगातिशयः—

११. एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥११

यथा 'एष राजेव दुष्यन्तः'।

११. सूत्रधार की योजनानुसार यह मैं हूँ यह कह कर जहाँ पात्र नायक का प्रवेश होता है, वहाँ प्रयोगातिशय नामक आमुख होता है।११

जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में—'एष राजेव दुष्यन्तः' है।

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त के अनुसार प्रयोगातिशय में सूत्रधार का प्रयोग (अभिनय) अपने निजीवृत्त की सीमा का अतिशय (अतिक्रम) करता है। अर्थात् वह नायकादि के वृत्त को प्रस्तावित कर देता है।

वीथ्यङ्ग

नाटकीय संवाद में वीथ्यङ्ग वाग्वैचित्र्य का परम स्रोत है। अभिनय में वाग्वैचित्र्य प्रेक्षकों को मनोरंजन प्रदान करने का अद्वितीय साधन है। इस प्रकार वीथी के अङ्गों का नाटकों में अनूठा महत्त्व है।[१]

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार प्रश्न और उत्तर दोनों के सम्बन्ध में वक्ता के अभिप्राय को अन्यथा समझने की विचित्रता होती है। 'प्रश्नप्रतिवचनयोरन्योन्याभिप्रायरूपेण योगेन यद्वैचित्र्य तद्वीथ्यङ्गम्। ना० शा० १८·११६ पर भारती
वीथ्यङ्ग शैली का उत्कर्ष प्रकट करता है। इस दृष्टि से कथावस्तु से सम्बद्ध सन्ध्यंग, नाटक-लक्षण, नाट्यालंकार आदि से यह निम्न है।

अथ वीथ्यङ्गानि—

१२. उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ।।१२

१३. असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

१२. वीथी के तेरह अंग हैं—उद्घात्यक, अवलगित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केली, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव ।

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ।।१३।।

१४. यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं यदुच्यते ।

गूढार्थं पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला । द्वयोरुक्ति-प्रत्युक्तौ तद्द्विविधमुद्घात्यकम् । तत्राद्यं विक्रमोर्वश्यां यथा—विदूषकः—भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसे । सो किं पुरिसो आदु इत्थिअ त्ति । ('भो वयस्य ! क एष कामो येन त्वमपि दूयसे । स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।') राजा—सखे !

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ।।

विदूषकः—एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि ।) राजा—वयस्य इच्छाप्रभवः स इति ।

विदूषकः—किं ज़ो ज इच्छदि सो तं कामेदित्ति । ('किं यो यदिच्छति स तत्कामयते इति ।') राजा—अथ किम् ।

विदूषकः—ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि । ('तज्ज्ञातं यथाहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि ।')

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—

का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ।।'

उद्घात्य दो प्रकार का होता है—(१) जब किसी पद का अर्थ गूढ (अस्पष्ट) हो तो अर्थ समझाने के लिए उस पद के अनेक पर्यायवाची पदों को बताना और

(२) प्रश्न और उत्तर की परम्परा। इन दोनों प्रकार के उद्घात्यकों में दो व्यक्तियों का परस्पर संवाद होना चाहिए।

गूथ अर्थ वाला पद और उसका पर्याय—इस प्रकार एक परम्परा हो अथवा प्रश्न और उत्तर की परम्परा हो। दोनों उक्ति और प्रत्युक्ति होनी चाहिए। ये दो प्रकार के उद्घात्यक होते हैं। पहले प्रकार का उदाहरण विक्रमोर्वशीय में है। यथा—

विदूषक—हे मित्र, यह काम कौन है, जिससे इस प्रकार तुम व्याकुल किये जाते हो। वह पुरुष है कि स्त्री।

राजा—सखे, स्नेह के ललित मार्ग को काम कहा जाता है, जो मन से उत्पन्न होने वाला, किसी के वश में न आने वाला, सुख में ही अपने अस्तित्व को सार्थक करता है।

विदूषक—यह बताने पर भी समझ में नहीं आया।

राजा—मित्र, वह इच्छा से उत्पन्न होता है।

विदूषक—क्या जो जिसकी इच्छा करता है, वही काम है ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—तो समझ लिया। जैसे मैं रसोई-घर में भोजन की इच्छा करता हूँ।

अपर विध उद्घात्यक का उदाहरण पाण्डवानन्द में इस प्रकार है—प्रशंसनीय क्या है ? गुणी लोगों की क्षमा। क्या अनादर है ? जो अपने कुल के लोगों के द्वारा किया गया हो। दुःख क्या है ? दूसरे के ऊपर आश्रित रहना। संसार में कौन श्लाघ्य है ? जिसका आश्रय लिया जाता है। मृत्यु क्या है ? विपत्ति। कौन शोक से रहित हैं ? जिन्होंने शत्रुओं को जीत लिया है। किनके द्वारा यह जान लिया गया है ? विराटनगर में छिप कर रहने वाले पाण्डवों के द्वारा।

अथावलगितम्—

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते। १४
१५. प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोहदकार्येऽनु (ण) प्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः। द्वितीयं यथा छलितरामे—'रामः—लक्ष्मण तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि। तदवतीर्य गच्छामि।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥'

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः।

अवलगित दो प्रकार का होता है--(१) कोई दूसरा ही काम सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वह प्रस्तुत या प्रवर्तमान काल में समन्वित है तथा (२) दूसरे काम के किये जाते समय किसी अन्य काम का (दैवात्) हो जाना।

पहले का उदाहरण है उत्तररामचरित में गर्भवती होने पर वन-विहार के लिए इच्छुक सीता की दोहद-पूर्ति के काम में अन्तर्भूत वन में उनका परित्याग, क्योंकि उनके ऊपर जनापवाद का आरोप था। दूसरे का उदाहरण है छलितराम में नीचे लिखा—

रामः—हे लक्ष्मण, पिता से रहित अयोध्या में विमान पर बैठे हुए मैं प्रवेश नहीं कर सकता। अतएव उतर कर चलता हूँ।

सिंहासन के नीचे, खड़ाऊँ को सामने रखकर, जटा धारण किये हुए, अक्षमाला हाथ में लेकर, चमरधारी ये कौन सुशोभित हो रहे हैं।

इस प्रकार भरत के दर्शन का कार्य (दैवात्) सिद्ध हो गया।

अथ प्रपञ्चः —

असद्भूतं मिथः स्तोत्रं पपश्चो हास्यकृन्मतः ॥ १५

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना यान्योन्यस्तुतिः स प्रपञ्चः। यथा कर्पूरमञ्जयांम्—भैरवानन्दः—

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो।
('रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य न भवति रम्यः ॥'

प्रपञ्च है अशोभनीय उपलब्धियों की झूठमूठ प्रशंसा, जिससे हँसी उत्पन्न हो।१५

यथा कर्पूरमञ्जरी में भैरवानन्द कहता है—रण्डा, चण्डा आदि स्त्रियाँ मेरे लिए दीक्षिता धर्मदारायें हैं। मद्य और मांस खाने-पीने के लिए उपयुक्त हैं। भीख से भोजन प्राप्त होता है। चर्म का खण्ड शय्या है। ऐसा कौल धर्म किसको अच्छा नहीं लगेगा?

नान्दी टीका

असद्भूत का अर्थ है दुर्गुण। प्रपञ्च में किसी की निन्दनीय प्रवृत्तियों को ही प्रशंसनीय बताया जाता है।

धनिक ने इसकी व्याख्या में जो अन्योन्य स्तुति की बात कही है, वह उनके दिये हुए उदाहरण में नहीं घटती।

अथ त्रिगतम्—

१६. श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥ १६

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः।
कैलासे सुरगणसेविते समन्तात्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥'

१६. त्रिगत दो प्रकार का होता है—(१) किसी सुनी ध्वनि से अनेक अभिप्रायों को द्योतित करना, जिसका आधार होता है श्रुतिसाम्य और (२) तीन नटों की बातचीत जो पूर्वरङ्ग के अङ्गरूप में निर्धारित है। १६

श्रुतिसाम्यादि का उदाहरण विक्रमोर्वशीय में है—

यह पुष्प-रस छके हुए प्रमत्त भौंरों का शब्द है, यह कोकिल की कूक है अथवा चारों ओर देवगण से सेवित कैलास पर किन्नरियाँ मधुर अक्षर का कलकल गान प्रस्तुत कर रही हैं।

नान्दी टीका

त्रिगत दो कोटि का होता है। पहली कोटि का त्रिगत पूर्वरंग में आता है, जिसका विवरण ३·१ में दिया जा चुका है। भारती वृत्ति का वीथ्यङ्ग बन कर आने वाला त्रिगत सर्वथा भिन्न ही है। इसमें ध्वनि या शब्द की समानता के कारण प्रश्न और उत्तर विषयक अनेक सम्भावनायें होती हैं। त्रि यहाँ अनेकार्थवाची है।

त्रिगत का अर्थ तीन से सम्बद्ध है। तीन बोद्धव्य से सम्बद्ध होने पर वीथी का अङ्ग त्रिगत होता है और तीन वक्ताओं से सम्बद्ध होने पर त्रिगत पूर्वरंग का अंग होता है।

अथ छलनम्: —

१७. प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम्।

यथा वेणीसंहारे—'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥५.२६

१७. छलन में ऊपर से अच्छी लगने वाली किन्तु वस्तुतः अप्रिय बातों के द्वारा विलोभन (प्रशंसा) करके सुनने वाले को छला जाता है।

जैसे वेणीसंहार में भीम और अर्जुन दुर्योधन के सेवकों से कहते हैं—

वह दुर्योधन कहाँ चुपचाप बैठा है—बतलाओ। हम लोग उसे देखने के लिए, क्रोध से नहीं, आये हैं। वह दुर्योधन द्यूत में कपट व्यवहार का कर्ता रहा है, उसने लाख के घर में आग लगवाई थी। वह अभिमानी राजा दुःशासन आदि सौ छोटे भाइयों का गुरु है। अंगराज (कर्ण) का मित्र है। द्रौपदी के केश और उत्तरीय का अपहरण कराने में कुशल रहा है और पाण्डव उसके दास हैं।

अथ वाक्केली—

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥१७

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तयः, तत्राद्या यथोत्तरचरिते - वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥'

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—भोदि मअणिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि। ('भवति मदनिके मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') मदनिका—हदास—ण क्खु एसा चच्चरी। दुवदिखण्डअं क्खु एदम्। ('हताश न खल्वेषा चर्चरी द्विपदीखंडकं खल्वेतत्।') विदूषकः—भोदि किं एदिणा खण्डेन मोदआ करीअन्ति। ('भवति किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते ?') मदनिका—णहि, पढीअदि क्खु एदम्। ('नहि पठ्यते खल्वेतत्।') इत्यादि।

प्रासंगिक वक्तव्य की बीच में ही विनिवृत्ति (रोक) के द्वारा वाक्केली होती है। (यह वाक्केली का प्रथम स्वरूप है। इसका द्वितीय स्वरूप भी है।) जिसमें उक्ति-प्रत्युक्ति का वाग्वैचित्र्य हो, वह भी वाक्केली है।१७

कारिका में अस्य प्रकरणानुसारी वाक्य के लिये प्रयुक्त है। वह साकांक्ष है, अर्थात् कतिपय पदों का आगे प्रयोग होने पर ही भाव पूरा होने वाला है। उन पदों को न कह कर बीच में ही वक्तव्य को अधूरा समाप्त कर देना। दो-तीन उक्ति-प्रत्युक्तियों से भी दूसरे प्रकार की वाक्केली होती है। प्रथम प्रकार की वाक्केली का उदाहरण है—

उत्तर रामचरित में वासन्ती राम से कहती है—

'तुम मेरे प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो। तुम मेरी नेत्रकौमुदी हो। तुम मेरे शरीर पर अमृत हो'—इत्यादि सैकड़ों प्रिय बातों के द्वारा उस मुग्धा सीता को प्रसन्न करके उसे—कुछ नहीं आगे की घटना की चर्चा व्यर्थ है। (आपने उसे वन में छोड़वा दिया—यह बात नहीं कही गई, जिससे वह वाक्केली है।)

उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा वाक्केली का उदाहरण रत्नावली में है। [1]—

विदूषक—मदनिके, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दो।

मदनिका—अभागे, यह चर्चरी नहीं, द्विपदो-खण्ड है।

विदूषक—श्रीमति, क्या इस खण्ड से लड्डू बनाये जाते हैं?

मदनिका—नहीं, यह पढ़ो जाती है।

नान्दी टीका

वाक्केली की दो परिभाषायें धनञ्जय ने दी हैं, उनमें से प्रथम के अनुसार कही जाती हुई बात बीच में ही बन्द कर दी जाती है और दूसरी के अनुसार उक्ति-प्रत्युक्ति की चोखी परम्परा छेकोक्ति द्वारा प्रस्तुत की जाती है जिसमें आक्षेपमयी वाग्धारा होती है।

भरत ने एक दूसरी ही परिभाषा दी है, जिसके अनुसार दो प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार उपलक्षण से दो अनेकार्थवाची है। अर्थात् अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो सकता है। अभिनवगुप्त ने इसका उदाहरण नोचे लिखे पद्य में दिया है—

नदीनां मेघविगमे का शोभा प्रतिभासते।
बाह्याभ्यन्तरा विजेतव्याः के नाम कृतिनोऽरयः॥

इ में पहला प्रश्न है वर्षा ऋतु के पश्चात् नदी की क्या शोभा होती है और दूसरा प्रश्न है कि सफल व्यक्ति के लिए बाह्य और आभ्यन्तर कौन जेतव्य हैं। उत्तर है अरयः। पहले प्रश्न के उत्तर के लिए अरयः की व्याख्या है न रयः अर्थात् तेज धारा का अभाव या गति की स्निग्धता और दूसरे प्रश्न के लिए अरयः से तात्पर्य है शत्रुगण।

अथाधिबलम्—

१८. अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं भवेत्।

यथा वेणीसंहारे—भीमः

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।

---

१. इस उक्ति-प्रत्युक्ति में एक पात्र वास्तविक अर्थ को न ग्रहण करने का अभिनय करता है।

रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्रः ॥५·२७

इत्युपक्रमे 'राजा—अरे नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः। किन्तु—
प्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे।
मद्गदाभिन्नवक्षोस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥' ५·३४

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याधिक्योक्तिरधिबलम्।

१८. अधिबल एक दूसरे से बढ़ कर स्पर्धावशात् डींग मारना है।

जैसे वेणीसंहार में भीम कहता है—

यह मध्यम पाण्डुपुत्र आप दोनों पितरों को प्रणाम करता है, जिसने युद्ध-भूमि में उस कर्ण को मार डाला था, जिस पर तुम्हारे पुत्रों ने विजय की पूरी आशा बाँध रखी थी और जिसके गर्व से संसार तृणवत् तिरस्कृत था।

यहाँ से आरम्भ होने पर राजा (दुर्योधन) उत्तर देता है—मैं तुम्हारे समान डींग मारने वाला ढीठ नहीं हूँ। किन्तु शीघ्र ही तुम्हारे बान्धव तुमको युद्ध स्थल में सोया हुआ देखेंगे, जब मेरी गदा से तुम्हारा वक्ष-पञ्जर भग्न होने से तुम भीषण बने रहोगे।' यहाँ तक भीम और दुर्योधन की एक दूसरे से बढ़ कर उक्तियाँ होने से अधिबल है।

अथ गण्डः —

गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥१८

यथोत्तरचरिते—रामः —

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो—
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अये बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥'

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव उअत्थिदो। ('देव उपस्थितः।') रामः—आर्य कः। प्रतीहारी—देवस्य आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो। ('देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः।')।

गण्ड सहसा कही हुई ऐसी बात है, जो पहले से प्रस्तुत बातचीत से अनुबद्ध तो होती है, किन्तु वस्तुतः एक दूसरा ही अर्थ देती है।

जैसे उत्तररामचरित में राम की एकोक्ति है—

यह (सीता) गृहलक्ष्मी है, नेत्रों के लिए अमृतशलाका है। इसका स्पर्श शरीर पर गाढ़ा चन्दन-रस है। यह बाहु शीतल चिकनी मोती की माला है। इसका क्या आनन्दमय नहीं है—केवल इसका विरह प्राण लेवा है।

(प्रवेश करके) प्रतीहारी—देव उपस्थित हो गया (राम को पहले की उनकी उक्ति के प्रसंग में विरह उपस्थित होने की शका होती है।) राम पूछते हैं—अरे कौन ? प्रतीहारी—देव का निकट का गुप्तचर दुर्मुख। यहाँ प्रतिहारी की बात गण्ड है।

नान्दी टीका

गण्ड की परिभाषा में भरत ने चार आवश्यक तत्त्व बताये हैं—(१) संरम्भ तथा सम्भ्रम (२) विवाद (३) अपवाद और (४) अनेक अर्थों का संकेत।

गण्ड में पहले से चले आते हुए प्रकरण के प्रायः अपने आप में पूर्ण वाक्य या शब्द का प्रकरण के बाहर के सहसा प्रस्तुत वाक्य या शब्द से संश्लेष इस प्रकार कर दिया जाता है कि प्रथम वक्ता के लिए अनभीष्ट अर्थ झलकने लगता है। यह भावी अनिष्ट का सूचक होता है।

गण्ड का अर्थ फोड़ा है। नाट्य प्रकरण में यह फोड़े की भाँति दूषित और दुःखदायी भावी घटना का संकेत करता है।

गण्ड का वक्ता प्रायः इसी को कहने के लिए रंग पीठ पर अकस्मात् आ जाता है।

अथावस्यन्दितम्—

१८. यथोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत्।

यथा छलितरामे—'सीता—जाद कल्लं क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं। तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो। ('जात! कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यं। तत्र स राजा विनयेन नमितव्यः।') लवः—अम्ब किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ?सीता—जाद सो क्खु तुह्माणं पिदा। ('जात स खलु युवयोः पिता।') लवः—किमावयोः रघुपतिः पिता ?। सीता—(साशङ्कम्) जाद ण क्खु परं तुह्माणं, सअलाए ज्जेव्व पुहवीए।' ('जात न खलु परं युवयोः, सकलाया एव पृथिव्याः।') इति।

१८. अवस्यन्दित है यथोक्त (किसी पहले कही हुई बात) की (आवश्यकतानुसार) नई व्याख्या।

जैसे छलितराम में—सीता—वत्स, कल तुमको अयोध्या जाना है।
वहाँ राजा को सविनय प्रणाम करना।
लव—माँ क्या हम लोग राजाश्रित हो जायेंगे ?
सीता—वत्स, वे तुम्हारे पिता हैं।
लव—क्या रघुपति हमारे पिता हैं ?
सीता—(आशङ्का करती हुई), वत्स, केवल तुम्हारे ही क्यों ? सारी पृथ्वी के पिता हैं।

(यहाँ सीता ने अपने प्रथम प्रकटित अभिप्राय को अपनी व्याख्या से अन्यथा कर दिया।)

नान्दी टीका

यदि बिना सोचे-समझे कोई ऐसी बात कह दी जाय, जो नहीं कही जानी चाहिए थी तो उसके वास्तविक अभिप्राय को छिपाने के लिए जो व्याख्यात्मक उक्ति प्रस्तुत की जाती है, वह अवस्यन्दित है।

अथ नालिका—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ।। १९

यथा मुद्राराक्षसे—'चरः—हंहो बह्मण मा कुप्प, किं पि तुह ऊअज्झाओ जाणादि किं पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति। ('हंहो ब्राह्मण मा कुप्य, किमपि तवोपाध्यायो जानाति, किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति।') शिष्यः— किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि। चरः—यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि, ता जाणादु दाव कस्स चन्दोअणभिप्पेदो त्ति। ('यदि ते उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।') शिष्यः—'किमनेन ज्ञातेन भवति।' इत्युपक्रमे चाणक्यः—'चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि।' इत्युक्तं भवति।

नालिका उपहासपूर्ण, रहस्यमय अभिप्राय वाली पहेली है।

जैसे मुद्रा राक्षस में

चर—अरे ब्राह्मण, कोप न कर। कुछ तेरा उपाध्याय जानता है और कुछ हमारे जैसे लोग जानते हैं।

शिष्य—क्या हमारे उपाध्याय की सर्वज्ञता में त्रुटि बताना चाहते हो?

चर—यदि तुम्हारा उपाध्याय सब कुछ जानता है तो वह जान ले कि चन्द्र किसको प्रिय नहीं है?

शिष्य—यह जानने से क्या लाभ होता है?

यहाँ से आरम्भ करके 'चन्द्रगुप्त से विरक्त लोगों को जानता हूँ' (इसमें चर का प्रश्न कि चन्द्र किसको प्रिय नहीं है? नालिका का उदाहरण है।)

अथाऽसत्प्रलापः

२०. असम्बद्धकथाप्रायाऽसत्प्रलापो यथोत्तरम्।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः। तन्न—उत्स्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावो यथा—

'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्या सृक्कतो वासुके—
रङ्गुल्या विषकर्बुरान्गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः ॥'

यथा च—

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते' ॥

विक्रमोर्वशीये ४.३२

यथा वा—

'भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत्।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥'

२०. असत्प्रलाप असम्बद्ध कथा (बेतुकी बात) यथोत्तर (एक के बाद दूसरी) होती हैं।

'बातों का बेतुकी होना तो असंगति नामक दोष कहा गया है'। यह शंका होने पर धनिक उत्तर देते हैं। ऐसा नहीं। स्वप्न में बड़बड़ाना, मद्यप का बोलना, पागलों का प्रलाप, शिशु की वाणी—ये सब असम्बद्ध प्रलाप नाटकों में संग्रहणीय विभाव हैं। जैसे

वासुकि के प्रकाशमान मुख—विवरों को सृक्क (मुख के कोने) से फाड़ कर अंगुली से छू-छूकर विष से चितकबरे दातों को गिनते हुए एक, तीन, नव, आठ, सात, छः इस प्रकार संख्याक्रम को तोड़ती हुई क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय की बालपन के कारण क्रमहीन तोतली बातें आप लोगों का कल्याण करे।

दूसरा उदाहरण

हे हंस मेरी पत्नी को दे दो। तुमने उसकी गति चुराई है। एक भाग से पहचानी वस्तु चोर के द्वारा देय रूप में माँगी जाती है।

तीसरा उदाहरण

मेरे द्वारा पर्वत खाये यये। अग्नि से मैंने स्नान किया, आकाश को पीता हूँ। ब्रह्मा, विष्णु और शिव मेरे पुत्र है। अतएव मैं नाच रहा हूँ।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने असत्प्रलाप का सीधा-सा अर्थ लिया है—ऐसा भाषण जो पूर्वापर से अनुबद्ध न होने के कारण असामञ्जस्यपूर्ण हो। धनिक ने स्पष्ट किया है कि असत्प्रलाप के वक्ता उत्स्वप्नायित, उन्मत्त, शिशु आदि हो सकते हैं।

भरत ने असत्प्रलाप का ऐसा अर्थ नहीं बताया है। उनके मत से मूर्खों के सामने उनके हित की बात विद्वान् करे और मूर्ख उस उक्ति के तात्त्विक अर्थ को अज्ञता के कारण न ग्रहण करे तो असत्प्रलाप होता है।

असत्प्रलाप की चारुता इस बात में है कि मूर्ख ऊपरी थोथे अर्थ को ग्रहण कर लेता है और श्लेषात्मक वास्तविक हितकारी अर्थ को नहीं अपनाता। इसका उदाहरण है।

सर्वथा योऽक्षविजयी सुरासेवनतत्परः।
तस्यार्थानां सुखानां च समृद्धिः करगामिनी॥

इसमें अक्ष—जुआ और इन्द्रिय है तथा सुरासेवन—मद्यपान तथा सुर+आसेवन=देवोपासन है। मूर्ख ने अर्थ समझा कि जूआ खेलो और शराब पीओ तो काम बनेगा। वास्तविक अर्थ है इन्द्रिय जय करो और देवोपासन करो। इस अर्थ को वह नहीं ग्रहण करता।

अथ व्याहारः—

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः॥ २०

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने—'(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) विदूषकः—मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि।' ('मा तावत् उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे 'गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः। विदूषकः—पढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूआ भोदि सा तए लङ्घिदा (मालविका स्मयते)।' ('प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति सा तया लङ्घिता।') इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः।

व्याहार हास्य और लोभ भरी ऐसी वाणी होती है, जिसमें व्यंग्य प्रयोजन ही प्रधान उद्देश्य होता है। २०

जैसे मालविकाग्निमित्र में लास्य प्रयोग समाप्त हो जाने पर (मालविका निष्क्रान्त होना चाहती है।) विदूषक कहता है—'जब तक अशुद्धियाँ ठीक न कर दी जायँ तब तक नहीं जा सकती हो।' यहाँ से लेकर गणदास—(विदूषक के प्रति) आर्य आप तो बतायें, क्या क्रमभेद देखा गया?

विदूषक—पहले तो सवेरे ही ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए थी। वह इसने नहीं की। (मालविका हँसती है।)

इत्यादि से व्यंग्य प्रयोजन है कि नायक नायिका का विश्रब्ध दर्शन करे। इस उद्देश्य से हास्य और लोभ की बातें दी गईं।

व्याहार का धात्वर्थ रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण में बताया है—विविधा अर्था व्याह्रियन्तेऽनयेति व्याहारः। अर्थात् जिसके द्वारा अनेक प्रकार के अर्थों का संकेत हो। यहाँ अर्थ से तात्पर्य प्रयोजन है।

धनिक के उदाहरण में प्रथम प्रयोजन स्पष्ट है कि नर्तकी से प्रश्न पूछना है, किन्तु दूसरा व्यंग्य प्रयोजन मुख्य है कि वह कुछ और देर तक रुकी रहे कि नायक को उसे तब तक देखते रहने का समय मिल जाय।

भरत ने व्याहार की परिभाषा बताई है—

प्रत्यक्षवृत्तिरुक्तो व्याहारो हास्यलेशार्थः॥

अर्थात् जिसमें किसी वक्तव्य का अभिप्राय प्रत्यक्ष की ओर संकेत करता हो। यहाँ प्रत्यक्ष की व्याख्या अभिनवगुप्त की भारती से स्पष्ट होता है भावी प्रत्यक्ष अर्थात् किसी की दृष्टि में भावी मन्तव्य क्या है—उसका ज्ञान व्याहार में होता है। अभिनवगुप्त ने उदाहरण दिया है—'उद्दामोत्कलिका' आदि रत्नावली से। इसका व्याहारोचित भावी मन्तव्य है कि नायिका से पुनर्मिलन थोड़े ही विलम्ब से होना है।

अथ मृदवम्—

२१. दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत्।

यथा शाकुन्तले—

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥ २५

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः।

यथा च—

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम्।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम्॥

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः।

उभयं वा—

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः॥'

इति प्रस्तावनाङ्गानि।

२१. मृदव में ऐसा उक्तिवैचित्र्य होता है जिससे दोष गुण प्रतीत हों या गुण दोष प्रतीत हों।

जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में शिकारी दुष्यन्त से सेनापति मृगया की प्रशंसा करता है। चर्बी के छँट जाने से उदर के कृश हो जाने पर शरीर हल्का और स्फूर्तिमान् हो जाता है। वन्य पशुओं का भय और क्रोध के आवेश में शारीरिक विकार देखा जा सकता है। धनुर्धर के लिए गौरव की बात है कि दौड़ते हुए पशु पर लक्ष्य का सन्धान ठीक हो। मृगया को झूठे ही लोग व्यसन कहते हैं। ऐसा विनोद कहाँ है ?

यहाँ मृगया के दुर्गुणों को गुण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

दूसरा उदाहरण

यह जिगीषु राजा ऐसे जीता है कि इसका मानस सदा सन्तोष से परे है, सहस्रों प्रयासों के प्रपञ्च में क्लेश पाता है। इसकी नींद चली गई है और यह किसी का विश्वास नहीं करता। इसमें राज्य के गुणों को दोष रूप में प्रस्तुत किया गया है। नीचे की उक्ति में गुण दोष रूप में और दोष गुण रूप में प्रस्तुत हैं— सन्त लोग सज्जनों के अभ्युत्थान में व्यापृत होते हैं। उनको यन्त्रणायें होती हैं। सर्वत्र ही जनापवाद से विस्मित वे लोग दुःखपूर्वक जीते हैं।

प्राकृत (असंस्कृत) जन वे हैं, जिनकी बुद्धि सुविकसित नहीं है। वे किये हुए सत् या असत् से व्याकुल नहीं होते। विवेकशून्य हृदय वाले ऐसे लोग धन्य हैं।

नान्दी टीका

मृदव में भरत विवादास्पद परिस्थिति में दोष को गुण और गुण को दोष बताना आवश्यक मानते हैं। धनञ्जय ने इस विवादात्मक स्थिति का संकेत अपनी कारिका में नहीं किया है।

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१
२२. प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

इन सब (कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और १३ वीथ्यंगों, में से किसी एक से नाटक के पात्र और कथावस्तु का संकेत देकर प्रस्तावना के अन्त में निष्क्रान्त हो जाय। इसके पश्चात् कथावस्तु का विस्तार करे।

नान्दी टीका

धनञ्जय के अनुसार किसी भी वीथ्यङ्ग के द्वारा कथावस्तु, और पात्र का संकेत देकर प्रस्तावना का अन्त किया जा सकता है। जैसा पहले लिख चुके हैं कि भरत के अनुसार केवल उद्घात्यक और अवलगित नामक दो ही वीथ्यंग तथा कथोद्घात प्रयोगातिशय के द्वारा ही प्रस्तावना के लिए आवश्यक पात्रादि का संकेत हो सकता है।

नाटकम्

तत्र—

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥२२

२३. कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥२३

२४. तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागविसंवादिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकः। तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

नाटक का नायक आकर्षक गुणों से युक्त, धीरोदात्त, प्रतापी, कीर्ति की कामना करने वाला, विशेष उत्साही, वेदों का रक्षक, राजा, प्रख्यात वंश का राजर्षि या देवता होना चाहिए ।२३

२४. नाटक में आधिकारिकवृत्त को प्रख्यात होना चाहिए ।

नाटक के इतिवृत्त में सत्यवादी, निष्कपट, नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध, आकर्षक गुणों से युक्त, रामायण-महाभारतादि में प्रसिद्ध धीरोदात्त राजर्षि या देवता नायक होता है। नाटक में आधिकारिक वस्तु प्रख्यात रखनी चाहिए ।

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त के अनुसार रूपकों में नाटक श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी कथा-वस्तु इतिहासादि से ग्रहण की जाती है और तत्सम्बन्धी वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ लोक-ग्राह्य आदर्श प्रस्तुत करती हैं।

नाटक का नायक प्रख्यातवंश का राजर्षि होना चाहिए। प्रख्यातवंश का तात्पर्य सूर्य और चन्द्रवंश आदि माने जा सकते हैं। नायक को राजर्षि होना चाहिए—यह धनञ्जय का मत कुछ ठीक नहीं बैठता। जिन राजाओं को भास, कालिदास आदि कवियों ने अपने नाटकों का नायक बनाया है, उन्हें राजर्षि कहना समीचीन नहीं लगता। राजर्षि तो एक उदात्ततम विशेषण है, जिसे उदयन, दुष्यन्त, अविमारक आदि के साथ लगाना उचित न होगा। भरत ने तो केवल इतना ही लिखा है कि नाटक को कथावस्तु राजर्षि-वंश में उत्पन्न किसी नायक की चरित-गाथा होनी चाहिए। राजर्षिवंश में उत्पन्न तो किसी राजा नायक को मान सकते हैं।

धनञ्जय के अनुसार नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। भरत के अनुसार नाटक का नायक उदात्त होना चाहिए। धीरोदात्त और उदात्त में भेद है। उदात्त

तो कोई भी महानुभाव हो सकता है।[1] पर धीरोदात्त एक पारिभाषिक शब्द है, जो धीरोद्धत आदि से कुछ विशेषताओं के कारण भिन्न पड़ता है। अभिनवगुप्त ने सम्भवत: उदात्त विशेषण की इसी चातुर्दिक् प्रवृत्ति को देखकर स्पष्ट कहा है कि उदात्त का अभिप्राय है वीर रस के योग्य और धीरोदात्त, धीरललितादि चारों प्रकार के नायक नाटक के योग्य हैं।[2] प्राचीन प्रसिद्ध नाटकों में धीरोदात्त के अतिरिक्त धीरललित नायक स्वप्नवासवदत्त में और मालविकाग्निमित्र में सुप्रसिद्ध हैं। मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त धीरललित ही है।

धनञ्जय ने दिव्य कोटि का नायक भी नाटक के लिए स्वीकार किया है। भरत के अनुसार किसी देवता को नाटक का नायक नहीं बना सकते। अभिनवगुप्त ने तो तर्क दिये हैं कि देवता नाटक के नायक होने के योग्य नहीं हैं, यद्यपि उनके तर्कों का कोई दृढ़ आधार नहीं है।[3]

कारण जो कुछ भी हो, प्राचीन नाटकों में देवताओं को नायक नहीं बनाया गया है।

धनञ्जय ने नाटक के नायक को प्रख्यात वंश का और वृत्त को प्रख्यात होने का विधान बताया है। इस प्रकरण में उनका प्रख्यात का अभिप्राय है रामायण, महाभारतादि में वर्णित। आदि से पुराणों का भी ग्रहण कर लिया जाता है। अच्छा होता कि वैदिक संहिता से उपनिषद् तक सारे साहित्य को इस कोटि में रख कर उनके चरितनायकों को नाटक का नायक बनने की योग्यता प्रदान की गई होती।

इस नियम का परिपालन प्राचीनकाल में हुआ नहीं। मुद्राराक्षस और स्वप्नवासवदत्त की कथा बृहत्कथा से ली गई हैं, जिसे प्रख्यात कोटि का उपजीव्य पूर्वोक्त आचार्यों ने नहीं माना है।

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४

२५. विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।

---

१. भरत ने ना० शा० २३.३४ में गणिका तक को उदात्त विशेषण दिया है। किन्तु उसे धीरोदात्त विशेषण नहीं दिया जा सकता।

२. यहाँ अभिनवगुप्त के ना० शा० १८.१० पर भारती में यह विप्रतिपत्ति है कि ना० शा० २४.४ के अनुसार धीरप्रशान्त तो राजा हो ही नहीं सकता और अभिनवगुप्त राजा के अतिरिक्त किसी को नाटक का नायक बनने योग्य नहीं समझते।

३. दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृष्ठ १३०।

यथा छद्मना वालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः। वीरचरिते तु रावणसौहृदेन वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः।

जो कुछ नायक के लिए अनुचित हो या रस के विरुद्ध हो, उसे छोड़ देना चाहिए या उसे परिवर्तित कर देना चाहिए।

जैसे मायुराज ने उदात्तराघव में छल से राम द्वारा वालि का मारा जाना छोड़ दिया है। महावीरचरित में रावण से मित्रता के कारण राम के वध के लिए आये हुए वालि को राम ने मारा—इस प्रकार कथा परिवर्तित कर दी गई है।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥२५

२६. खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत्।

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धं सूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागं फलानुसारेणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत्। पुनरपि पुनर्द्वादश त्रयोदश चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभागान्कुर्यात्।

कथावस्तु का आदि और अन्त निश्चित करके, खण्डशः सन्धि नामक पाँच भागों में विभक्त करके उन विभागों का भी (सन्ध्यङ्गों में) विभाजन कर दे।

नायक विषयक अनुचित और रस-विषयक विरोध का परित्याग करने से सर्वथा शुद्ध, सूचनीय और दर्शनीय वस्तुओं में विभक्त और फल का अनुसरण करते हुए बीज बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक अर्थप्रकृति से युक्त इतिवृत्त को पाँच अवस्थाओं की समरूपता के क्रम से पाँच भागों में विभक्त करे। फिर क्रमशः प्रत्येक भाग को १२, १३, और १४ अङ्ग नामक सन्धि के विभाग में कर दे।

चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरंगानीत्यपरं तथा ॥२६

२७. पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः।

अंगान्यत्र यथालाभमसन्धिं प्रकरीं न्यसेत् ॥२७

अपरमिति प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिन्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम्। अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि। प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम्।

सभी सन्ध्यंगों की संख्या का योग ६४ होता है।२६

२७. पताका की सन्धियों को अनुसन्धि कहते हैं। पताका में अधिक से अधिक चार अनुसन्धियाँ होती हैं, जिनका अंगों में विभाजन, जैसी मिलती जायँ, कर दिया जाता है। प्रकरी में सन्धि-विन्यास नहीं होता।

दूसरे प्रकार का इतिवृत्त प्रासंगिक कोटि की पताका है, जिसमें प्रधान इतिवृत्त से एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियाँ कम होती हैं। पताका वृत्त में, जितने अङ्ग मिलें, उतने रखे जायँ। उनका प्रधान वृत्त से विरोध नहीं होना चाहिए। प्रकरी वृत्त ऐसा बनाना चाहिए कि उसमें किसी भी एक सन्धि की पूरी सामग्री न हो।

नान्दी टीका

पताकावृत्त की सन्धियों को अनुसन्धि कहते हैं।[1] संस्कृत के विरल नाटकों में ही पताकावृत्त मिलते हैं।

तत्रैवं विभक्ते—

२८. आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः।

पूर्वोक्त विभाजन हो जाने पर।

२८. आदि में (प्रस्तावना के ठीक पश्चात्) विष्कम्भक अथवा अङ्क कार्ययोग की दृष्टि से होना चाहिए।

इयमत्र कार्ययुक्तिः—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥२८

२९. यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥२९

३०. आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः।

कार्य का औचित्य अधोलिखित है—

सर्वथा अपेक्षित वस्तु को (अङ्क के लिए) छोड़कर शेष नीरस वस्तु-प्रपंच को जब बताना हो तो विष्कम्भक के माध्यम से ऐसा करना चाहिए। जब आरम्भ से ही सरस कथावस्तु चलती हो तो नाटक के आदि में ही अङ्क होता है। उस अंक की कथावस्तु का संकेत आमुख में होता है।

स च—

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥३०

३१. अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः।

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेक-प्रयोजनसंविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः।

---

१. प्रधानार्थानुयायित्वादनुसन्धिः प्रकीर्त्यते।
एकोऽनेकोऽपि वा सन्धिः पताकायां तु यो भवेत् ॥
भरतकोश पृष्ठ १८ पर भरत का मत।

अंक में नेता का चरित प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। अर्थात् सूच्य नहीं होता। अंक बिन्दु (अवान्तर कथा के बीज) की व्याप्ति (सर्वत्र सत्ता) से समन्वित होती है। अर्थात् बिन्दु में संकेतित कथा का विस्तार अंक में होता है। नाना प्रकार के अर्थ (घटनाओं का वर्णन), संविधान (घटनाओं का विन्यास) और रस का आश्रय (निधान) अंक है। अर्थात् अंक में अर्थ संविधान और रस मिलते हैं।

नायक जब रंगपीठ पर आता है तो अङ्क भाग में उसके कार्य-व्यापार साक्षात् निर्दिष्ट होते हैं। बिन्दु का उपक्षेप (कथन), अर्थ (घटनाओं का वर्णन) आदि को अपने में समन्वित करते हुए, अनेक प्रयोजन, संविधान और रस का अधिकरण अङ्क होता है, मानो इनके लिए उत्सङ्ग (गोद) हो।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने अङ्क की परिभाषा दी है कि इसमें नेता का चरित प्रत्यक्ष होना चाहिए। यहाँ नेता पद से महासामान्य-वचन ही ले सकते हैं, अर्थात् किसी कथा-पुरुष का चरित होना चाहिए।

यह पहले लिखा जा चुका है कि अंक में नायक का प्रत्यक्ष चरित ही सर्वत्र दृश्य नहीं होता, अपितु सूच्य की मात्रा भी अतिशय होती है।[1]

यहाँ प्रत्यक्ष-नेतृ-चरित पर विशेष चर्चा होनी चाहिए। भरत ने लिखा था कि नायकों के चरित-सम्भोग को अंक में प्रत्यक्ष (दृश्य) होना चाहिए।[2] भरत की इस मान्यता का संक्षेप धनञ्जय ने ग्रहण किया है। यहाँ धनञ्जय के मत को भरत के मत के प्रकाश में रख कर समीक्षा की जाय। चरितसम्भोग है राजा का ऐश्वर्यमय-विलास। केवल इस विलास मात्र को नाटक में अवश्य ही दृश्य बनाना है। यह सूच्य नहीं बनाया जा सकता। अन्य विषयों से सम्बद्ध राजकीय चर्चायें सूच्य हो सकती हैं और नाटकों में सूच्य रूप में सन्निवेशित भी हैं। यहाँ नेतृ पद अतिविशेष वचनात्मक है और नाटक के नायक राजा के लिए प्रयुक्त है।

बिन्दु अङ्कों के अन्त में होना ही चाहिए। इससे अगले अंक की कथा संकेतित होती है। यहाँ यह स्पष्ट है कि जब बिन्दु सभी अंकों के अन्त में आ सकता है तो धनञ्जय का दश० १.२२, २३ में बिन्दु को यत्न नामक अवस्था और प्रतिमुख नामक संधि ही में सीमित करना चिन्त्य है।

किसी प्रधान घटना से सम्बद्ध सहायक घटनाओं को संविधान कहा जाता है। यथा सन्ध्यङ्गों की चारुता निष्पन्न करने के लिए कवि नित्य नूतन संविधानों की कल्पना करता है। संविधानों के बिना सन्ध्यङ्ग और वीथ्यङ्ग की संरचना असम्भव है। अतएव इनका अविनाभाव प्रत्यक्ष है।

---

१. दशरूपक के १.७८ पर टिप्पणी

२. ये नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचरितसम्भोगः। ना० शा० १८.१७

इसी अर्थ में ना० शा० १८.४८ में राजसम्भोग आया है।

किसी एक प्रयोजन को लेकर कोई घटना या कार्य पूरा होता है। उस घटना या कार्य को अर्थ कहते हैं।

तत्र च—

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१

३२. गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम्।

अंगिन इत्यङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः।

अंक में अनुभाव, विभाव, स्थायी और संचारी भावों को कहीं किसी एक को ग्रहण करते हुए, फिर कहीं छोड़ते हुए प्रधान रस के स्थायी का परिपोषक बनाते हैं।

पूर्वोक्त कारिका में अङ्गिनः का अर्थ अङ्गी रस का स्थायी है। इसी प्रकार स्थायिना से अङ्गी रस से भिन्न रसों का स्थायी समझना चाहिए।

नान्दी टीका

रूपकों में कौन अंगी रस हो—यह भरत ने स्पष्ट नहीं किया है। अभिनवगुप्त ने अंगी रसों का विवेचन अपनी ओर से अभिनवभारती में किया है। अंगी रस की धारा काव्य में आद्यन्त व्याप्त रहती है। इसे प्रधान रस या स्थायी रस भी कहते हैं। भरत के अनुसार नाटकादि में जो बहुत से रस निष्पन्न होते हैं, उनमें से जिनका रूप सविशेष होता है, वह स्थायी रस है, शेष संचारी (अंग) रस हैं।[1] अंगी रस प्रधान है, अंगरस उसके सहकारी या उपकारक हैं। ३.३४ पर धनिक कहता है—

केवलस्थाय्युपनिवन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारिता।

केवल स्थायी के उपनिवद्ध होने से वह व्यभिचारी होता है।

(१) क्योंकि केवल स्थायी उपनिवद्ध नहीं होता।

(२) स्थायी तव संचारी होता है जव स्तोक विभाव से उत्पन्न हो।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥३२

३३. रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

कथासंध्यंगोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः।

रस की अतिशय आसक्ति से कथावस्तु की धारा कहीं टूट न जाय। वस्तु, नाट्यालंकार और नाट्य लक्षण की अतिशय आसक्ति से रस की धारा कहीं टूट न जाय।[2]

---

१. सर्वेषां समवेतानां यस्य रूपं भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः ॥ ना० शा० २०.७६

२. नाट्यलक्षण और नाट्यालंकार का विशेष विवरण ना० शा० षोडश अध्याय में है।

कथा की सन्धियों के अङ्ग और उपमा आदि जो लक्षणों के द्वारा भूषणादि के समान हैं।

नान्दी टीका

रस की अतिशयता के लिए वर्णन को अधिक विस्तार देकर कथावस्तु को गौण नहीं बनाना चाहिए और न कथावस्तु का अतिशय प्रपञ्च करके रसतत्त्वों को ओझल करना चाहिए। दोनों तत्त्वों का सामञ्जस्य होना चाहिए।

नाट्य-लक्षणों को लक्षण कहा गया है। इनको भूषण भी कहते हैं। इनकी संख्या ३६ है। विभूषण, शोभा, गुणकीर्तन, प्रोत्साहन, पदोच्चय, मनोरथ, दृष्टान्त, कपट, कार्य आदि लक्षण हैं। इनका विशेष विवरण नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में है।

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः शृंगार एव वा ॥३३

३४. अंगमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामंगत्वमुक्तम्, तन्न यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामंगत्वम्। केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव।

वीर और शृंगार में से किसी एक को प्रधान रस बनाना चाहिए। अन्य रस अंग बनकर आ सकते हैं। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस होना चाहिए।

३१वीं कारिका में कहा जा चुका है कि रसान्तरस्थायी से अङ्गी रस के स्थायी का पोषण होना चाहिए। फिर वही बात यहाँ क्यों कही गई। धनिक ने उत्तर दिया है कि ऐसी पुनरुक्ति की स्थिति वस्तुतः नहीं है। यहाँ रसान्तर का स्थायी अपने विभावानुभाव संचारी से युक्त होकर रस रूप में परिणत हो चुका है और वह प्रधान रस का अङ्ग है। पर ऐसे भी तो स्थायी वर्णित होते हैं जो विभावादि के अभाव में स्थायी मात्र ही रह जाते हैं, रस में परिणत नहीं होते। ऐसे स्थायी भावों को संचारी भाव की कोटि में रखते हैं। इस प्रकार रसान्तर स्थायी का अङ्ग होना और कोरे स्थायी का अङ्ग होना पृथक्-पृथक् अभिप्राय प्रकट करते हैं।

नान्दी टीका

भरत ने नाटकादि के अनेक रस होने की बात तो कही है, किन्तु किस रूपक में कौन अंगी रस हो यह नहीं कहा है। अभिनवगुप्त के अनुसार सभी नाटकों में वीर रस ही प्रधान है।[1] यह मत भी विलक्षण ही लगता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में वीर रस का अंगी होना समीचीन नहीं है।

दशरूपक में नाटक में वीर या शृंगार के अंगी होने की बात कही गई है। यह तो सिद्धान्त की बात है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीत होता है कि उत्तररामचरित नामक नाटक में अंगी रस करुण है और वेणीसंहार में रौद्र रस अंगी है।

---

१. नाटके वीररसः प्रधानः। ना० शा० भाग २ पृष्ठ ४५१ गा० ओ० सी०।

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥३४

३५. संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।

अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥३५

अङ्के नैवोपनिबध्नीयात्। प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः ।

दूर तक मार्ग चलना, वध, युद्ध, राज्य और देशादि में विप्लव, घेरा डालना, भोजन, स्नान, सम्भोग, अनुलेपन, वस्त्र ग्रहण आदि को रंगपीठ पर प्रत्यक्ष दिखाना नाटक में नहीं होना चाहिए। ३५

इनको अङ्क भाग में नहीं लिखना चाहिए, प्रवेशकादि में इन घटनाओं की सूचना मात्र दे देनी चाहिए।

नान्दी टीका

रंग पीठ पर अंक में क्या दृश्य न बनाया जाय—यह समस्या है। पहले हम युद्ध को लेते हैं। धनञ्जय के अनुसार रंगपीठ पर युद्ध नहीं होना चाहिए। भरत ने भी १८.३८ में रंगपीठ पर युद्ध निषेध किया है, किन्तु साथ ही अभिनय प्रकरण में ना० शा० ६.६५, २१.२२५, १०.७१ आदि में नानाप्रहरण मोक्ष को रंगपीठ पर दृश्य रूप में कार्य बताया है। इसी प्रकार मरण के दृश्य को भी भरत ने रंगपीठ पर दृश्य ना० शा० २५.१००-१०२ में बताया है।

युद्ध, मरण आदि के अभिनयविषयक कारिका—

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरावरोधनं चैव ।

प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ १८.३८

का अर्थ कुछ लोग करते हैं कि युद्ध आदि को यदि अंक में नहीं दृश्य बनाया तो प्रवेशक के द्वारा सूच्य बनाना चाहिए।

अभिनवगुप्त यद्यपि मरण के दृश्य का निषेध करते हैं, किन्तु उन्होंने कहा है मरण का अभिनय कुछ आचार्य सम्भव मानते हैं।[1] धनञ्जय ने वध का वर्जन तो किया है, किन्तु मृत्यु का नहीं।

भास के नाटकों में मरण के दृश्य हैं।

शृंगारित दृश्यों को भरत २२.२९५-२९९ में तो निषेध करते हैं किन्तु २२.२८४-२९२ में उनका विधि-विधान स्पष्ट करते हैं। व्यावहारिक रूप में शृंगारित दृश्य आलिंगनादि कभी पूर्णतया निषिद्ध न हुए और रसिक कवियों ने कभी-कभी विशेष उत्साहपूर्वक कामुक प्रवृत्तियों का दर्शनरूपकों में प्रत्यक्ष कराया है।

३६. नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित्कुर्यात् ।

1. ना० शा० १८.३८ पर भारती।

नाटक में अधिकारी नायक का वध नहीं वताना चाहिए। किसी आवश्यक कार्य या घटना को कहीं छोड़ना नहीं चाहिए।

अधिकारी नायक का वध प्रवेशकादि में भी सूचित न करे। आवश्यक कार्य है देव-पितृ आदि के लिए यज्ञ या तर्पण आदि। इनको अवश्य करना चाहिए।

नान्दी टीका

धनिक ने अधिकारी के वध का निषेध किया है। इस नियम की कोई सार्थकता नहीं है, क्योंकि अधिकारी का अर्थ है फल प्राप्ति करने वाला। यदि उसका वध होता है तो वह अधिकारी नहीं और यदि अधिकारी है तो फल प्राप्त करेगा और उसका फल-प्राप्ति तक वध हो ही नहीं सकता।

'त्याज्यमावश्यकं न च' की धनिक की टीका सामञ्जस्य पूर्ण नहीं है कि देवपितृ-कार्य को न छोड़ा जाय। यहाँ आवश्यक से तात्पर्य नाटक की फलानुवर्ती महत्त्वपूर्ण घटनाओं से है।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥ ३६

३७. पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमवहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात्। तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः।

अङ्क में एक दिन में किये हुए कामों की चर्चा होनी चाहिए। उसमें एक ही अर्थ (प्रधान घटना) होनी चाहिए। नायक कोटि का पात्र रंग पर होना ही चाहिए अर्थात् अंक भाग में कभी ऐसी स्थिति नहीं आने देनी चाहिए कि छोटे-मोटे ही पात्र रह जायें। अंक में तीन या चार पात्र साथ होने चाहिए। अङ्क के अन्त में सभी पात्रों को निष्क्रान्त हो जाना चाहिए।

एक दिन में हुए एक प्रयोजन से सम्बद्ध, नायक-युक्त, अनधिक पात्र के प्रवेश वाला अङ्क होना चाहिए। उन सभी पात्रों को अङ्क के अन्त में अवश्य निष्क्रान्त होना चाहिए।

नान्दी टीका

अङ्क में नायक को रंगपीठ पर वर्त्तमान होना चाहिए। यहाँ नायक मध्यम सामान्य वचनात्मक है, जैसा रूपकों में देखा भी जाता है। भरत के अनुसार नायक, देवी, गुरुजन, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह सम्बन्धी कामों की चर्चा अङ्क में होती है। ना० शा० १८.१८

'तेषामन्तेऽस्य निर्गमः' का साधारण अर्थ है कि पात्रों का निर्गम अङ्कान्त में होता है। इस अर्थ से सन्देह होता है कि अङ्क के बीच में पात्र रंगपीठ से वाहर जायेंगे कि नहीं? इस सम्बन्ध में नियम है कि प्रधान नायक अतीव असाधारण स्थिति में ही अंकान्त के पूर्व रंगपीठ से वाहर जायेगा, किन्तु अन्य पात्र रंग से आते-जाते रहेंगे।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥ ३७

३८. एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ।

पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥ ३८

इत्युक्तं नाटकलक्षणम् ।

अङ्क के भीतर पताकास्थानक होने चाहिए। अङ्क के अन्त में बिन्दु होना चाहिए, जिसमें अगले अंक की कथा का बीज हो। इस प्रकार अंक बनने चाहिए। उनके पहिले प्रवेशक या विष्कम्भकादि होने चाहिए। छोटे नाटक में पाँच अङ्क और (महा-) नाटक में दस अङ्क होने चाहिए। ३८

प्रकरणम्

३९. अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।

अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥ ३९

४०. धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।

शेषं नाटकवत्संधिप्रवेशकरसादिकम् ॥ ४०

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम्—अनुदात्तम् अमात्याद्यन्यतमं धीरप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् प्रकरणे। मन्त्री अमात्य एव। सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत्।

३९. प्रकरण में कथावस्तु कविकल्पित होती है और साधारण जनजीवन से संबद्ध होती है। इसमें अमात्य, विप्र और वणिक् में से कोई एक प्रधान नायक बनाया जाता है, जो धीरप्रशान्त कोटि का होता है, कठिनाइयों से भरापूरा उसका व्यक्तित्व होता है। वह त्रिवर्ग की प्राप्ति में व्यापृत होता है। सन्धि प्रवेशक और रस आदि का विन्यास प्रकरण में नाटक के समान होता है।

प्रकरण का इतिवृत्त कवि अपनी बुद्धि से स्वयं गढ़ लेता है। वह लोकसंश्रय अर्थात् अनुदात्त होता है। अमात्यादि में से कोई एक धीरप्रशान्त नायक होता है जो विपत्तियों से बाधित होकर भी अपने उद्देश्य में होता है। मन्त्री और अमात्य एक ही हैं। विशिष्ट वणिक् सार्थवाह कहा जाता है।

नान्दी टीका

प्रकरण में वृत्त उत्पाद्य हो—यह धनंजय का मत अर्धसत्य ही है। प्रकरण के वृत्त की वास्तविकता समझने के लिए केवल यही कहना पर्याप्त होता कि यह प्रख्यात नहीं होता है। प्रख्यात एक पारिभाषिक शब्द है और उसकी परिधि से बाहर तीन प्रकार की कथावस्तु भरत के अनुसार आती है (१) उत्पाद्य (२) आहार्य और (३)

अनार्ष । उत्पाद्य या औत्पत्तिक पूर्णतया कवि कल्पित होती है । आहार्य वस्तु पहले के कवियों की काव्यात्मक रचनाओं से ले ली जाती है ।[१] कभी कवियों और ऋषियों के बीच जो कथाकार हुए उनकी रचनाओं को अनार्ष नाम दिया गया । जैसे गुणाढ्य की बृहत्कथा है । उससे कोई कथा लेकर यदि रूपकोचित बनाया गया तो उसकी कथावस्तु अनार्ष कही जाती थी ।[२] आहार्य और अनार्ष कोटि की कथावस्तु में नाटककार कवि के द्वारा कल्पित अंश विशेष रखता था और यही नाटककार की प्रतिभा की अभिनव उपज उस कृति की चारुता का संवर्धन करती थी ।

कतिपय ऐसे प्रकरण भी सुप्रतिष्ठित हैं, जिनकी कथावस्तु उपर्युक्त किसी कोटि में नहीं आती । अश्वघोष का सारिपुत्र प्रकरण और विशाखदत्त का देवीचन्द्रगुप्त ऐतिहासिक कथानक वाले प्रकरण हैं ।

लोकसंश्रय से तात्पर्य है अराजकीय वातावरण से सम्बन्धित । नाटक में राजसम्भोग होता था तो प्रकरण में जनजीवन ।

प्रकरण का नायक अमात्य, विप्र, वणिक् आदि भले होते हैं, किन्तु सारिपुत्र और चन्द्रगुप्त उपर्युक्त कोटि से बाहर के हैं । चन्द्रगुप्त तो राजा ही है ।[३]

धनञ्जय ने प्रकरण के विषय में कतिपय आवश्यक लक्षण, जो भरत के द्वारा निर्दिष्ट भी हैं, छोड़ दिये हैं । यथा राजकीय स्तर पर कथाविस्तार होने से राजकीय सहायक प्रकृति नाटक में होती है, किन्तु लोकसंश्रित कथा होने से उसके स्थान पर साधारण नागरक समाज के लोग आते हैं । यथा,

नाटक के कथा पुरुष	उसके स्थान पर प्रकरण के पुरुष
कञ्चुकी	दास
विदूषक	विट
अमात्य	श्रेष्ठी

इस भारतीय नियम का अपवाद मृच्छकटिक नाटक में मिलता है । इसमें विट और विदूषक दोनों हैं । देवीचन्द्रगुप्त नामक प्रकरण में भी विदूषक है ।

यद्यपि धनंजय के अनुसार प्रकरण में केवल कुलजा नायिका हो सकती है, गणिका का होना आवश्यक नहीं है, जैसा पुष्पदूषितक में है, तथापि गणिका-प्रधान प्रकरण की बात कुछ और ही मानी जाती थी । तभी तो भरत ने लिखा है—

वेशस्त्र्युपचारकारणोपेतम् । १८.४९

---

१. आहार्य का उदाहरण अभिनवगुप्त के अनुसार समुद्रदत्त चेष्टित नामक प्रकरण में है ।
२. अभिनव गुप्त के अनुसार अनार्ष का उदाहरण मूलचरित नामक प्रकरण में है ।
३. भरत ना० शा० १८.४८ के अनुसार उदात्त नायक नहीं होना चाहिए, किन्तु देवीचन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त उदात्त नायक है । उदात्त का एकमात्र अर्थ है उच्चवर्गीय ।

प्रकरण की गणिका को संस्कृत बोलना चाहिए—भरत के इस नियम को मृच्छकटिक में मान्यता नहीं मिली है।

'४१. नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।। ४१
४२. कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।। ४२

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका। यदुक्तम्—

'आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ।। कामशास्त्रे १.३.१७

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका। यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, ते द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति। कितवद्यूतकारादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति।

४१. नायिका साधारणतः दो प्रकार की होती है—कुलस्त्री और गणिका। अपवाद रूप से किसी प्रकरण में कुलस्त्री या गणिका अकेली नायिका होती है और किसी प्रकरण में कुलस्त्री और वेश्या दोनों ही नायिका होती हैं। कुलस्त्री उसे कहते हैं जो अपने घर की परिधि के भीतर ही रहती है। वेश्या नायिका का प्रणयात्मक क्षेत्र नायक के घर की परिधि के बाहर होता है। इन दोनों की मुठभेड़ नहीं होती है। नायिका की उपर्युक्त तीन स्थितियों के अनुसार तीन प्रकार के प्रकरण होते हैं। जिस प्रकरण में धूर्त पात्रों का चरित होता है, उसे संकीर्ण प्रकरण कहते हैं।

वेश का तात्पर्य है भृति (जीविका का साधन)। वेश ही जिसका जीवन है, वह वेश्या है। विशिष्ट वेश्या गणिका होती है। गणिका का लक्षण बताया गया है—

इन (कलाओं) के द्वारा उत्कर्ष-प्राप्त वेश्या रूप, शील और गुण-युक्त होने पर गणिका उपाधि प्राप्त करती है और उसे लोकसभा में प्रतिष्ठा मिलती है।

इस प्रकार कुलजा, वेश्या और दोनों ही तीन प्रकार की नायिकायें प्रकरण में होती हैं। उदाहरण है तरङ्गदत्त में केवल वेश्या नायिका है, पुष्पदूषितक में केवल कुलस्त्री नायिका है और मृच्छकटिक में कुलस्त्री और गणिका दोनों ही नायिकायें हैं। मिथ्यावादी, जुआरी आदि धूर्तों से निर्भर मृच्छकटिक प्रकरण संकीर्ण कोटि का है।

नाटिका

४३. लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।

अत्र केचित्—

'अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये ।।'

इत्यमुं भरतीयं श्लोकम् 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते तदसत्। उद्देशलक्षणयोरननिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्। वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकाया अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः—शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते।

४३. बहुविध रूपकों के परस्पर संकर से अनेक रूपक संकीर्ण कोटि के बनेंगे। उन सबमें विशेष महत्त्वपूर्ण नाटिका है, क्योंकि यह अधिकतम महत्त्वपूर्ण दो रूपक—नाटक और प्रकरण के संकर से बनती है। अन्य संकर कोटिक रूपकों से सविशेष होने के कारण नाटिका को उनसे अलग कर देने के लिए नाटिका का लक्षण बताते हैं।

यहाँ यह शंका अनेक आचार्य करते हैं कि भरत ने कहा है कि इन दो (नाटक और प्रकरण) के बन्धयोग से (मिले-जुले काव्य रूप) से एक नया भेद नाटिका का तैयार होता है, जो प्रख्यात है। इनके मिश्रण से दूसरा अप्रख्यात भेद प्रकरणिका होता है। इन दोनों (नाटिका और प्रकरणिका) को नाटी कहते हैं।

उत्तर—इस प्रकार प्रकरणिका को मानना ठीक नहीं है क्योंकि भरत ने न तो प्रकरणिका उद्देश (नाम) कहीं दिया है और न उनका लक्षण ही बताया है। यदि कहा जाय कि प्रकरणिका का लक्षण नाटिका के समान ही है तो इन दोनों में भेद ही कहाँ रहा? जिस प्रकरणी की असत्कल्पना शंका करने वाले करते हैं, उसकी कथावस्तु, नेता और रस प्रकरण से भिन्न नहीं होते, जिसका नाम तक भरत ने नहीं लिया है। नाट्यशास्त्र में नाटिका का ही लक्षण किया गया है। इससे यह अभिप्राय प्रमाणित होता है कि शुद्ध नाटक और प्रकरण के संकर से केवल नाटिका ही बन पाती है, अन्य कोई प्रकरणिकादि नहीं।

नान्दी टीका

यदि नायक धीरप्रशान्त प्रकरणोचित हो और कथावस्तु नाटकोचित प्रख्यात हो तो इस प्रकार के प्रकरण और नाटक के संकर को प्रकरणिका क्यों नहीं माना जा सकता है उस पर धनिक मौन हैं।

संकार्णान्यनिवृत्तये का तात्पर्य है कि नाटक और प्रकरण के मिश्रण से केवल नाटिका नामक उपरूपक बनता है, अन्य कोई उपरूपक नहीं बन सकता। इस प्रकार प्रकरणिका नामक उपरूपक कोटि को असत् बताया गया है।[1]

१. पाठान्तर वाली धनिक-प्रदत्त कारिका का संक्षेप में अर्थ है—नाटक और प्रकरण के मिश्रण से नाटी बनती है, जिसके दो भेद हैं—नाटिका और प्रकरणिका।

धनिक ने 'अनयोश्च वन्धयोगादेकः' इत्यादि भरत के नाट्यशास्त्र से उद्धरण लेकर एक समस्या प्रकरणिका की उपस्थित की है। उनका ही समाधान है कि प्रकरणिका नामक कोई उपरूपक सम्भव नहीं है और न भरत की दृष्टि में ऐसा कोई उपरूपक था ही।

वास्तव में धनिक द्वारा इस प्रसंग में उद्धृत भरत की मूल कारिका है—

अनयोश्च बन्धयोगादन्यो भेदः प्रयोक्तृभिः कार्यः।

प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटकयोगे प्रकरणे वा॥ १८.५७

धनिक को इसका विरल पाठान्तर मिला, जिसे लेकर उन्होंने प्रकरणिका की चर्चा उपस्थित की है।

भरत ने नाटिका के कुछ विशेष लक्षण बताये हैं, जो महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु धनञ्जय ने उन्हें दशरूपक में स्थान नहीं दिया है। यथा,

बहुनृत्तगीतपाठ्या रतिसम्भोगात्मिका चैव।
राजोपचारयुक्ता प्रसादन-क्रोध-दम्भ-संयुक्ता॥
नायक देवी-दूती-सपरिजना नाटिका ज्ञेया॥ १८.५९-६०

अर्थात् नाटिका में नृत्त, गीत और पाठ्य का बाहुल्य होना चाहिए। सम्भोग (राज्य-प्राप्ति) का भी वृत्त होना चाहिए। नायक राजा का देवी आदि नायिकाओं के प्रति उपचार (सविनय व्यवहार) मिलता है। राजा देवी को प्रसन्न करता दिखाया जाता है। वह क्रोध करती है। राजा नायक उसे वंचना द्वारा भरमाता है। ये हैं नाटिका की कथा के कतिपय महत्त्वपूर्ण अङ्ग, जिनसे उसकी सरसता निष्पन्न होती है।

तमेव सङ्करं दर्शयति—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥४३

४४. प्रख्यातो धीरललितः शृंगारोऽङ्गी सलक्षणः।

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति। एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्र-भेदाद् यदि भेदः

तत्र—

नाटक और प्रकरण के संकर को समझाते हैं—

नाटिका में वस्तु प्रकरण से होती है, नृप नायक नाटक से ग्रहण किया गया है। नायक प्रख्यात और धीरललित होता है। नाटिका में अंगीरस शृङ्गार होता है।

कल्पित कथावस्तु होना यह प्रकरण का धर्म है और नायक का प्रख्यात राजा होना यह नाटक का धर्म है। नाटक प्रकरण और नाटिका में वस्तु आदि के जो प्रकार समाविष्ट हो चुके; उससे बाहर प्रकरणिका के लिए कुछ नहीं रहा। यदि अङ्क और पात्र की संख्या के आधार पर इसका भेद करना है तो—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥४४

४५. एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

तत्र नाटिकेति स्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम् । कैशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च तदङ्गसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

यदि प्रकरणिका और नाटिका का भेद ऐसे आधारों पर करना है कि नाटिका में पात्र प्रायः स्त्रियाँ होती हैं और चार अंक होते हैं तो यह आनन्त्य दोष के कारण विचारणीय प्रस्ताव नहीं है, क्योंकि तब तो एक, दो, तीन, चार आदि अंकों तथा पात्रों के भेद से अनन्त भेद हो जायेंगे ।

नाटिका नाम स्त्रीलिंग है । उचित ही है कि उसमें स्त्रियों की प्रधानता होती है । कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेने के कारण तथा उस कैशिकी के चार अङ्ग होने से तथा अवमर्श की लघुता होने से नाटिका में केवल चार अङ्क होना समीचीन है ।

विशेषस्तु—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥४५

४६. गम्भीरा मानिनी, कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः ।

प्राप्या तु—

नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥४६

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः ।

नाटिका में अन्य कतिपय विशेषतायें हैं—

नायक की पहले से चली आई हुई नायिका देवी या महादेवी नृपवंशजा रहती है और (समय की गति से) ज्येष्ठा और प्रगल्भा कोटि प्राप्त कर चुकी होती है । वह गम्भीरा और मानिनी होती है । (नई) नायिका से नायक का संगम उसके अधीन होने से कठिनाई से होता है ।

प्राप्या = नई नायिका के लक्षण हैं—

वह ज्येष्ठा नायिका की भाँति (राजकुलोत्पन्न) होती है । वह मुग्धा, दिव्या और अत्यन्त रमणीय होती है ।४६

तादृशी से अभिप्राय है नृपवंश में उत्पन्न, जैसी ज्येष्ठा होती है । ज्येष्ठा का यह विशेषण नई नायिका के लिये विस्तृत है ।

४७. अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।

अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥४७

४८. नेता यत्र प्रवर्त्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यास-

न्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः ।

४७. नई नायिका का अन्तःपुर आदि से सम्बन्ध होने के कारण वह नायक के लिए निकट हो जाती है, ताकि वह उसे देख सकता है और उसकी चर्चा सुन सकता है। उसके प्रति नायक का अनुराग उत्तरोत्तर नित्य नये रङ्ग लाता है।४७

महादेवी के भय से शंकित नायक इस नई नायिका के प्रति प्रवृत्त होता है।

उस मुग्धा नायिका के अन्तःपुर में होने वाले संगीतक (नाच, गाना, नाटक का प्रयोगादि) के सम्बन्ध से निकट होने पर ज्येष्ठा नायिका देवी के द्वारा बाधा उपस्थित होते रहने पर भी नायक और नायिका में उत्तरोत्तर नयी-नयी अनुराग की प्रवृत्तियों का वर्णन नाटककार करे।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ॥४८

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

नाटिका में कैशिकी के चार अङ्ग होते हैं। अङ्कों के क्रमानुसार प्रत्येक अङ्क में कैशिकी का एक-एक अङ्ग वर्णित होगा।

इस प्रकार कैशिकी के चारों अङ्गों का विन्यास होगा। कैशिकी का लक्षण पहले बता चुके हैं।

भाणः

४९. भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥४९
५०. सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरश्रृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवः ॥ ५०
५१. भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्के वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१

धूर्तश्चौरद्यूतकारादयस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः । एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाच्च वीरश्रृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ ।

४९. भाण धूर्तचरित की वर्णना है चाहे वह स्वयं नायक के द्वारा अनुभूत हो या अन्य किसी के द्वारा। निपुण, विद्वान् विट नायक रूप में धूर्तचरित का रहस्योद्घाटन करता है। ४९-५०—विट के भाषण में सम्बोधन, उक्ति और प्रत्युक्ति

को आकाशभाषित विधि से प्रस्तुत करते हैं। शौर्य और नायक के सौभाग्य के परिचय से वीर और शृंगार रसों की सूचना दी जाती है। भारतीवृत्ति की अतिशयता होती है। एक ही अंक में सारी कथा आ जाती है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं और दस लास्यांग समाविष्ट होते हैं।५१

धूर्त से चोर, जुआरी आदि भी समझें। उनके चरित का वर्णन रंगपीठ पर अकेला ही विट करता है। अथवा वह अपना या दूसरे का किया हुआ चरित वर्णन करता है। इसको भाण (वाचिक व्यापार) इसलिए कहते हैं कि इसमें भारती वृत्ति (वाचिक व्यापार) प्रधान होती है। एक ही पात्र विट की उक्ति-प्रत्युक्तियाँ होती हैं। उसकी उक्ति की प्रत्युक्ति आकाशभाषित के द्वारा उत्तर रूप में आशङ्कित होती है, जिसे वह पुनः सुना कर अपनी बात कहता है। इसमें वीर और शृङ्गार दो रस होते हैं किन्तु वे अस्पष्ट होते हैं। किसी के सौभाग्य और शौर्य की वर्णना से इन दो रसों की सूचना दी जाती है।

नान्दी टीका

भाण में वीर और शृंगार की सूचना होती है—धनञ्जय का यह मत भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर नहीं है। वीर और शृंगार के लिए भरतादि आचार्यों ने उदात्त प्रकृति के नायकों का आश्रय होना आवश्यक बताया है और भाण में इनका सर्वथा अभाव होता है। धनञ्जय का मत चिन्त्य है।

भाण में शौर्य और सौभाग्य का संस्तव (प्रशंसा, परिचय) होता है—धनञ्जय का यह मत भी अभारतीय है और इसका कोई अवसर भाण में स्वभावतः नहीं रहता।

वर्त्तमान भाणों में वीर और शृंगार रसों की तथा शौर्य और सौभाग्य की चर्चा का लेश भी दृश्यमान नहीं है।[1]

लास्य

लास्याङ्गानि—

> ५२. गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
> प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम्॥५२
> ५३. उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च।
> लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम्॥५३

शेषं स्पष्टमिति।

दस लास्याङ्गों के नाम हैं—गेय पद, स्थित पाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धव, द्विगूढक, उत्तमोत्तमक, उक्तप्रत्युक्त।

१. भाण की अन्य विशेषताओं के लिए देखिये दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृष्ठ १४३-१४४

नान्दी टीका

लास्य एक प्रकार का नृत्य है।[१] जैसे वीथी नामक रूपक के अङ्ग होते हैं, वैसे ही लास्य के अङ्ग होते हैं। वीथ्यङ्ग और लास्याङ्ग दोनों ही अन्य रूपकों और उपरूपकों मे नाट्याङ्ग नहीं होते, पर रंजकता का निष्पादन करने के लिए नाट्योपयोगी बनकर समाविष्ट होते हैं। भाण में इनकी विशेष रोचकता बताई गई है, किन्तु वर्त्तमान रूपकों, उपरूपकों और भाणों में भी लास्याङ्गों का प्रयोग विरल ही दिखाई देता है। धनञ्जय और धनिक ने लास्याङ्गों का नाममात्र देना ही पर्याप्त समझा है। भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार उनका लक्षण नीचे प्रस्तुत है।

गेयपद

रंगपीठ पर आसन पर बैठकर कई गायक बाजे गाजे के साथ गेयपद गाते हैं। उसका अभिनय नहीं प्रस्तुत करना होता है।[२]

स्थित पाठ्य

स्थितपाठ्य वह प्राकृत गान है जिसे कोई विरहिणी गाती है। यह गायन सन्दर्भ के रस का अनुयोगी होता है।[३]

आसीन

आसीन नामक शोकान्वित गान में किसी प्रकार का वाद्य प्रयुक्त नहीं होता। गायिका के अंग-प्रत्यङ्ग सिकुड़े रहते हैं।[४] यह सुकुमार काकली-प्राय प्रमदागीत है।

पुष्पगण्डिका

पुष्पगण्डिका में गान और गीत के साथ नृत्त का भी बाहुल्य होता है। इसमें स्त्री अपनी चेष्टा द्वारा पुरुष का आश्रय लेती है। जैसे विविध पुष्पों को गूँथ कर माला बनाई जाती है, उसी प्रकार इसमें गान, गीत और नृत्त की माला बन जाती है।[५]

---

१. भाणवच्चैकहार्यं स्याद्रूह्यवस्तु तथा भवेत्। ना० शा० ३१.३३२
अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है—भाणे नाट्यरूपता समस्ति न तु लास्ये कथंचिदपि तस्य नाट्यरूपवैलक्षण्यात्। १९.११७ पर भारती।

२. आसनेषूपविष्टैर्यत्तन्त्रीभाण्डोपबृंहितम्।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद् गेयपदमुच्यते॥ १९.१२१

३. प्राकृतं यद्वियुक्ता तु पठेद्रात्तरसं स्थिता।
मदनानलतप्ताङ्गी स्थितपाठ्यं तदुच्यते॥ १९.१२३

४. आसनमास्यते यत्र सर्वा तोद्यविवर्जितम्।
अप्रसारितगात्रं च चिन्ताशोकसमन्वितम्॥ १९.१२५

५. नृत्तानि विविधानि स्युर्गेयं गानं च संश्रितम्।
चेष्टाभिश्चाश्रयः पुंसां यत्र सा पुष्पगण्डिका॥ १९.१२६

प्रच्छेदक

नायक किसी अन्य नायिका में आसक्त है, फिर भी नायिका उसकी छाया देखकर उसके प्रति आसक्त होकर प्रसन्नतापूर्वक उसके सम्पर्क में है।[1]

त्रिमूढक

त्रिमूढक में कोई मुग्ध नायिका पुरुष की भूमिका में नाट्य करती है। इसमें तीन—कोमल कान्त-पदावली, रंजकछन्द और अलंकारों से समन्वित वाणी-विलास का अभिनय रहता है।[2]

सैन्धवक

सैन्धवक में नायिका का सिन्धुदेशीय-प्राकृत में गान रहता है। नायिका का सहेठ में नायक से मिलन नहीं होता तब वह वीणादि के साथ गीत गाती है।[3]

द्विमूढक

द्विमूढक में चारों ओर घूम कर नृत्य होता है। इसमें कोमल भाव और रस निर्भर होते हैं।[4]

उत्तमोत्तमक

सभी लास्याङ्गों में यह उत्तम है। इसमें अनेक रसों को निष्पन्न करने वाले तत्त्व होते हैं। अच्छे-अच्छे विचित्र श्लोकों का पाठ और हेला-हाव का अभिनय होता है।[5]

उक्तप्रत्युक्त

उक्तप्रत्युक्त में चित्रगीतार्थ की योजना होती है। गीत का विषय होता है कोप-प्रसाद और आक्षेप।[6]

अभिनव गुप्त के अनुसार सन्ध्यङ्गों के बीच लास्याङ्ग सन्निविष्ट होते हैं।[7]

---

१. प्रच्छेदकः स विज्ञेयो यत्र चन्द्रातपाहताः।
स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु ॥ १८.१२८

२. अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं समवृत्तैरलङ्कृतम्।
नाट्यं पुरुष-भावाढ्यं त्रिमूढकमिति स्मृतम् ॥ १८.१३०

३. पात्रं संकेतविभ्रष्टं सुव्यक्तकरणान्वितम्।
प्राकृतैर्वचनैर्युक्तं विदुः सैन्धवकं बुधाः ॥ १८.१३१

४. मुखप्रतिमुखोपेतं चतुरश्रपदक्रमम्।
श्लिष्टभावरसोपेतं वैचित्र्यार्थं द्विमूढके ॥ १८.१३३

५. उत्तमोत्तमकं विद्यादनेकरससंश्रयम्।
विचित्रैः श्लोकबन्धैश्च हेलाहावविचित्रितम् ॥ १८.१३४

६. कोपप्रसादजनितं साधिक्षेपपदाश्रयम्।
उक्तप्रत्युक्तमेवं स्याच्चित्रगीतार्थयोजितम् ॥ १८.१३५

७. ना० शा० १८.६६ पर भारती।

सन्ध्यंग नाट्यांग हैं और लास्यांग नाट्योपयोगी हैं। नाट्यांग से तात्पर्य है फलानुवर्ती कथा का भाग और नाट्योपयोगी से तात्पर्य है रंजन की सामग्रीमात्र या शोभाधायक तत्त्व।

प्रहसनम्

५४. तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः।

तद्वदिति—भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः।

५४. भाण से मिलते-जुलते प्रहसन होते हैं। प्रहसन तीन प्रकार के हैं—शुद्ध, विकृत और सङ्कर।

तद्वत् से तात्पर्य है भाण के समान ही वस्तु, सन्धि, सन्ध्यंग और लास्याङ्ग आदि प्रहसन में भी प्रयुक्त होते हैं।

तत्र शुद्धं तावत्—

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥५४

५५. चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम्।

पाखण्डिनः शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः, विप्राश्चात्यन्तमृजवः, जातिमात्रोपजीविनो वा प्रहसनाङ्गिहास्यविभावाः, तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम्।

शुद्ध प्रहसन का लक्षण

पाखण्डी, विप्रादि, चेट-चेटी और विट से भरा पूरा, वेष-भाषा के साथ पात्रों की चेष्टा शुद्ध होती है और हास्य-भरी वाणी से युक्त होती है।

पाखण्डी—जैन और बौद्ध श्रमणादि तथा विप्र अत्यन्त सरल या केवल जातिनाम-धारी (गुणविहीन) ये प्रहसन के अंगी रस हास्य के आलम्बन विभाव होते हैं। ये सभी अपने यथोचित व्यापार में लगे होते हैं जिसकी चर्चा प्रहसन में होती है। चेट-चेटी के काम भी हास्य उत्पन्न करते हैं।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने प्रहसन के तीन भेद माने हैं, जहाँ भरत के नाट्यशास्त्र में केवल दो भेद मिलते हैं। भरत के शुद्ध और संकीर्ण कोटिक प्रहसन धनञ्जय ने भी माने हैं, किन्तु उनकी परिभाषायें भरत के नाट्यशास्त्र से सर्वथा भिन्न हैं। स्पष्टता के लिए परिभाषायें नीचे दी जाती हैं।

	भरत का लक्षण	धनञ्जय का लक्षण
शुद्ध	कुत्सित कोटि के भगवत्, तापस, विप्र के परिहासात्मक भाषण मात्र। इनमें से कोई एक ही नायक होता है, जिसका चरित हास्यास्पद होता है।	पाखण्डी, विप्रादि, चेट, चेटी और विट के कार्य होते हैं

संकीर्ण	भगवत्तापसादि पूर्वोक्त शुद्ध प्रहसन के साथ वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त और बन्धकी आदि पात्र भी सम्पृक्त होते हैं। अर्थात् अनेक उपहसनीय पात्र होने से संकीर्ण होता है।	विकृत कोटि का प्रहसन संकीर्ण कहा जाता है, यदि उसमें वीथ्यंगों का संकर (मिश्रण) होता है।
विकृत	भरत ने विकृत प्रहसन कोटि नहीं निर्धारित की है।	षण्ढ, कंचुकी और तापस जहाँ कामुकादि की वाणी और वेष धारण करें, वहाँ विकृत कोटि का प्रहसन होता है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण से प्रतीत होता है कि—

(१) भरत का शुद्ध धनञ्जय के विकृत के समकक्ष पड़ता है।

(२) धनञ्जय का शुद्ध प्रकरण भरत के संकीर्ण के आसपास पड़ता है।

(३) धनञ्जय की संकीर्ण प्रहसन की परिभाषा चिन्त्य है, क्योंकि जिन वीथ्यंगों के योग से वे संकीर्णता मानते हैं, वे तो सभी प्रकार के रूपकों में सन्ध्यंगों के बीच में अवश्य ही हुआ करते हैं और सभी प्रकार के प्रहसनों में वीथ्यंगों की विपुलता सविशेष है। भरत ने स्पष्ट कहा है—

वीथ्यङ्गैः संयुक्तं कर्तव्यं प्रहसनं यथायोगम्। ना० शा० १८.१०७

विकृतं तु—

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः ॥५५

५६. विकृतं, सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम्।

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्याः तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम्, स्वस्वरूपच्युतविभावत्वात्। वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम्।

विकृत प्रहसन का लक्षण है।

कामुकादि पात्रों की वाणी और वेष धारण करने वाले नपुंसक, कंचुकी और तपस्वियों से जहाँ हास्य उत्पन्न हो, वह विकृत प्रहसन है। संकीर्ण प्रहसन तब होता है, जब विकृत में वीथी का योग हो।

कामुकादि=विट (भुजंग), चार, भट आदि हैं। इसको विकृत कहने का कारण है कि इसमें विभाव (तापसादि) अपने स्वरूप के अनुरूप काम नहीं करते, अपितु प्रभ्रष्ट होते हैं। वीथी के अङ्गों से मिले-जुले होने के कारण इसे संकीर्ण कहते हैं।

रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥५६

इति स्पष्टम्।

इनमें छः प्रकार का हास्य-रस सातिशय निष्पन्न होना चाहिए।५६

नान्दी टीका

धनञ्जय ने यहाँ छः प्रकार का हास्य मात्र बता कर उन्हें छोड़ दिया है। आगे दश० ४.७६, ७७ में उनके नाम और उनकी संक्षिप्त परिभाषा दी है। छः प्रकार का हास्य है—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित। यही नाम भरत ने भी ना० शा० ६.५२ में गिनाये हैं।[1]

डिमः

५७. डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद् वृत्तयः कैशिकीं विना।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥ ५७

५८. भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥ ५८

५९. मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ ५९

६०. चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ॥ ६०

'डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाड्डिमः। तत्रेतिहासप्रसिद्धमितिवृत्तम्। वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्रः, रसाश्च वीररौद्रवीभत्सादभुतकरुणभयानकाः षट्। स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानः। विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वार; सन्धयः साङ्गाः। मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः (यः)। शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत्। एतच्च—
'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्। ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥'
इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम्।

५७. डिम की कथावस्तु प्रख्यात होती है। इसमें कैशिकी को छोड़ कर अन्य तीन वृत्तियाँ होती हैं। इसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि कोटियों से १६ अत्यन्त उद्धत नायक (कथापुरुष) होते हैं। इसमें हास्य और शृंगार को छोड़ कर शेष छः दीप्त रस (खलबली पैदा करने वाले) होते हैं। माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, घबराहट आदि विषयक चेष्टायें (संविधान) होते हैं। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के दृश्य होते हैं। अङ्गी रस न्यायोचित रौद्र होता है। इसमें चार अङ्क और विमर्श को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ होती हैं।

---

१. इनके नाम एक हिन्दी टीकाकार के अनुसार कुछ-कुछ भिन्न मिलते हैं जो ठीक नहीं लगता। उन्होंने स्मित को नहीं रखा है और अवहसित नामक एक नया भेद बताया है, जो अन्यत्र नहीं मिलता।

डिम का अर्थ है संघात (समूह)। इसमें नायकों का सामूहिक व्यापार होने से डिम होता है। इसमें इतिहास-प्रसिद्ध इतिवृत्त होता है। कैशिकी को छोड़कर तीन वृत्तियाँ होती हैं। इसमें छः रस—वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक होते हैं। स्थायी (अङ्गी) रस रौद्र न्यायप्रधान होता है। विमर्श-सन्धियाँ नहीं होतीं। शेष मुख, प्रतिमुख, गर्भ और निर्वहण चार सन्धियाँ अङ्गों सहित होती हैं। माया, इन्द्रजाल आदि अनुभाव होते हैं। शेष प्रस्तावनादि नाटक के समान होता है। इसके विषय में और भी—

त्रिपुरदाह को ब्रह्मा ने डिम का उदाहरण बताया है। त्रिपुरदाह को इसी लिए डिम कहते हैं। अतएव भरतमुनि ने स्वयं डिम के लिए त्रिपुरदाह की समानता बताई है।

नान्दी टीका

डिम में उद्धत नायक होता है—यह धनञ्जय की मान्यता है। इसके आश्रय होने पर रौद्र रस का अंगी होना ठीक ही है। भरत डिम में उदात्त नायक मानते हैं। उनका उदात्त धीरोदात्त से भिन्न है। उदात्त नायक और सात्त्वता वृत्ति होने पर डिम में वीर का अंगी होना समीचीन ही है। अभिनवगुप्त ने वीर और रौद्र दोनों रसों को डिम में अंगी माना है।

डिम का अर्थ धनिक ने संघात (मारपीट) बताया है। अभिनवगुप्त के अनुसार डिम विद्रव (भगदड़) है।

व्यायोग

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥६०

६१. हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः।

अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१

६२. एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवः पुरुषाः इति व्यायोगः। तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्यशृङ्गार-रहिताः। वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतर-वृत्तित्वं रसवदेव लभ्यते। अस्त्रीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुरामेण पितृवध-कोपात्सहस्रार्जुनवधः कृतः। शेषं स्पष्टम्।

व्यायोग की कथावस्तु प्रख्यात होती है जिसका आश्रय प्रख्यात और उद्धत पुरुष (स्त्री नहीं) होते हैं। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। रसयोजना डिम के समान होती है, अर्थात् दीप्त रस होते हैं। इसमें युद्ध ऐसा होता है, जिसका कारण स्त्री नहीं होता। ऐसा युद्ध का उदाहरण जामदग्न्य-जय में है। इसकी घटना

एक दिन की होती है। इसमें एक अङ्क होता है, जिसमें बहुत से पुरुष पात्र (स्त्री नहीं) होते हैं।

जिसमें बहुत से पुरुष पात्र (वैमनस्य के कारण वा भाग्यवशात्) पृथक् होते हैं, वह व्यायोग है।[1] इसमें डिम के समान रस छः—हास्य, शृंगार रहित होते हैं। रस और वृत्तियों का अविनाभाव है। वृत्ति कौन-कौन हों—यह नहीं बताया गया है। उनको रसों की अनुकूलता से जानें कि कैशिकीरहित सभी वृत्तियाँ होती हैं। स्त्री को छोड़कर किसी अन्य कारण से युद्ध होता है। जैसे परशुराम ने सहस्रार्जुन का वध किया था, क्योंकि उसने परशुराम के पिता को मार डाला था।

नान्दी टीका

व्यायोग में कुछ लक्षण डिम के और कुछ समवकार के भी मिलते हैं। एकांकी होना और एक दिन का चरित होना इसकी विशेषता है।

समवकारः

कार्ये समवकारे आमुखं नाटकादिवत् ॥६२

६३. ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धयः।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥६३

६४. द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक्।
बहुवीरा रसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥६४

६५. अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः ॥६५

६६. चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम्।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥६६

६७. नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिषु विद्रवाः।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥६७

६८. वीथ्याङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः। तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम्। विमर्शवर्जिताश्चत्वारः सन्धयः। देवासुरादयो

---

१. व्यायुज् का अर्थ है अलग किया जाना। डिम में नायकों का संघात होता है। व्यायोग में वे अलग होते हैं। मध्यमव्यायोग में भीम अपने पुत्र घटोत्कच और पत्नी हिडिम्बा से अलग हैं।

द्वादश नायकाः । तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति । यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभाः। वीरश्चाङ्गी। अङ्गभूताः सर्वे रसाः। त्रयोऽङ्काः। तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेतिवृत्तप्रमाणः । यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ । नालिका च घटिकाद्वयम्। प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटाः। तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्या दिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः कार्यः। धर्मार्थकामश्रृङ्गाराणामेकैकः श्रृङ्गारः प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः। वीथ्यङ्गानि च यथालाभं कार्याणि। बिन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ। इत्ययं समवकारः।

समवकार में भी नाटक के समान ही आमुख होना चाहिए । इसमें देवता और असुर विषयक प्रख्यात कथावस्तु होनी चाहिए। विमर्श को छोड़ कर चार सन्धियाँ होनी चाहिए। कैशिकी को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ होनी चाहिए। इसमें नायक देव और दानव संख्या में १२ होते हैं। वे सभी धीरोदात्त और विख्यात होते हैं। उन सभी को अलग-अलग फल मिलता है। इसमें वीररस की बहुलता होती है। सभी रस होते हैं, जैसे समुद्रमन्थन नामक समवकार में।

६५. समवकार के तीन अङ्कों में क्रमशः तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के श्रृङ्गार और तीन प्रकार के विद्रव होते हैं। प्रथम अङ्क में दो सन्धियाँ २४ घड़ी के कार्य वाली होती हैं। दूसरे और तीसरे अङ्क में क्रमशः आठ और चार घड़ी में पूरी हुई घटना होती है। नालिका दो घड़ी के बराबर होती है। कथावस्तु की सहज धारा में कपट हो सकता है, दैववशात् या शत्रु से उत्पादित कपट होता है।६६

६७. नगर का घेरा डालना, युद्ध, तूफान, अग्नि आदि के कारण विद्रव (भगदड़) होती है। श्रृंगार के तीन प्रकार धर्म, अर्थ और काम से समुत्पन्न होते हैं। समवकार में बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते।

६८. समवकार में प्रहसन की भाँति ही वीथ्यङ्गों का प्रयोग होना चाहिए।

जिसमें काव्य के अर्थ (प्रयोजन) सम्बद्ध और अवकीर्ण रखे जाते हैं, वह समवकार है।[1] इसमें नाटकादि के समान ही आमुख होता है। विमर्श को छोड़कर चार-चार सन्धियाँ होती हैं। देवासुरादि १२ नायक होते हैं। उनके फल पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसे समुद्रमन्थन में वासुदेवादि को लक्ष्मी आदि का अलग-अलग लाभ हुआ। वीर अङ्गी होता है। सभी रस अङ्ग हो सकते हैं। तीन अङ्क होते हैं। उनमें से प्रथम अङ्क १२ नालिकावधि में पूरे हुए कार्य वाला होता है। दूसरे और तीसरे अङ्क में क्रमशः चार और दो नालिका के कार्य होते हैं। नालिका = २ घड़ी। प्रत्येक अङ्क में क्रमशः कपट-घटना का विन्यास होता है।

नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि से उत्पन्न विद्रव (भगदड़) में से एक-एक विद्रव एक-एक अङ्क में होना चाहिए। धर्म, अर्थ और काम ये त्रिविध श्रृङ्गार

१. सम्बद्धोऽवकीर्णश्च यथार्थः समवकार इति नाम सार्थकम्।

हैं। इनमें से एक-एक शृंगार प्रत्येक अंक में होना चाहिए। जहाँ जैसा वीथ्यङ्ग मिले, उसे वहीं पिरो देना चाहिए। नाटक में जो बिन्दु और प्रवेशक कहे गये हैं, उनको समवकार में स्थान नहीं मिलता।

वीथी

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥६८

६८. रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।

युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः ॥६९

७०. एव वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता।

वीथीवद्वीथीमार्गः अङ्गानां पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या। विशेषस्तु रसः शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद् भूयसा सूच्यः, रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि। कैशिकी वृत्ती रसौचित्यादेवेति। शेषं स्पष्टम्।

वीथी कैशिकी वृत्ति में होती है। इसमें सन्धि, अङ्ग और अङ्क भाण के समान होते हैं। इसमें श्रृङ्गार रस सूच्य होता है, अर्थात् विभाव की असमर्थता से निखरता नहीं और पूर्णतया समुदित नहीं होता। अन्य रस भी यत्र-तत्र अंग बन कर आते हैं। इस प्रस्तावना के अंग उद्घात्यकादि समन्वित होते हैं। इस प्रकार वीथी स्वरूपित होती है। इसमें एक या दो पात्र होते हैं।

वीथी के समान वीथी मार्ग है या अङ्गों की पंक्ति है। शृङ्गाररस अपूर्ण होने से सूच्य रहता है। अन्य रस भी स्पृष्ट होते हैं। शृङ्गारानुरूप कैशिकी वृत्ति होती है।

नान्दी टीका

धनञ्जय के अनुसार शृंगार रस वीथी में सूच्य होता है और अन्य रसों का स्पर्श मात्र होता है। इसके विपरीत भरत की उक्ति है कि वीथी सर्वरसलक्षणाढ्या होती है।[1]

धनञ्जय ने वीथी को सन्धि, सन्ध्यङ्ग और अंक की दृष्टि से भाण के समान बताया है। इससे भाण के अधम कोटि के नायक की वीथी में सम्भावना होती है। वह ठीक नहीं है। भरत के अनुसार वीथी में उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के नायक मिलते हैं।[2]

वीथी की महिमा अभिनवगुप्त ने बताई है—

'नाटकादि-भाणान्तसमस्तरूपकोपजीव्यत्वात् वीथीं लक्षयति' इत्यादि।

१. ना० शा० १८.११२। अभिनवगुप्त ने भी वीथी के विषय में कहा है—'सर्वरसमयत्वात्' इत्यादि।

२. अधमोत्तममध्याभिर्युक्ता स्यात् प्रकृतिस्त्रिधा ॥ १८.११२

उत्सृष्टिकाङ्कः

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ।।७०
७१. रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ।।७१
७२. वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ;

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् । शेषं प्रतीतमिति ।

उत्सृष्टिकाङ्क में कथावस्तु प्रख्यात होती है और कल्पना के द्वारा उसका विस्तार किया जाता है । करुणरस अंगी होता है । उसमें कथापुरुष प्राकृत (असंस्कृत) रखे जाते हैं । सन्धि, वृत्ति और अङ्क भाण के समान रखे जाते हैं । स्त्रियों का रोना-धोना सविशेष होता है । वाग्युद्ध होता है और उसी में कोई हारता है तो कोई जीतता है ।

उत्सृष्टिकाङ्क का मौलिक नाम अङ्क है, किन्तु अङ्क कहने से नाटकादि के विभाजक अङ्क का भी वाध होता है । उससे भिन्न वताने के लिए उत्सृष्टिकाङ्क नाम समीचीन है ।

नान्दी टीका

शोक करने वाली स्त्रियों को उत्सृष्टिका कहते हैं । उनकी विशेपता के कारण इस प्रकार के रूपक को उत्सृष्टिकाङ्क कहते हैं । इसका अन्य नाम अङ्क है ।

भरत के अनुसार इसमें प्रख्यात वृत्त होना चाहिए । अपवाद रूप से अप्रख्यात वस्तु भी कथा होती है ।[1]

धनञ्जय का यह कहना कि उत्सृष्टिकांक के प्रख्यात वृत्त का 'बुद्धि से प्रपञ्च' करना चाहिए, व्यर्थ ही है । क्योंकि सभी कथाओं में नित्य नये कल्पित संविधानों को सभी प्रकार के रूपकों में कवि जोड़ता ही है । नेतारः पद का प्रयोग महासामान्यवचनात्मक है । अर्थात् सभी कथापुरुष नेतारः से संकेतित होते हैं ।

उत्सृष्टिकांक में युद्ध का समारम्भ होना ही नहीं चाहिए—ऐसी भरत की मान्यता है । इसकी कथा युद्धोत्तर होती है, जैसे महाभारत के स्त्रीपर्व की कथा है । ऐसी स्थिति में वाचा युद्ध और जय-पराजय की चर्चा अप्रासंगिक होने के कारण चिन्त्य है ।

---

१. अप्रख्यात कथा उत्पाद्य, अनार्ष और आहार्य तीन प्रकार की होती है, जैसा प्रकरण का विवरण देते हुए कह चुके हैं ।

ईहामृगः

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ।।७२

७३. नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ।।७३

७४. दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृंगाराभासमप्यस्य किञ्चिकिञ्चित्प्रदर्शयेत् ।।७४

७५. संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ।।७५

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः । ख्याताख्यातं वस्तु अन्त्यः=प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेयः । स्पष्टमन्यत् ।

मिश्र कोटि की चार अंकों की और तीन सन्धियों की ईहामृग की कथावस्तु होती है । इसमें नायक और प्रतिनायक वैकल्पिक रूप से प्रख्यात और धीरोद्धत होते हैं । प्रतिनायक दुर्भाग्यवशात् अयोग्य काम कर बैठता है । न चाहती हुई दिव्य स्त्री को अपहरणादि के द्वारा प्राप्त करने को इच्छा रखने वाले नायक का शृंगाराभास कुछ-कुछ दिखाना चाहिए । नायक और प्रतिनायक के आवेश की सर्वोच्च स्थिति लाकर भी किसी बहाने युद्ध नहीं होने देना चाहिए । वध की स्थिति में आने पर भी महात्मा नायक का वध नहीं होना चाहिए ।७५

मृग के समान अलभ्य नायिका को पाने की कामना नायक करता है । अतएव ईहामृग नाम पड़ा । कथावस्तु ख्याताख्यात होती है । ७३वीं कारिका में अन्त्यः प्रतिनायक के लिए प्रयुक्त है । वह भ्रमवश अयोग्य कर्म करता है ।

नान्दी टीका

धनञ्जय और भरत की ईहामृग-विषयक परिभाषायें बहुधा भिन्न हैं । नीचे की तालिका से भिन्नता के बिन्दु स्पष्ट होते हैं—

	भरत का मत	धनञ्जय का मत
१.	ईहामृग को कथा सुविहित होती है	ईहामृग की कथा मिश्र कोटि की होती है ।[1]
२.	ईहामृग की कथावस्तु में एक अंक होता है ।	ईहामृग की कथा चार अंकों में प्रपञ्चित होती है ।

१. मिश्र नामक कथावस्तु का भेद रूपकों में असम्भव है । देखिये इसी पुस्तक की १.१४ पर नान्दी टीका ।

३.	कथावस्तु में दो सन्धियाँ होती हैं मुख और निर्वहण। एक अंक में दो ही सन्धियाँ सम्भव हैं।	तीन सन्धियाँ—मुख, प्रतिमुख और निर्वहण होंगी।
४.	नायक केवल देवता होगा।	नायक नर या देवता कोई हो सकता है।

७६. इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान्।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥७६

स्पष्टम्।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

७६. पूर्वोक्त दशरूपक के लक्षण की विचारणा करके, इतिवृत्त का अनुशीलन करके, कवि के ग्रन्थों का अध्ययन करके लेखक अपने नाट्यप्रबन्ध को लिखे, जिसमें अलंकार स्वाभाविक हों, वाणी-विलास उदार और मधुर हो तथा वृत्त स्पष्ट और सघनगति वाले हों।

———

अथ चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यंते—

१. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥१

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम्—निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः। तेन रसिकाः सामाजिकाः। काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत्। आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत्।

अब रस का भेद बताते हैं—

१. विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादनीय स्थिति में लाया हुआ स्थायी भाव रस माना गया है।

आगे चलकर विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और सात्त्विक भाव के लक्षण बतायेंगे। काव्यपाठ द्वारा ग्रहण किये गये अथवा अभिनय द्वारा बोध कराये गये विभावादि के द्वारा श्रोताओं और प्रेक्षकों के हृदय में उद्बोधित रति आदि स्थायी भाव स्वादगोचरता अर्थात् पूर्ण आनन्दानुभूति-रूप बना दिये जाते हैं। सामाजिकों के द्वारा आस्वाद्यमान रति आदि स्थायी भाव रस हैं। इस प्रकार सामाजिक (प्रेक्षक या पाठक) ही रसिक या रसवान् हैं। किन्तु आनन्दानुभूति को प्रकाशित करने का साधन होने के कारण काव्य को भी रसवत् मान लिया गया है, जैसे दीर्घायु का कारण होने से घृत को आयु नाम दे दिया गया है। (वास्तविकता तो यह है कि आयु और घृत सर्वथा भिन्न हैं।)

नान्दी टीका

भट्टलोल्लट का अनुसरण करते हुए धनञ्जय आठ रस मानते हैं—शृंगार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण। वे शान्त रस को नहीं मानते, यद्यपि आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने शान्त रस को सुप्रतिष्ठित किया है। भरत शान्त रस को मानते हैं कि नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

रस कैसे निष्पन्न होता है—यह धनञ्जय ने भरत की कारिका के आधार पर बताया है कि स्थायी भाव जब विभावानुभाव और संचारि-भावों का संयोग पाता है तो आस्वाद्य होता है और रस कहा जाता है।

स्थायी भाव क्या है? यह नाममात्र से ही स्पष्ट है। उनके नाम हैं रति, उत्साह, जुगुप्सा, हास, भय, क्रोध, शोक और विस्मय।

विभावः

२. ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावदोषकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥२

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूपकादिकाव्यव्यापाराहितविशिष्ट-रूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादि-रभिमतदेशकालादिर्वा स विभावः।

यदुक्तम् नाट्यशास्त्रे ७·३-४—'विभाव इति विज्ञानार्थं इति' ताश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषूपपादयिष्यामः। अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावि-तानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तु-शून्यता।

तदुक्तं भर्तृहरिणा वाक्यपदीये साधनसमुद्देशे—
'शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥' कारिका ५

षट्सहस्रीकृताप्युक्तम्—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' इति ना०शा० गा० ओ० सीरीज पृ० ३४८

तत्रालम्बनविभावो यथा विक्रमोर्वशीये

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः' ॥१.१०

उद्दीपनविभावो यथा —

'अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्वः
परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौरः।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादै-
र्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति ॥'

२. भावों का सम्यग्ज्ञान विभावों की ज्ञायमानता (पहचान) द्वारा सम्भव होता है। विभाव अपनी ज्ञायमानता के द्वारा भाव (स्थायी तथा संचारी) का पोषण करता है। विभाव दो प्रकार का होता है-आलम्बन और उद्दीपन।२

यह (नायक या देश कालादि) ऐसा है, यह (नायिकादि) ऐसी है—इस प्रकार कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा अतिशयोक्ति या रूपकालंकारिक वर्णना अपने काव्य के द्वारा प्रस्तुत करता है। ऐसे नायकादि और अभीष्ट देश काल आदि कहीं-कहीं आलम्बन रूप से अन्यत्र उद्दीपन रूप से विभावित होने पर विभाव हैं।

नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि विभाव विज्ञानार्थ हैं, अर्थात् उसके द्वारा चित्तवृत्ति का उद्भव होता है और विभाव कारण हैं। विभाव के इस अभिप्राय का निदर्शन रसों की व्याख्या करते समय यथास्थान प्रत्येकशः बताया जायेगा।

धनिक ने इस शङ्का का समाधान किया है कि ज्ञान तो वास्तविक या सत्तात्मक वस्तु का होता है न कि शब्दों के द्वारा वर्णित वस्तु का।

वे समझाते हैं कि लौकिक व्यवहार में किसी भौतिक वस्तु के ठोस स्वरूप को नेत्रादि के सम्पर्क में आने पर जैसे जाना जाता है, वैसे ही काव्यात्मक व्यवहार में वस्तु का शब्दों के द्वारा प्रस्तुत वर्णन ही उसका ज्ञान करा देता है। इसके लिए बाह्यतत्त्व (ठोस स्वरूप) की आवश्यकता नहीं रहती। जहाँ कोई शब्द उच्चरित हुआ, वह अपने से सम्बद्ध भाव या अर्थ को सभी भावक (पाठक, प्रेक्षक या रसिक) के चित्त पर सामान्य रूप से अङ्कित कर देता है। इस ज्ञान की प्रक्रिया में लौकिक दृष्टि से वस्तु का अभाव होने पर भी काव्यात्मक दृष्टि से ऐसा नहीं है, अर्थात् वस्तुशून्यता नहीं है। भर्तृहरि ने इसे प्रभावित करते हुए कहा है—

काव्य में कंसादि का रूप शब्दों के द्वारा प्रस्तुत होता है और वे बुद्धि के विषय बनते हैं। इस प्रकार काव्य में वर्णित कंस वास्तविक शरीरधारी कंस के समान प्रत्यक्ष जैसे साधन रूप में सभी पाठकों या प्रेक्षकों को प्रतीत होते हैं।

षट्सहस्री (नाट्यशास्त्र) के लेखक भरत ने भी कहा है—इन विभावों और भावों से सामान्यतः रस की निष्पत्ति होती है।

आलम्बन विभाव का उदाहरण है—

इस उर्वशी की सृष्टि करने में कान्तिदायक चन्द्र क्या विधाता बना? अथवा शृंगार की परम निधि कामदेव या वसन्त विधाता बने? वेद का अभ्यास करते-करते विषयों के प्रति मरी हुई रुचि वाले बूढ़े मुनि ब्रह्मा कैसे इतना मनोहर रूप गढ़ सकते हैं?

उद्दीपन विभाव

अपनी चन्द्रिका से विश्व को धवलित कर देने वाला यह चन्द्र उदित हो रहा

है। सर्वथा विमल आकाश में कपूर के समान गौर चन्द्र है। चाँदी की सीधी शलाका के समान अपनी किरणों से उसने जगत् के लिए श्वेत मृणाली का पंजर बना दिया है।

नान्दी टीका

२. विभाव को निम्न उदाहरण से समझना सरल है। 'किसी शत्रु को देखकर आपको क्रोध उत्पन्न हो गया। उसी समय शत्रु ने आँख दिखाई या कुछ अपशब्द कह दिये तो क्रोध और उद्दीपित हो गया।' इस वक्तव्य में (१) आप आश्रय हैं, क्रोध नामक स्थायी भाव के (२) क्रोध का आलम्बन है शत्रु। शत्रु न सामने आता तो क्रोध ही न होता। (३) आलम्बन (शत्रु) की चेष्टायें आँख दिखाना या अपशब्द कहना उद्दीपन है क्रोध नामक स्थायी भाव के लिए।[1]

काव्यशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में आलम्बन और उद्दीपन को विभाव कहते हैं। विभाव का अर्थ होता है वतलाने वाला। वह स्थायी भाव या अन्य भावों पर प्रकाश डाल कर उन्हें यथायोग्य प्रभविष्णुता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए आप को भय हो गया। अब देखना है कि वह भय सिंह को देखकर हुआ कि केंचुए को देखकर हो गया। यदि साँप को देख कर हुआ तो वह भय स्थायी भाव होकर रस की निष्पत्ति के लिए हो सकता है, अन्यथा यदि केचुएँ को देख कर हुआ तो वह संचारी भावमात्र रहेगा। इस प्रकरण का विशद विवेचन आगे होगा।

अनुभावः

३. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।

स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकानामश्रुभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः। एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षाद्भावकानामनुभवकर्मतयानुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। विकारो भावसंसूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया इह तु तेषां कारणत्वमेव। यथा ममैव—

'उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भःस्नपिताङ्गयष्टि विगलद्व्रीड सरोमाञ्चया।
धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः॥'

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः।

३. भाव (स्थायी और संचारी के स्फुरण) की सूचना देने वाले विकार अनुभाव हैं।

---

१. यह तो लोक में व्यावहारिक दृष्टि से हुआ। काव्य या नाट्याभिनय में भी यही प्रक्रिया होती है। वहाँ आपके स्थान पर नायकादि होते हैं।

स्थायी भाव स्फुरण को सूचित करने वाले अश्रुपात, भ्रूविक्षेप और कटाक्ष आदि रस का पोषण करते हैं। इन्हें अनुभाव कहते हैं। जब सहृदय अभिनय देखते हैं या काव्य का पारायण करते हैं तो वे अश्रु, भ्रूविक्षेप आदि की मानो निजी अनुभव के रूप में अनुभूति करते हैं। यह प्रक्रिया अनुभवन है। रस के आचार्य इसे अनुभाव कहते हैं।

ये विकार भावों की सूचना देते हैं—यह वक्तव्य लौकिक (काव्यात्मक नहीं) रस की दृष्टि से समीचीन है। काव्य में तो अनुभाव स्थायी या संचारी भावों के कारण हैं।

नान्दी टीका

लोक में किसी सिंह को देखने पर भय होता है। भय स्थायी भाव है। इस भय (स्थायी भाव) के कारण वह भागता है। भागना अनुभाव है, जिसका कारण भय स्थायी भाव है। अभिनय और काव्य में एक दूसरी ही वस्तुतः विपरीत प्रक्रिया होती है। प्रेक्षक अभिनेता के अनुभाव को विभाव में देखकर विभाव के स्थायी भाव को आत्मसात् करता है। इस प्रकार अनुभाव स्थायी भाव का कारण हुआ।

अनुभाव का उदाहरण

मुग्धा नायिका का वर्णन है—हे मुग्धे, तुम्हारा मुख जँभाई-युक्त है। उरोज प्रदेश उभर रहा है, भौंहों में चञ्चलता आ गई है। अङ्गलतिका पसीने से तर है। लज्जा तिरोहित होती जा रही है। रोमाञ्च हो रहा है। वह युवक धन्य है, जिसके मुख पर तुम्हारी वह दृष्टि सकाम पड़ी है, जो क्षीरमहासागर के फेन के समान श्वेत है।

रसोचित अनुभावों के उदाहरण रस विषय-विवेचन में मिलेगा।

पूर्वोक्त आश्रय स्थायी भाव का उद्रेक होने पर जो कुछ कार्य करता है, या स्थायी भाव के प्रभाव से उसके जो कोई शारीरिक विकार होते हैं, वे अनुभाव कहे जाते हैं। इन्हीं अनुभावों को देखकर प्रकट होता है कि स्थायी भाव प्रभविष्णु है। स्थायी भावादि का ज्ञान कराने के कारण इन्हें भावसंसूचनात्मक कहा गया है।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥३

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयोः संव्यवहारादेव सिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते। तदुक्तम्—'विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावानुगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते' इति।

उन (विभाव और अनुभाव) की उपपत्ति हेतु और कार्य के रूप में व्यवहार से प्रकट है।३

लोकव्यवहार में यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि लौकिक रस में विभाव हेतु है और अनुभाव कार्य है। अतएव सर्वथा स्पष्ट होने के कारण विभाव और अनुभाव का विशेष लक्षण अनावश्यक ही है। इस बात को इस प्रकार भी समझाया गया है कि

विभाव और अनुभाव संसार में प्रत्यक्ष उपपन्न हैं। जीवन यात्रा में ये नित्य आगे-पीछे लगे रहते हैं। लोक-स्वभाव से ही समझ में आ जाते हैं। अतएव इनका पृथक् लक्षण नहीं बताया जायेगा।

नान्दी टीका

विभाव स्थायीभाव को जगाने के लिए कारण हैं और स्थायी भाव के कार्य (परिणामतः उत्पन्न होने वाले) अनुभाव हैं।

भावः

४. सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः। तदुक्तम्—'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावितं वासितम्' इति।

यत्तु 'रसान्भावयन्भावः' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः' इति च तत् अभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्। ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः।

४. सुख-दुःख आदि भावों के द्वारा उस (सामाजिक) के भाव (चित्त) का भावन (वासित होना) भाव है।

अनुकार्य (रामादि कथा पुरुष, जिनका अनुकरण पात्र करते हैं) का आश्रय लेकर वर्णित सुख और दुःख रूप भावों के द्वारा तद् (भाव के) सामाजिक के चित्त का भावन अर्थात् वासन ही भाव है। (संक्षेप में नायकादि की समवेदना जो सामाजिक के चित्त में हो वह भाव है।) लोक में भी ऐसा कहा जाता है कि इस रस से या इस गन्ध से यह सारा भावित या वासित हो गया।

भाव के दूसरे अर्थ के परिचायक प्रयोग हैं रसों को भाव भावित करते है अर्थात् आस्वाद योग्य बनाते हैं और कवि के अन्तर्गत भावों को भावित करते हुए अर्थात् बोधगम्य बनाते हुए—इन दो प्रसंगों में नाट्य शास्त्र मे भाव का अर्थ कुछ दूसरा ही है।[१] ये दोनों अर्थ किसी विशेष कारण से भिन्न अभिप्राय में प्रयुक्त हैं।

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और व्यभिचारी।

नान्दी टीका

भाव तीन प्रकार के हैं—स्थायी भाव, संचारि भाव और अनुभाव। ये साधारणतः सुख-दुःखात्मक होते हैं।

---

१. इन दोनों प्रयोगों के लिए द्रष्टव्य ना० शा० ७.२३

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ।।४
५. सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम् । यदाह—'सत्त्वं नाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते । एतदेवास्य सत्त्वं यत् खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते । तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकाः । तद्भावभावनं च भावः । तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः, भावसंसूचनात्मकविकार-रूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम् ।' इति ।

सात्त्विक भाव अनुभाव ही हैं । किन्तु उनका वर्ग अलग है, क्योंकि वे सत्त्व से उत्पन्न होते हैं । ये भाव हैं ही, क्योंकि तद्भावभावन (सामाजिक के चित्त को वासित करना)

यह लक्षण उनमें पाया जाता है, जो भाव का लक्षण है । सत्त्व क्या है—अन्तःकरण (मन) की उस स्थिति को सत्त्व कहते हैं, जब वह दूसरों के दुःख, हर्ष आदि भावना से अत्यन्त अनुकूल हो जाता है, अर्थात् उसमें समवेदना होती है । भरत ने कहा है—सत्त्व मन से उत्पन्न होता है । मन जब समाधि की अवस्था में होता है, तब उससे सत्त्व की उत्पत्ति होती है ।[१] मन का सत्त्व यही है कि नायक किसी को दुःखी या प्रसन्न देखकर स्वयं आँसू गिराने लगे या रोमाञ्चित हो जाय । सत्त्व से सात्त्विक भाव उदित होते हैं । इनको भाव इसलिए कहते हैं कि सामाजिक का चित्त नायक के अश्रु या रोमाञ्च आदि से वासित हो जाता है । सत्त्व से उत्पद्यमान होने के कारण अश्रु प्रभृति भाव हैं और स्थायी तथा संचारी भाव से नायक प्रभावित है—यह सूचना देने वाले विकार होने के कारण अनुभाव हैं ।

इस प्रकार सात्त्विक भाव के दो रूप—भाव और अनुभाव हैं ।

नान्दी टीका

अनुभावों की एक विशिष्ट कोटि का नाम सात्त्विक भाव है । इनकी उत्पत्ति सत्त्व से होती है अर्थात् चित्त जब किन्हीं परिस्थितियों में प्रभावित होता है तो स्तम्भादि सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं । यहाँ यह समझना है कि इतर अनुभाव कोरे शारीरिक व्यवहार हो सकते हैं कि सात्त्विक भावों की उत्पत्ति के लिए अन्तःकरण का सविशेष प्रभावित होना आवश्यक है । पहले चित्तवृत्ति प्रभावित होती है । जिसका प्रभाव शरीर पर प्रत्यक्ष होता है ।

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथुः ।।५
६. अश्रु वैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम्, शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ।।६

---

१. ना० शा० गा० ओ० सी० भाग १ पृष्ठ ३७४

यथा—

वेवइ सेअदवद्धिअ रोमंचिअगत्ति ।
सद्दाइअ वीसरवअणा बाहुल्लिअणेत्ति होइ ॥
मुहं पेमेणं वि ण दिज्जइ सामलीहोइ ।
खणे खणे मुच्छइ उट्‌ठेहि देहिसे दंसणअं ॥

(वेपते स्वेदद्रवार्द्रितरोमाञ्चितगात्री ।
शब्दायते च विस्वरवचना वाष्पार्द्रितनेत्रा भवति ॥
मुखं प्रेम्णापि न दीयते श्यामलीभवति ।
क्षणे क्षणे मूर्च्छति उत्तिष्ठ देह्यस्यै दर्शनम् ॥)

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य (पीला पड़ना), वेपथु (कँपकपी), अश्रु तथा वैस्वर्य (गद्‌गद, वाणी में विकार आ जाना)। इनमें से स्तम्भ है अंगों का निश्चेष्ट होना और प्रलय है चेतना का अभाव। शेष सात्त्विक भाव सुपरिचित हैं।६

उदाहरण—

नायिका काँपती है। उसका शरीर पसीने से लथपथ है और अंग-प्रत्यंग रोमाञ्चित है। वह गद्‌गद वाणी बोल रही है। उसकी आँखों में आँसू भरे हैं। प्रेम होने पर भी मुख ऊपर नहीं करती। वह काली हो रही है। क्षण-क्षण मूर्च्छित हो रही है। हे नायक, उठो, उसे दर्शन दो।

व्यभिचारिभावः

अथ व्यभिचारिणः, तत्र सामान्यलक्षणम्—

७. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥७

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः।

व्यभिचारी का सामान्य लक्षण है—

७. व्यभिचारी (वि+अभि+चारी। वि=विशेष रूप से। अभि=अनुकूल बनकर। चारी=वर्त्तमान) विशेष महत्त्वपूर्ण बनकर और (स्थायी भाव के लिए) अनुकूल बनकर अभिनय में वर्त्तमान रहते हैं। जैसे समुद्र में लहरें उठती और मिटती हैं, वैसे ही स्थायी भाव में संचारी भाव उत्पन्न होता है और तिरोहित होता है।७

जैसे समुद्र में लहरें उठतीं और विलीन होती हैं, वैसे ही रति आदि स्थायी भावों

में व्यभिचारी भावों का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनुकूल बनकर विचरण करते हुए वर्त्तमान निर्वेद आदि व्यभिचारी होते हैं।

नान्दी टीका

तैंतीस संचारी भाव हैं। स्थायी भावों की भाँति इनके भी प्रत्येक के कारण (विभाव) और कार्य (अनुभाव) होते हैं।

३३ संचारी भाव+८ स्थायीभाव (स्तोकविभावों से उत्पन्न)+८ सात्त्विक भाव=४९ भाव कहे जाते हैं।

ते च—

८. निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता—
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
व्रीडापस्मारमोनाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥८

ये व्यभिचारी भाव हैं—

८. निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य (उग्रता), चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, वितर्क, अवहित्थ, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य, चापल।८

(इनकी परिभाषा प्रत्येक के विभाव और अनुभाव का निर्देश करते हुए लिखी जा रही है।)

अथ निर्वेदः

९. तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
तत्र चिन्ताश्रु निःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥९

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा वैराग्यशतके—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥'६७

आपदो यथा—

'राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥'

ईर्ष्यातो यथा हनुमन्नाटके—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटाञ्जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥' १४.६

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारि-निर्वेदो यथा—

'ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ--
पीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग—
संक्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ॥'

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं वाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः। एवं रसान्तराणामप्यङ्गभावः उदाहार्यः।

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं श्रूयताम् ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥'

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशाखो निर्वेदो निदर्शनीयः।

८. निर्वेद है अपने आप को हीन समझने लगना। इसके विभाव हैं तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि। इसके अनुभाव हैं चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, वैवर्ण्य, उच्छ्‌वास और दीनता।८

तत्त्वज्ञान से निर्वेद का उदाहरण

सभी कामनाओं को पूरा करने वाली लक्ष्मी प्राप्त हो गई तो क्या? शत्रुओं के सिर पर पैर रखा तो क्या? प्रेमियों को धन से प्रसन्न किया तो क्या? सशरीर प्रलय-काल तक जीवित ही रहे तो क्या?

आपत्ति से निर्वेद का उदाहरण—

मेरे द्वारा इस कड़वे और निष्फल चिरजीवन का फल भोग लिया गया— राजा की ओर से विपत्ति, बन्धु-वियोग-दुःख, देश छूटना और दुर्गम मार्ग का खेद।

ईर्ष्या से निर्वेद का उदाहरण—रावण की उक्ति है—इन्द्रजित् को धिक्कार। कुम्भकर्ण को जगाने से क्या हुआ? हमारी इन मोटी भुजाओं से क्या लाभ, जिनसे हमने स्वर्ग रूपी गँवई को जीत लिया था। अपमान तो यह है कि मेरा शत्रु हो, वह भी यह तपस्वी (राम), वह भी सामने ही राक्षस-वीरों को मारे डाल रहा है और मैं रावण जीता हुआ यह सब देख रहा हूँ।

वीर और शृङ्गार रसों के व्यभिचारी निर्वेद का उदाहरण—वे बाहें निष्फल हैं, जिनके कन्धे युद्ध में शत्रु के कठोर कण्ठपीठ से छहराते हुए रक्त की विन्दु की पंक्ति

से सुशोभित न हों अथवा जिन पर प्रियतमा के विशाल उरोजों पर बनी पत्ररचना का कुंकुम रस न चिपका हो।

अपने योग्य शत्रु या रमणी को न पाने वाले वीर की यह उक्ति निर्वेद के कारण है। इसी प्रकार अन्य रसों का अङ्ग बनाकर भी निर्वेद के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

रस का अङ्ग बने बिना भी निर्वेद का उदाहरण—

तुम कौन हो ? मैं कहता हूँ कि मुझ अभागे को शाखोटक जानें। वैराग्यपूर्वक ऐसा बोल रहे हैं। ठीक समझा। क्योंकर यह भी बताते हैं। यहाँ से बाईं ओर जो वट का वृक्ष है, उसका पूर्णतः आश्रय पथिक लेते हैं। मार्ग पर ही स्थित मेरी छाया भी परोपकार के लिए नहीं है।

निर्वेद की अनेक शाखायें-प्रशाखायें बताई जा सकती हैं, जिनका आधार विभिन्न विभाव अनुभाव और रस हो सकते हैं। यह रसों का अङ्ग बनकर या स्वतन्त्र रूप से (अनङ्ग) बनकर आ सकता है।

अथ ग्लानिः

११. रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥ १०

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः। अस्यां च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः।

यथा माघे—

'लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः।
तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशा-
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥११.२०

शेषं निर्वेदवदूह्यम्।

१०. ग्लानि है निष्प्राणता, जिसके विभाव हैं रति आदि के कारण आयास प्यास, भूख आदि। इसके अनुभाव हैं विवर्णता, कम्प, उत्साहहीनता तथा अंग, वचन और क्रिया की शिथिलता।१०

कामक्रीडा, कलाभ्यास आदि तथा श्रम, प्यास, भूख, वमन आदि से शक्तिहीनता के रूप में प्रकट होने वाली ग्लानि होती है। इसमें विवर्णता, कम्प, अनुत्साहादि अनुभाव हैं। जैसे शिशुपालवध में—

ये वेश्यायें राजा के घर से निकली जा रही हैं। इनकी आंखों की तारायें शिथिल हैं। मुख कृश है। इनकी आँखें निद्रा से मुकुलित हैं। इनके केशपाश

विखरे हुए हैं। वे मानो रात्रि के अन्तिम भाग के समान हैं, जिसमें तारे कान्तिहीन रहते हैं, चन्द्रविम्ब कृश रहता है और अन्धकार खिसकता-सा चलायमान होता है। शेष को निर्वेद के समान जानें।

अर्थशङ्का—

११. अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात्।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥११॥

तत्र परक्रौर्याद्यथा रत्नावल्याम्—

'ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥'३.४

स्वदुर्नयाद्यथा वीरचरिते—

'दूराद्वीयो धरणीधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्व्यधूनोत्।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः स राजपुत्रो हृदि वाधते माम् ॥'२.१

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम्।

११. शंका है अपनी हानि का ज्ञान होना। इसके विभाव हैं शत्रु की क्रूरता या अपनी दुर्नीति। इसके अनुभाव हैं कम्प, शोष, इधर-उधर बगलें झाँकना और वाणी का विकृत हो जाना।

शत्रु की क्रूरता से शङ्का का उदाहरण रत्नावली में—

प्रिया अपने हृदय में उत्पन्न हुए आतङ्क से व्याकुल है। मुझे लोग जान गये हैं इस कारण लज्जा से वह अपना मुख सबसे छिपाती है। किसी को बातचीत करती देखकर समझती है कि मेरे विषय में ही चर्चा हो रही है। सखियों के हँसने पर वह बहुत लज्जा प्रकट करती है।

अपनी दुर्नीति के कारण शंका का उदाहरण महावीरचरित में माल्यवान् कहता है—बहुत दूर से जिसने पर्वत के समान मारीच को तिनके के समान उड़ा दिया, सुबाहु को मारने वाला वह ताड़का का शत्रु राजपुत्र राम मेरे हृदय में सूल रहा है।

शेष विभावों के उदाहरण भी ऐसे ही समझ लें।

अथ श्रमः—

१२. श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते—

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि।

परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥ १.२४

रतिश्रमो यथा माघे—

'प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥ १०.८०

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

१२. श्रम खेद है । इसके अनुभाव मार्ग चलना और रति आदि हैं । इसके अनुभाव पसीना अङ्गमर्दन आदि हैं ।

यात्रा से श्रम का उदाहरण उत्तररामचरित में—

राम सीता से कहते हैं—यह वही स्थान है, जहाँ तुम यात्रा से उत्पन्न खेद के कारण शिथिल, निष्पन्द और मुग्ध अङ्गों को मेरी गोद में रख कर सो गई थी, जो (अंग) गाढ़े परिरम्भ से संवाहित थे और जो मसले हुए कमलनाल के समान दुर्बल थे ।

रति से श्रम का उदाहरण शिशुपालवध में—

सम्भोग के कामरस की चरम सीमा पर पहुँची हुई, भारी उरोज वाली, काले लम्बे केशों वाली रमणियाँ श्रान्त हुईं । उस समय पसीने से भीगे ललाट पर उनके केश चिपके थे ।

ऐसे अन्यविध उदाहरण समझें ।

अथ धृति.—

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥ १२

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके—

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥ वै०८९

शक्तितो यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥ १.९

इत्याद्यूह्यम् ।

धृति सन्तोष है । इसके विभाव ज्ञान और शक्ति आदि हैं । इसका अनुभाव सुखपूर्वक भोग है । १२

ज्ञान से धृतिका उदाहरण भर्तृहरिशतक में—

हम यहाँ वल्कल से सन्तुष्ट हैं और तुम लक्ष्मी से। बराबर ही हमारा परितोष है, जिसमें कोई तारतम्य नहीं है। दरिद्र तो वही है, जिसकी तृष्णा अधिक है। मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी और कौन दरिद्र होता है?

शक्ति से धृति का उदाहरण रत्नावली में।

नायक वत्सराज विदूषक से कहता है—राज्य के सभी शत्रु परास्त हो चुके हैं। योग्य मन्त्रियों पर सारा शासन-भार डाल दिया गया है। अच्छे शासन से प्रजायें सुविध लालित हैं और उनकी सारी कठिनाइयाँ शान्त कर दी गई हैं। प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता, वसन्त का समय और विदूषक तुम-त्रस मेरी पूर्ण धृति है। यह काम आये। यह तो मेरे लिए महान् उत्सव है।

अथ जडता—

१३. अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥ १३

इष्टदर्शनाद्यथा कुमारसम्भवे—

'एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥' ८.५

अनिष्टश्रवणाद्यथोदात्तराघवे—'राक्षसः—

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः।
येषां नायकतां यातास्त्रिशिरःखरदूषणाः ॥

द्वितीयः—गृहीतधनुषा रामहतकेन। प्रथमः—किमेकाकिनैव?।

द्वितीयः—अदृष्ट्वा कः प्रत्येति? पश्य तावतोऽस्मद्बलस्य—

सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे ॥

प्रथमः—सखे यद्येवं तदाहमेवंविधः किं करवाणि।' इति।—

१३. जडता समझने-बूझने की शक्ति का अभाव है। इसके विभाव इष्ट तथा अनिष्ट का श्रवण और दर्शन हैं। इसके अनुभाव हैं—टकटकी लगाकर देखना, चुप्पी आदि। १३

इष्ट दर्शन से जडता कुमारसम्भव में

पार्वती की सखियाँ उससे कहती हैं—हे सखि, भय को दूर करके एकान्त में शंकर की उपासना करो। जब प्रिय शङ्कर सामने आये तो व्याकुल पार्वती सखियों के उपदेश को भूल गई।

अनिष्ट के श्रवण से जडता उदात्तराघव में—

राक्षस प्रमुख त्रिशिरा और खरदूषण आदि इतने महान् राक्षस किसके द्वारा मारे गये ?

द्वितीय—नीच धनुर्धर राम के द्वारा।

प्रथम—क्या अकेले ही ?

द्वितीय—बिना देखे कौन विश्वास करेगा ? तो भी मित्र सुनो। एक धनुष के साथ होने पर भी हमारी सारी सेना के वीरों का रणभूमि में सिर काटने से (उनके कबन्धों के) ऊपरी गढ़ों में घुसे कंक पक्षियों के कारण व्याकुल कबन्ध ऊँचे ताड़ के पेड़ के सदृश थे।

प्रथम—यदि ऐसा है तो इस प्रकार अब मुझे क्या करना चाहिए।

अथ हर्षः—

१४· प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतःप्रसादो हर्षः। तत्र चाश्रुस्वेदगद्गदादयोऽनुभावाः। यथा—

'आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान्स्वेनाञ्चलेनादरा-
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः॥'

निर्वेदवदितरदुन्नेयम्।

१४. हर्ष मानसिक प्रसन्नता है। इसके विभाव उत्सव आदि हैं और अनुभाव अश्रु, स्वेद, गद्गद आदि हैं।

प्रिय के आगमन, पुत्र के जन्मोत्सव आदि विभावों से चित्त का प्रसाद हर्ष है। उसमें अश्रु, स्वेद, गद्गद आदि अनुभाव हैं। जैसे—

प्रोषित पति के आने पर मरुभूमि पार करने की कठिनाइयों को सोच कर सन्तोष के आँसू से भीगी अपनी दृष्टि को पति के मुख पर डाल कर पीलु, शमी और करीर के कवल की सानी को ऊँट के लिए देकर गृहिणी ने अपने अञ्चल से उसके केसर-सटा के ऊपर लगी धूलि को झाड़ दिया।

निर्वेद के समान अन्य विभाव से सम्बद्ध उदाहरण समझ लें।

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत्॥१४

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनोजस्कता चेतसो दैन्यं तत्र च कृष्णतामलिनवसनदंशनादयोऽनुभावाः। यथा—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति॥'

शेषं पूर्ववत् ।

दैन्य ओजस्विता का अभाव है। इसका विभाव दुर्गति आदि है। इसका अनुभाव है काला पड़ जाना, धूसरित होना आदि।१४

दारिद्र्य, हीनता का भाव आदि विभावों से चित्त की ओजस्विता का दूर हो जाना दैन्य है। उसमें कृष्णता, मलिन वस्त्र, दाँत आदि अनुभाव हैं। जैसे

वधू के गर्भ के दिन पूरे हो चुके थे। उसे देखकर सास वहुत देर तक यह कह कर रोती रही कि मेरे वृद्ध पति अन्धे हैं, जो मचिया पर ही पड़े रहते हैं। घर का छप्पर उड़ गया है, केवल खम्भे भर खड़े हैं। पानी वरसने का समय सिर पर है, विदेश गये पुत्र की चिट्ठी नहीं आई। यत्न से घड़े पर जो तेल इकट्ठा किया था, वह घड़ा भी फूट गया।

यथौग्र्यम्—

१५. दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरः कम्पतर्जनाताडनादयः ।।

यथा वीरचरिते—'जामदग्न्यः—

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा–
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान–
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ।।'

१५. औग्र्य चण्डता को कहते हैं, जिसके विभाव हैं किसी दुष्ट के द्वारा किये अपराध, उसके अपशब्द और क्रूरता। अनुभाव हैं स्वेद, सिर काँपना, तर्जन, ताडनादि।१५

महावीरचरित में उदाहरण—

क्रोधाग्नि वाले मेरे स्वभाव को सभी प्राणी जानते हैं। क्षत्रिय वंश के प्रति क्रोध के कारण उनकी माताओं के गर्भ से नोच-नोच कर टुकड़े-टुकड़े कर डाला। इक्कीस वार पूर्णतया राजवंशियों को काट-पीट डाला। उनके रक्त से भरे सरोवर में जो पितृतर्पण किया, उसके आनन्द से मेरी क्रोधाग्नि कुछ मन्द पड़ी।

अथ चिन्ता—

१६. ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा—

'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः
कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ।।'

यथा वा—

'अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसिता।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव ॥'

१६. चिन्ता ध्यान को कहते हैं। इसका विभाव है अभीष्ट वस्तु का न मिलना। चिन्ता के अनुभाव हैं शून्यता (विकलेन्द्रियता) श्वास और ताप।

जैसे कोई सखी नायिका से कहती है—हे आयताक्षि वाले, कौन-सा वह देवता है, जिसका स्मरण तुम उस हाथ पर सिर रख कर रही हो, जो बालमृणाल के नाल के बने वलयालङ्कार से सुशोभित हो रहा है। तुम्हारे द्वारा शिव के हास से भी बढ़ कर हारावली भूषण अपनी छाती पर धारण किया गया है जो मोती से स्पर्धा करने वाले नेत्रों से झड़ने वाले आँसू की बूंदों से निर्मित हुआ है। दूसरा उदाहरण है—बाला योगी की भाँति किसी अलक्ष्य तत्त्व को ध्यान कर रही है और विषयासक्ति से वह विमुक्त और नयनकमलों को बन्द किये हुई जोरजोर से श्वास ले रही है।

अथ त्रासः—

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥ १६

यथा माघे—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरू—
र्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो—
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥' ८.२४

त्रास मन का क्षोभ है। इसका विभाव गर्जित आदि है और अनुभाव कम्पन आदि हैं। १६

जैसे शिशुपालवध में—

जलविहार करती हुई नायिका के ऊरु-प्रदेश को तैरती हुई मछली से धक्का लगा तो डरती हुई वह अतिशय विभ्रमवती हुई। रमणियाँ विना कारण के ही बहुत अधिक क्षोभ लीलापूर्वक करने लगती हैं। यदि कोई कारण हुआ तो फिर क्या पूछना?

अथासूया—

१७. परोत्कर्षाक्षमासूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥१७

गर्वेण यथा वीरचरिते—

'अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन्दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया।

उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ।।' २.८

दौर्जन्याद्यथा—

'यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदन्छ्रममेष्यसि ।।'

मन्युजा यथाऽमरुशतके—

'पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ।।
ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद्गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ।।'

१७. असूया है दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकना । इसके विभाव हैं गर्व, दुर्जनता और मन्यु । असूया के अनुभाव हैं— दोष की चर्चा करना, अवज्ञा, भौं चढ़ाना, मन्यु, क्रोध ।

गर्व से असूया का उदाहरण महावीरचरित में—माल्यवान् कहता है—मेरे स्वामी रावण ने जनक से सीता की याचना की, पर सफल न हुआ । उस कन्या से, विरोध करने वाले द्रोही राम का विवाह कर दिया । अभिमानी जगत्पति रावण शत्रु का उत्कर्ष, अपने मान और यश का भ्रंश तथा स्त्रीरत्न की हानि—यह सब कैसे सहे ?

दुर्जनता से असूया

यदि दूसरों के गुण को नहीं सह सकते तो गुण प्राप्त करने के लिए यत्न करो । निन्दा के द्वारा परयश का मिटाना सम्भव नहीं । इच्छा-द्वेष में आसक्त मनोरथ वाले तुम यदि रुकते नहीं हो तो सूर्य की किरणों को हाथों के छाते से रोकने का व्यर्थ ही प्रयास करोगे ।

क्रोध से उत्पन्न असूया

सुन्दरी नायिका के समक्ष गोत्र-स्खलन से विस्मित हुआ अभागा मैं मुँह नीचे करके घबराहट के कारण कुछ रेखायें खींचने लगा । वह रेखाचित्र जैसे-तैसे एक स्पष्ट रूप में ऐसा परिणत हुआ कि उससे वही तरुणी (जिसका नाम लेकर गोत्र-स्खलन किया था) अब साङ्ग प्रकट हो गई ।

उस चित्र से मेरी नायिका को पहचान कर कपोल की लाल कान्ति वाली, गद्गद वाणी बोलने वाली मेरी ज्येष्ठा नायिका रोष और प्रणय के आवेश में चिल्ला उठी— अहो, साफ-साफ यह उसी का चित्र है, चित्र है। यह कह कर आँसू भर कर उसने मेरे सिर पर बायें पैर से प्रहार क्या किया, क्रोध से ब्रह्मास्त्र ही चला दिया।

अथामर्षः —

१८. अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१८

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥'२.८

यथा वा वेणीसंहारे—

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥'१.१२

१८. अमर्ष अभिनिवेश या संकल्प है, जिसके विभाव अधिक्षेप (लानत मलामत) या अपमान आदि हैं। अमर्ष के अनुभाव हैं—पसीना, सिर की कँपकँपी, डाँट-फटकार और मारपीट आदि।१८

महावीरचरित में उदाहरण—

परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं—आप पूज्य महानुभावों का अनादर करने के कारण मैं प्रायश्चित्त करूँगा। मैं इस प्रकार शस्त्र धारण करने के महाव्रत को दूषित नहीं करूँगा।

वेणीसंहार में उदाहरण—

भीम युधिष्ठिर को सन्देश देते हैं—

आपकी आज्ञा के उल्लंघन-रूपी समुद्र में डूब जाने की मेरी स्थिति है। मर्यादा-शील भाइयों के बीच मैं निन्दा का पात्र रहा। क्रोध से घुमाई जाती हुई और रक्तरञ्जित गदा वाले तथा कौरवों का नाश करने वाले आप एक दिन के लिए मेरे गुरु नहीं रहे और न मैं आपका आज्ञाकारी रहा।

अथ गर्वः—

१९. गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१९

यथा वीरचरिते—

'मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूयनोष्णः
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥' २.२७

यथा वा तत्रैव—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥' २.१०

१९. गर्व मद है। इसके विभाव हैं उच्च वंश में जन्म, लावण्य, बल, ऐश्वर्य आदि। गर्व के अनुभाव हैं—आधर्षण (अनादर या दबोचना), तिरस्कार और शान से अपने अंगों को देखना।

महावीरचरित में उदाहरण—

राम सीता से कहते हैं—यह मुनि (परशुराम) वैसे वीर हैं। यह मेरे लिए अच्छा ही है। तुम तो काँपना छोड़ो। क्षत्रिया हो। घमण्ड से जिनकी बाँहों में खुजली हो रही है और तपस्या के द्वारा जिनका यश फैला हुआ है, उस परशुराम की सेवा करने में हम समर्थ हैं। मैं रघुवंशी क्षत्रिय हूँ।

दूसरा उदाहरण—परशुराम

ब्राह्मण के अनादर करने से विरत होना यह आपके ही वैभव के लिए है। अन्यथा तुम्हारा मित्र यह परशुराम क्रोध करता।

अथ स्मृतिः—

२०. सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥२०

यथा हनुमन्नाटके—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं—
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुनाजानाति मां रावण—
माः! ज्ञातं, स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥' ४.९

यथा वा मालतीमाधवे—माधवः—मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्—

लीनेव प्रतिबिम्बतेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च।

सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥'

२०. स्मृति के विभाव हैं—सदृश ज्ञान, चिन्ता आदि और संस्कार। इसके अनुभाव हैं भौं का ऊपर चढ़ना आदि, जब ज्ञात होने के नाते कोई वस्तु पुनः प्रतिभासित होती है।२०

हनुमन्नाटक में उदाहरण—

जटायु को देखकर रावण सन्देह करता है—क्या यह मैनाक पर्वत है जो मेरे निर्विरोध मार्ग को आकाश में रोक रहा है? उसमें ऐसी शक्ति कहाँ, वह तो वज्र-प्रहार के भय से महेन्द्र से भी डरता है। यह क्या गरुड है? वह भी तो अपने स्वामी के साथ मुझ रावण को जानता है। अरे समझ में आया—यह तो जटायु है, जो बुढ़ापे से क्लेश पाता हुआ वध की कामना करता है। दूसरा उदाहरण मालतीमाधव में—माधव की मालतीविषयक एकोक्ति है—पहले वह प्रत्यक्ष सी थी। जो संस्कार उससे उत्पन्न हुए, वे सतत ध्यान के कारण उद्बुद्ध हैं। वह अब इधर-उधर की परिस्थितियों से अन्यथा नहीं किया जा सकता। मालती को निरन्तर स्मृति से मेरा चैतन्य तन्मय सा हो गया है।

मालती मानो लीन की भाँति, प्रतिबिम्बित की भाँति, लिखित की भाँति, उत्कीर्ण चित्र की भाँति, जड़ी हुई की भाँति, वज्रलेप (सिमेण्ट) से बनी हुई सी, भीतर से गाड़ी हुई के समान, हमारे चित्त में मानों काम के पाँच बाणों से भीतर की ओर कीलित की भाँति चिन्तारूपी तन्तुजाल से घनी-घनी सिली हुई की भाँति एकीभूत है।

अथ मरणम्—

२१. मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

यथा—

'संप्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किंचिच्चिरम्।
संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो –
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः॥

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्।
अन्यत्र कामचारो यथा वीरचरिते—'पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम्—

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्रसंवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यदुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥१.३९

२१. मरण को सभी जानते हैं और यह अमंगलकारी भी है। अतएव इसके विभाव और अनुभाव का वर्णन नहीं दिया जाता है।

जैसे—

कोई दूती नायक से कह रही है—आपके लौटने का दिन आने पर आपके आने के मार्ग की ओर की खिड़की के पास वारंवार जाकर चेष्टाविहीन आपकी प्रियतमा ने बड़ी देर तक कुछ सोचा। उसके पश्चात् उसने क्रीडा-कुररी पक्षी को रोते हुए अपनी सखियों को सौंप दिया और बालावस्था वाली माधवी लता का आम्रवृक्ष के साथ सकरुण विवाह रच दिया।

इस प्रकार शृङ्गार का आश्रयभूत जब मरण हो तो उसका व्यवसाय (विचार, संकल्प) मात्र वर्णन करना चाहिए। अन्य परिस्थितियों में यथेष्ट वर्णन किया जा सकता है। जैसे महावीरचरित में लक्ष्मण विहँस कर कहते हैं—

आप लोग ताडका को देखें—

हृदय-मर्म को भेदने वाले उड़ते हुए बाणों के वेग से तडका के अङ्ग कट-पिट गये। उसकी नाक रूपी कुटीर के द्वारों से बुद्बुद् ध्वनि करता हुआ रक्तप्रवाह चल पडा। वह मर सी गई।

यथा मदः—

हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदङ्गवचोगतिः ॥२१

२२. निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु।

यथा माघे—

'हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥१०.१३

इत्यादि।

मद है हर्ष की अतिशयता। इसके विभाव हैं मद्यपान। अनुभाव हैं त्रुटिपूर्ण अङ्ग, वाणी और चाल। निद्रा हास और रुदित क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अधम पुरुषों के लिए अनुभाव हैं।

जैसे शिशुपालवध में—

तरुण कामी की भाँति मद्यपान ने मुग्धा नायिका के हास को हावों से निर्भर करके आकर्षक बना दिया, वाणी में कौशल उत्पन्न कर दिया और दृष्टि में उत्कृष्ट विकार ला दिये।

अथ सुप्तम्—

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥२२

यथा—

'लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने।

परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्मावद्धरेखस्तुषारः ॥'

सुप्त नामक संचारिभाव का विभाव निद्रा है। इसमें श्वास और उच्छ्वास की क्रिया अनुभाव है।२२

जैसे—

यव के खेत के कोने में तृण के बने कुटीर में तकिया सहित धान के नये पुआल के विस्तर पर सोये हुए किसान-दम्पती को कुचकलश की ऊष्मा से रेखा बनाये हुए तुषार दूर से ही छोड़ रहा था।

अथ निद्रा—

२३. मनस्संमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः।
तत्र जृम्भांगभंगाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥ २३

यथा—

'निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥'

यथा च माघे—

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्यां
ददददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥११.४

२३ निद्रा है मन का निश्चेष्ट हो जाना। इसके विभाव हैं—चिन्ता, आलस्य, और आयास आदि। इसके अनुभाव हैं—जँभाई, अँगड़ाई, आँख का झँपना और स्वप्न देखना। २३

जैसे—निद्रा से अधमुँदी आँखों वाली, मद से मन्थर, प्रायः निरर्थक वाणी बोलने वाली उस मृगनयनी के मधुर अक्षर आज भी मेरे हृदय में कुछ विचित्र ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर रहे हैं।

शिशुपालवध में उदाहरण है—

माघ ने रात के पहरेदार का वर्णन किया है—अपने पहर तक जागे हुए अब सोने की इच्छा करते हुए उसने अपने जोड़ीदार को तार स्वर से जागो कहकर उठाया। उस दूसरे पहरेदार ने अव्यक्त वर्णों का उच्चारण निद्रा वश करते हुए शून्य बातें कहते हुए भी अन्दर से जगा नहीं।

अथ विबोधः—

२४. विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

यथा माघे—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ।।' ११.१३

२४. विबोध (जगना) का विभाव निद्रा का परिणामादि है । इसमें अनुभाव जँभाई, आँख मींचना है ।

शिशुपालवध में उदाहरण है—

नायिका पति के साथ सोई तो उसके बाद, पर जगी उसके पहले । फिर उसने अपने शरीर को विना हिलाये रखा, ताकि पति की नींद न खुल जाय ।

अथ व्रीडा—

२४. दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्ट्यर्याभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ।।२४

यथामरुशतके—

'पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ।।' ४१

२४. व्रीडा ढिठाई का अभाव है । इसका विभाव दुराचारादि हैं । इसके अनुभाव हैं अंगों की वक्रता, आवरण, पीलापन, मुख को नीचा कर लेना आदि ।२४

अमरुशतक में उदाहरण —

नई वधू प्रथम परिहास के अवसर पर लज्जा से भीतर ही भय करती हुई कुछ बोल नहीं पाती है । पति के वस्त्र छूने पर विनयपूर्वक मुख को झुका लेती है । उसके हठ पूर्वक आलिंगन की इच्छा करने पर चुपचाप अङ्गों को हटा लेती है । अपने ऊपर हँसती हुई सखियों की ओर वह देखा करती है ।

अथापस्मारः—

२५. आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाभिधः ।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ।।२५

यथा माघे—

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारवृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥' ३.७२

२५. अपस्मार आवेश है ।[1] इसका विभाव ग्रह, दुःख आदि हैं । अनुभाव पृथ्वी पर गिरना, कम्पन होना, पसीना छूटना, लार गिरना, मुँह से फेन निकलना आदि हैं ।

उदाहरण शिशुपालवध में—

कृष्ण ने समुद्र को देखा कि वह धगशायी है, तारस्वर से हहरा रहा है, चंचल भुजाओं के समान ऊँची तरंगों वाला है, और फेन से संयुक्त है । कृष्ण ने ऐसे समुद्र को अपस्मारी होने की शंका की ।

अथ मोहः—

२६. मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥ २६

यथा कुमारसम्भवे—

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥' ३.७३

यथा चोत्तररामचरिते—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' १.३५

२६. मोह विचित्तता (मस्तिष्क का काम न करना) है । इसके विभाव हैं भीति, दुःख, आवेश, अनुचिन्तन । इसके अनु भाव हैं अज्ञान, भ्रम, आघात, चक्कर खाना दिखाई न देना आदि ।

कुमारसम्भव में उदाहरण है—

इन्द्रिय-व्यापार को स्तब्ध कर देने वाले और प्रखर विपत्ति से उत्पन्न मोह के द्वारा रति का मानो उपकार कर दिया गया, जिससे वह पतिविषयक विपत्ति को मानो भूल ही गई ।

उत्तररामचरित में उदाहरण है—

यह समझ में नहीं आता कि यह सुख है या दुःख है, मोह है या निद्रा है, विष

---

१. अपगता स्मृतिर्यत्र सोऽपस्मारः । अर्थात् जिसमें स्मृति नष्ट हो जाती है ।

चढ गया है या मद है, तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में मेरी इन्द्रियों को मोहित कर देने वाला कोई विकार है, जो मुझे जड़ बना दे रहा है और सन्ताप पैदा कर रहा है।

अथ मतिः—

२७. भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः।

यथा किराते—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥ २.३०

यथा च—

'न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्यापि ते संतुलयन्ति तत्त्वम्।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम्॥'

२७. मति तत्त्वज्ञान है। इसका विभाव शास्त्रादि हैं और अनुभाव भ्रान्ति का मिट जाना तथा उपदेश देना है।

किरातार्जुनीय में उदाहरण—

काम सहसा न करे। विवेक का अभाव विपत्तियों का कारण है। गुणों से आकृष्ट होने वाली सम्पत्तियाँ विचारशील को स्वयं चुन लेती हैं।

दूसरा उदाहरण—

पण्डित साहसिक नहीं होते। वे श्रुति से तत्त्व का सन्तुलन करते हैं। तत्त्व ग्रहण करके आचरण करते हैं। वे स्वार्थ साधन करते हैं और परहित भी।

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भादिर्जैह्म्यं जृम्भासितादिमत्॥२७

यथा ममैव—

'चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छति वचनं कथञ्चिदालीनाम्।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः॥'

आलस्य सुस्ती (काम न करने की प्रवृत्ति) है। इसका विभाव श्रम और गर्भ आदि है और अनुभाव जँभाई और बैठे रहना हैं।२७

उदाहरण धनिक विरचित—

गर्भ के गुरुभार से अलसाई हुई सुन्दरी नायिका केवल बैठे रहना चाहती है। कठिनाई से चलती है। सखियों को पूछने पर किसी-किसी तरह धीरे से कुछ कह देती है।

अथावेगः—

२८. आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः।

उत्पातात् स्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥२८

अभिसरो राजविद्रवादिः तद्धंतुरावेगो यथा ममैव—

आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं सन्निधेहि द्रुतं मे
खड्गःक्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम् ।
संरम्भोन्निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीत्थं ।
वादः स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत् ॥'

इत्यादि ।

'तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटाः सुभटोक्तयः ॥'

यथा वा—

'प्रारब्धां तरुपुत्रकेषु सहसा संत्यज्य सेकक्रिया-
मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।
आरोहन्त्युटजद्रुमाश्च बटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपादं स्थिताः ॥'

वातावेगो यथा—'वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्' इत्यादि ।

वर्षजो यथा—

'देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो—
र्गेहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान्पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ॥'

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान—
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न—
मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः ॥'

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्यां तद्यथोदात्तराघवे—'चित्रमायः—(ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां । (इत्याकुलतां नाटयति)' इत्यादि । पुनः 'चित्रमायः—

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः ।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

रामः —

वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः ।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः ॥'

इत्यन्तेनानिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रमः ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—'(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानरः) वानरः--महाराअ एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस—' (महाराज एतत्खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्ष—' ।)

इत्यादि 'देवस्स हिअआणन्दजणणं विअलिदं महुवणम् ।' (देवस्य हृदयानन्द-जननं विदलितं मधुवनम्' ।) इत्यन्तम् ।

यथा वा वीरचरिते—

'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥'१.५५

वह्निजो यथामरुशतके—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥'२

यथा वा रत्नावल्याम्—

'विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥'४.१६

करिजो यथा रघुवंशे—

'स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥'५.४९

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थं, तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याताः ।

२८. आवेग सम्भ्रम (संवेग), साध्वस, हड़बड़ी) है । इसका विभाव अभिसर (आक्रमण) आदि हो तो अनुभाव शस्त्र-ग्रहण और हाथी के द्वारा प्रत्याक्रमण अनुभाव

होते हैं । आँधी के विभाव होने पर धूसरित होना, प्रखर गति से चलना अनुभाव होते हैं । वर्षा के विभाव होने पर अङ्गों का संकुचित होना अनुभाव होता है । उत्पात के विभाव होने पर अङ्ग का ढीला पड़ जाना अनुभाव है । अहित या हित के विभाव होने पर क्रमशः शोक और हर्ष अनुभाव होते हैं । अग्नि के विभाव होने पर मुख का धूमाकुल होना अनुभाव है । हाथी के विभाव होने पर भय, स्तब्धता, कँपकँपी और दूर भागना अनुभाव हैं ।

अभिसर राजकीय विद्रव है । इससे उत्पन्न आवेग का उदाहरण धनिक कृत है—

किसी वन्दी की अपने आश्रयदाता राजा के प्रति चाटूक्ति है—हे स्वामिन् ! आप सपने में भी यदि दिखाई पड़ जाते हैं तो चकित नेत्रों वाले शत्रुओं की ऐसी स्थिति होती है—आओ, आओ सज्जित हो जाओ । श्रेष्ठ घोड़े को मेरे पास शीघ्र लाओ । तलवार कहाँ है ? कटार लाओ । धनुष से क्या होगा ? क्या शत्रु प्रवेश कर गये ? घबराहट में जगे हुए वे पर्वत पर छिपने के स्थान पर परस्पर इस प्रकार बातें करते हैं ।

कवच, कवच, शस्त्र, शस्त्र, रथ, रथ—इस प्रकार की वीरों की उदात्त उक्तियाँ (शत्रु के आक्रमण के समय) सुनीं । (कहीं सेना को अपने आश्रम की ओर आते देखकर)

पुत्रवत् पौधों को पानी देने का काम सहसा छोड़कर ये तापस-कन्यायें—यह क्या है—व्याकुल होकर देख रही हैं । चुप्पी साधे हुए ब्रह्मचारी आश्रम वृक्षों पर चढ़ गये हैं । वे शीघ्र ही समाधि छोड़कर अपने कुशासन पर पैर उचका कर खड़े हो गये हैं ।

आँधी से आवेग का उदाहरण—वायु के वेग से उत्तरीय उड़ा जा रहा है—इत्यादि ।

वर्षा से उत्पन्न आवेग का उदाहरण

पानी बरस रहा है । भोजन पकाने का आरम्भ करने वाली स्त्रियाँ आग के लिए एक घर से दूसरे घर जा रही हैं । वे पङ्क के भय से पटड़ों के बने सेतु का उपयोग चलने के लिए करती हैं । वे सूप का छाता बनाकर सिर को ढकी हुई हैं और अपने हाथों से निरन्तर जल गिराने वाले छज्जे के छोर को पीटती चलती हैं ।

(इस उदाहरण में पिण्डिताङ्गता नामक अनुभाव का अभाव है)

उत्पात से उत्पन्न आवेग का उदाहरण

शिव का वह आसन आप लोगों का कल्याण करे, जो रावण की मोटी भुजाओं से उखाड़े जाते हुए कैलास पर घबराहट से चंचल नेत्रों वाली प्रिया पार्वती के आलिंगन से पुलकालंकृत था और जिसमें कोप के चिह्न तिरोहित थे ।

अहित के श्रवण और दर्शन से उत्पन्न आवेग का उदाहरण उदात्तराघव में—

चित्रमाय—(संभ्रमपूर्वक) भगवन् कुलपति रामभद्र, रक्षा करें, रक्षा करें । (वह आकुलता का अभिनय करता है ।) इत्यादि

पुन: चित्रमाय—मृग का रूप छोड़कर विकट शरीर बनाकर उस राक्षस के द्वारा लक्ष्मण युद्ध में संशय की स्थिति में प्राप्त कराये गये।

राम—अभय के समुद्र भाई लक्ष्मण के लिए कैसे राक्षस से भय की शंका करूँ? ये डरे हुए मुनि क्रन्दन कर रहे हैं। मेरे मन को भी घबराहट हो रहा है। मुनि वसिष्ठ ने स्नेहपूर्वक कहा था कि सीता को छोड़ना मत। मुझ मूढ मति का निश्चय न तो रुकने और न जाने के लिए हो रहा है।

यह अनिष्ट-प्राप्ति के कारण संभ्रम है।

इष्ट प्राप्ति से आवेग का उदाहरण उदात्तराघव में है—

वानर—(पटाक्षेपपूर्वक प्रवेश करके घबराया हुआ) हे महाराज, यह हनुमान् के आने पर प्रहर्ष हुआ है? इत्यादि। आपके हृदय को आनन्द देने वाला मधुवन उजड़ गया।

महावीरचरित से उदाहरण—

जनक राम से कहते हैं—वत्स, आओ, आओ रघुनन्दन, पूर्णचन्द्र! तुम्हारे सिर का चुम्बन करूँ। देर तक तुम्हारा आलिंगन करूँ या हृदय से लगाकर दिन-रात आदर करूँ। अथवा तुम्हारे चरणकमलद्वय की वन्दना करूँ।

अग्नि से आवेग—जैसे अमरुशतक में—

शिव को वह शराग्नि आपकी विपत्ति को जला दे। वह शराग्नि अभी-अभी अपराध किये हुए कामी की भाँति है। जब उसने आँसू भरी कमल नयनों वाली त्रिपुर युवतियों के हाथ को पकड़ा तो झटके से दूर हटाया गया। जब उनके रेशमी वस्त्र के के छोर को पकड़ा तो बलात् दूर झटकारा गया, बाल पकड़ा तो निवारित किया गया, पैर पर गिरा तो घबराहट के कारण देखा भी नहीं गया। जब वह लिपट ही गया तो अनादृत हुआ।

दूसरा उदाहरण रत्नावली में है—

आग, भला रुक तो जाओ। धुयें से सर्वत्र व्याप्त मत बनो। क्योंकर ऊँची लपटों के मण्डल को फैला रहे हो? अपनी प्रिया की विरहाग्नि से मैं नहीं जला। उसका तुम अपनी प्रलयाग्नि की ज्योति से क्या कर लोगे?

हाथी से आवेग का उदाहरण रघुवंश में—

उस बड़े वन्य गज को देखकर अपने बन्धन को तोड़ कर घोड़े भाग चले। भगदड़ में रथों के धुरे भंग हो गये। वे बिखरे पड़े थे। स्त्रियों की रक्षा करने में सैनिक व्याकुल थे। सारा सैन्य-निवेश कोलाहल निर्भर था।

हाथी सभी वन्य पशुओं के लिए साङ्केतिक है। उससे व्याघ्र, शूकर, वानरादि से उत्पन्न आवेग भी समझे जायें।

अथ वितर्कः

२८. तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोङ्गुलिनर्तकः ।

यथा उदात्तराघवे

'किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुता गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु--
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ।।'

अथवा ।

'कः समुचिताभिषेकाद्रामं प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममैव पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना ।।'

२८. तर्क विचार है। इसका विभाव सन्देह है और अनुभाव हैं—भौं, सिर और अंगुलि को नचाना ।२६

उदाहरण—क्या भरत लोभ के वशीभूत हो गये, जिससे उन्होंने ऐसा कर डाला या क्या मेरी मध्यमा माता कैकेयी आज स्त्री की स्वाभाविक लघुता को प्राप्त हो गई ? ये मेरे दोनों विचार मिथ्या हैं। भरत तो श्रेष्ठ राम के भाई हैं। माता कैकेयी भी श्रेष्ठ पिता दशरथ की पत्नी हैं। (वे दोनों ही ऐसा नहीं कहेंगे)। इस अनुचित कार्य के कर्ता विधाता हैं।

अथवा—कौन गुणों से श्रेष्ठ आर्य राम को समुचित अभिषेक से गिरा सकता है ? मै समझता हूँ कि मेरे पुण्यों का प्रभाव है कि भगवान् ने मेरे लिए यह सेवा का अवसर उपस्थित कर दिया है।

अथावहित्था—

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।।' ६.८४

अवहित्था अङ्गों का विकार है। इसका विभाव लज्जा आदि है। इसका अनुभाव विकारों को छिपाना है।

कुमारसम्भव में उदाहरण

देवर्षि नारद के ऐसा कह लेने पर पिता के पास मुख नीचे को हुई पार्वती ने लीलाकमल के पत्तों को गिना ।

अथ व्याधिः—

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ।।२९

दिङ्मात्रं तु यथा

'अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः।
अद्य श्वः परनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ॥''

व्याधि सन्निपात आदि हैं। उनका अन्यत्र (आयुर्वेद-शास्त्र में) विस्तार है।
संकेत रूप में उदाहरण—

कोई दूती नायक से विरहिणी नायिका की दशा का वर्णन करती है—सतत अश्रु बन्धुओं को, चिन्ता गुरुओं को, सम्पूर्ण दैन्य परिजनों को, ताप सखियों को आपकी प्रणयिनी ने दे डाला है। वह आजकल में परम निर्वाण प्राप्त करने वाली है। उसके श्वास मात्र ही रह गये हैं, जिससे कष्ट हो रहा है। आप तो आश्वस्त रहें, उसने विरहजनित दुःख का बँटवारा कर लिया है।

अथोन्मादः—

३०. अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः।
अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासस्मितादयः ॥३०

यथा विक्रमोर्वशीये—आः! क्षुद्रराक्षस! तिष्ठ तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे कथम्—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥'४·७

३०. उन्माद (पागलपन) अप्रेक्षाकारिता है। इसके विभाव सन्निपात, ग्रह आदि हैं। इसमें रुदित, गीत, हास, स्मित आदि अनुभाव हैं।
विक्रमोर्वशीय में उदाहरण है—

उन्मत्त पुरूरवा बादल को देखकर कहता है—आ क्षुद्र राक्षस, ठहरो, ठहरो। मेरी प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहे हो? यहाँ से लेकर—क्योंकर—

यह तो नया बादल है, दर्पनिष्ठ निशाचर नहीं है। यह इन्द्रधनुष है। राक्षस का पूरा ताना हुआ धनुष नहीं है। यह भी तीव्र धारासम्पात है, बाणपरम्परा नहीं है। स्वर्ण-कषण-रेखा के समान स्निग्ध यह विद्युत् है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है।

अथ विषादः—

३१. प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥३१

यथा वीरचरिते—'हा आर्ये ताडके ! किं हि नामैतत् । अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥'१.४०

३१. विषाद सत्त्व (शक्ति, उत्साह) का क्षीण हो जाना है। इसका विभाव हाथ में लिये काम में असफलता आदि है और अनुभाव हैं निःश्वास, उच्छ्वास, हृदय का ताप, सहायक की खोज।३१

महावीरचरित में उदाहरण—

सर्वमाय नामक राक्षस कहता है—हा आर्ये ताटके, यह क्या हो रहा है। पानी में तुमड़ी डूब रही है और पत्थर तैर रहे हैं। आज रावण का प्रताप नीचे गिर गया। उसको मनुष्य-शावक से अपूर्व पराजय मिली है। यहाँ पड़े-पड़े ही मैंने अपने लोगों का सर्वनाश देखा है। दीनता और बुढ़ापा मुझे रोक रहे हैं। क्या करूँ।

अथौत्सुक्यम्—

३२. कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः ।
तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥३२

यथा कुमारसम्भवे—

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥७.२२

यथा वा तत्रैव—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥६.९५

३२. औत्सुक्य है विलम्ब न सहना या प्रतीक्षा न कर सकना। इसके विभाव हैं रमणीय वस्तु की कामना, अरति और सम्भ्रम विभाव हैं। इसके अनुभाव हैं—उच्छ्वास, त्वरा, श्वास, हृदय का ताप, स्वेद और विभ्रम।३२

कुमारसम्भव में उदाहरण—

दर्पण में अपने को शोभमान देखकर टकटकी लगाये हुए बड़ी दृष्टि वाली पार्वती शिव के पास पहुँचने के लिए अधीर हो गई। स्त्रियों का वेष प्रियतम के दर्शन से सफल होता है।

वहीं दूसरा उदाहरण है—

पार्वती से मिलने के लिए उत्सुक शिव ने भी उन दिनों को कष्ट से ही बिताया।

ये भाव जब ऐश्वर्यशाली शिव को अछूता नहीं छोड़ते तो किस दूसरे को वश में नहीं कर रखेंगे ?

अथ चापलम्--

३३. मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ।।३३

यथा त्रिकटनितम्वायाः-

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
वालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ।।'

यथा वा—

'विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ।।
अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं ।' इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव भावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

३३. चापल अनवस्थिति (अस्थिरता, अधीरता) है। इसके विभाव मात्सर्य, द्वेष, राग आदि हैं। इसके अनुभाव भर्त्सना, कठोरता, स्वेच्छाचारिता आदि हैं। उदाहरण विकटनितम्वा से—

हे भ्रमर, उन पुष्पवती लताओं में अपने चञ्चल मन का विनोद करो, जो विनोद के श्रम को सह सकें। इस नवमल्लिका की बाल-कलिका को क्यों व्यर्थ ही अकाल में भोग्य बनाना चाहते हो ? अभी तक इसमें पुष्प नहीं आये।

रावण वानरों की सेना के विषय में कहता है—

आज ही क्या ये सभी मुख मानो स्पर्धा करते हुए एक साथ ही कोप के कारण वानरी सेना के ऊपर पिल पड़ेंगे, जिन मुख में भयंकर कन्दरा-गर्भ स्थित हैं और जो रगड़ खाते तथा कड़कड़ाते हुए कठोर दाढों के क्रकच से युक्त हैं।

अथवा प्रस्तुत कार्य को ही तब तक योजनाबद्ध रीति से सुसम्पादित करूँगा।

कुछ अन्य चित्तवृत्तियाँ सम्भव हैं। वे पूर्वोक्त व्यभिचारी भावों के विभाव और अनुभावों में समाविष्ट हो जाती हैं। अतएव उनकी पृथक् चर्चा नहीं की जाती।

स्थायी भावः

३४. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।। ३४

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी। यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जुकायामनुरागः तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी। यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के बीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कारः—'मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः' प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोत्यन्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्' इत्यादिनोपनिबद्धः। तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी।

तथाहि—कथं विरोधः ? सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा ? उभयरूपो न तावत् स्यादात्मनि तस्यैकरूपत्वेनाविर्भावात्। स्थायिनां च भावादीनां यदिविरोधस्तत्रापि न तावत् सहानवस्थानम्–रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां विरोधिनां चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्धः, यथैव च स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येऽप्यावेश्यमानः स्वचेतःसम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः सम्पद्यते। तस्मान्न तावद्भावानां सहानवस्थानम्।

बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः। स च न स्थायिनामविरुद्धव्यभिचरिभिः स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तेषामङ्गत्वात्। प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात्। आनन्तर्यविरोधोऽप्यनेन प्रकारेणऽपातो भवति। तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यम्। तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैकालम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः। स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो विरोधी।

यथा—'अण्णहु णाहु महेलिअजुहु परिमलु सुअन्धु।
महकन्तह अगत्थहअङ्ग ण फिट्टइ गन्धु ।।'
अन्यासां नाथा महिलानां जुहुधि परिमलं सुगन्धम्।
मम कान्तस्य अग्रस्तं हताङ्गं न भ्रश्यते गन्धः ।।

इत्यत्र बीभत्सस्य व्यवधानेन शृङ्गारवीरसमावेशो न विरुद्धः। प्रकारान्तरेणैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्गत्वेनाविरोधः, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् ?

यथा—एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेन अ भडस्य डोलाइअं हिअअं ।।
(एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ।।

इत्यादौ रत्युत्साहयोः,

(२) 'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ।।'
शृंगार ०३६

इत्यादौ रत्युत्साहयोः'

(३) 'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।
इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ।।'

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः,

(४) 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल—
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनह्य सहसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः संभूय कान्तैः पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुरां कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ।।'
मालती० ५·१८

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः,

(५) एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ।।'

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम्,

(६) 'एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ संकीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ।।'

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत्र कथं न विरोधः ?

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी । तथा हि—'एक्कत्तो रुअइ पिआ' इत्यादौ स्थायीभूतोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुण-

संग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम्। न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकत्रभावो युज्यते। किञ्चोपक्रान्ते संग्रामे सुभटानां कार्यान्तरकरणेऽ प्रस्तुतसंग्रामौदासीन्येन महदनौचित्यम्। अतो भर्तुः संग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्णाति।

एवं 'मात्सर्यम्' इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादानाच्छमैकपरत्वम् 'आर्याः समर्यादम्' इत्यनेन प्रकाशितम्।

एवम् 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविषादविभाववितर्कहेतुतया च रतिक्रोधयोरुपादानं रौद्रपरमेव। 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः' इत्यादौ बीभत्सैकपरत्वमेव। 'एकं ध्याननिमीलनात्' इत्यादौ शम्भोर्भावान्तरैरनाक्षिप्ततया शमस्थस्यापि योग्यन्तरसमाधिवैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृता। 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम्।

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरतेत्यदोषः। यथा—

'श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥'

इत्यादौ। तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः। यथा वा श्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्यामः।

३४. विरुद्ध अथवा अविरुद्ध (अन्य) भावों से जो विच्छिन्न नहीं होता, वह लवणाकर (सागर या लवण की खानि) के समान स्थायी भाव होता है जो सभी अन्य (विरुद्ध और अविरुद्ध भावों) को आत्मरूप प्राप्त करा लेता है॥ ३४

सजातीय तथा विजातीय अन्य भावों से तिरोहित न होता हुआ जो रत्यादि भाव निबद्ध किया जाता है, वह स्थायी कहा जाता है—जैसे, बृहत्कथा में नरवाहनदत्त का मदनमञ्जुका में अनुराग स्थायी है, क्योंकि वह अनेक नायिकाओं में होने वाले अवान्तर (तथा सजातीय) अनुरागों से तिरोभूत नहीं होता। विजातीय भावों से तिरोहित न होने वाले स्थायी भाव का उदाहरण मालतीमाधव-प्रकरण के श्मशानाङ्क में इस प्रकार उपनिबद्ध किया गया है। (माधव कहता है) :—"पूर्व जन्म के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के निरन्तर सजग होने के कारण प्रतीति में आया हुआ प्रियतम के स्मृतिज्ञान

की उत्पत्ति की अविच्छिन्न धारा अन्य विजातीय ज्ञान प्रवाहों से तिरोभूत नहीं हुई[१] और वह मेरी चेतना को अपनी वृत्ति की तदाकारता से तन्मय कर रही है।[२]

इस प्रकार विरोधी और अविरोधी भावों का समावेश स्थायी भाव का विरोधी नहीं ठहरता है।

अवलोक—तथाहि—कथं विरोधः ?—विरोध के दो रूप हो सकते हैं; एक तो यह कि स्थायी के साथ दूसरा भाव रह ही न सकता हो, और दूसरा यह कि दोनों में बाध्य-बाधक भाव हो—अर्थात् एक भाव का दूसरा भाव बाधक हो। इन दोनों प्रकारों मे स्थायी भाव के साथ विरोध का तादात्म्य नहीं बन पाता, क्योंकि स्थायी के सागर में तरङ्गवत् सभी व्यभिचारी भाव एकीभाव लेकर ही प्रकट होते हैं; अलग सत्ता ही प्रतीतिगम्य नहीं होती।

पहले 'सहानवस्थान' वाले विरोध के स्पष्टीकरण से विदित होगा कि स्थायी भावों का अन्य भावों से वैसा विरोध असंभव है, जिसमें दोनों साथ-साथ न रह सकें। रसिक का चित्त जब रत्यादि स्थायी भाव से रञ्जित हो जाता है, तब जो व्यभिचारी उपनिवन्ध किये जाते हैं उनका अविरोध ही रहता है—जैसे माला में सूत्र का कोई विरोध नहीं होता। स्थायी सूत्र तुल्य है, जिसमें पुष्पतुल्य व्यभिचारी भाव पिरोये रहते हैं। यह तथ्य सभी भावकों (रसिकों) के स्वसंवेदन से प्रमाणित है, स्वसंवेदना-सिद्ध है, तदर्थ प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। स्वसंवेदनसिद्धता के समान ही वह स्थायी काव्य-व्यापार के समारम्भ (गुणालंकारादियोजन तथा विभावादियोजना) से अनुकार्य रामादि में सहृदय का अन्तःकरण तादात्म्य ग्रहण कर लेता है। फलतः स्थायी

---

१. यहाँ भवभूति ने एक ऐसी स्मृति का वर्णन किया है जो अनेक जन्मों के संस्कारों की अविरत परम्परा से कभी उद्बुद्ध होती है, जैसा कालिदास ने कहा है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि ॥

२. अन्तःकरण के विषयाकार परिणाम को 'वृत्ति' कहते हैं। चेतना उस वृत्ति से तदाकार हो जाती है। सभी जागतिक बोधों में इसे 'वृत्तिसारूप्य' कहा जाता है। इस वृत्तिसारूप्य से मुक्त आत्मा स्वरूपावस्थित होता है:—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

चमत्कार। आनन्द संवेदनं का कारण बन जाता है। अत: भावों का सहानवस्थान (एक साथ न रहने का विरोध) हो ही नहीं सकता।[1]

वाध्य-बाधकभावस्तु

अवलोक—किसी भाव का दूसरे भाव से तिरस्करण वाध्य-बाधक भाव है। अविरुद्ध व्यभिचारियों से स्थायी का तिरस्करण असंभव है, क्योंकि वहाँ अविरुद्ध व्यभिचारी स्थायी के अङ्ग होते हैं। स्थायी के विरुद्ध होने वाला व्यभिचारी अङ्ग नहीं हो सकता ? इसी प्रकार वह आनन्तर्यविरोध थी, जिसमें एक रस के अनन्तर दूसरे रस के उपनिवन्धन में विरोध वताया जाता है, अपास्त हो जाता है—जैसे, मालतीमाधव में श्रृङ्गार के अनन्तर वीभत्स के निवन्धन में भी कोई विरसता (रसभंग) नहीं आती। ऐसी स्थिति में विरुद्ध रसों का स्वालम्बन होना ही विरोध का कारण हो सकता है, परन्तु वहाँ भी (दो विरुद्ध रसों के मध्य) अविरुद्ध रसान्तर के व्यवधान से उपनिवन्धन हो तो विरोध नहीं रहता। उदाहरणार्थ—हे दिव्याङ्गने, अन्य महिलाओं के भी पति हैं। (उन्हें) तीव्र सुगन्ध-युक्त परिमल प्रदान करो। मेरे प्रिय का मृत अङ्ग (गृध्र, शृगाल आदि के द्वारा भी) अभक्षित है। उसकी दुर्गन्ध नहीं मिट रही है।[2] (इसे छोड़ दो।)

यहाँ वीभत्स रस के अङ्गभूत रसान्तर के व्यवधान से श्रृङ्गार रस का समावेश विरुद्ध नहीं रह गया है। जहाँ एक आश्रय में विरुद्ध रस आते हैं, वहाँ भी प्रकारान्तर से परिहार कर लेना चाहिए।

---

१. आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्य भावों में विरोध मान्य करके विरोध-निरास पर विस्तृत विचार करते हैं। परन्तु धनंजय स्थायी की परिभाषा ही इस प्रकार करते हैं कि लगता है, विरोध रहता ही नहीं—अविच्छिन्न रहने वाला भाव ही स्थायी हो सकता है, इस मान्यता को कारिका में प्रतिष्ठा दी गयी है। धनिक ने तदनुसार ही विवेचन करना चाहा है। रसरूप एक प्रयोजन के निष्पादक होने से विरोधी भावों की साथ-साथ स्थिति कभी हुआ करती है; पर उनका नैसर्गिक विरोध अवश्यक रहता है, जुगुप्सा और रति का ऐसा ही विरोध है। परन्तु ये दोनों रस की निष्पत्ति में सहावस्थायी हो सकते हैं जब जुगुप्सा का चुम्बनादि में तिरोभाव हो जाता है—यह विरोधपरिहार कविशक्ति की कसौटी है, जिस पर ध्वनिकार ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसके विपरीत लक्षण कर देने भर से धनंजय सभी भावों को विरोधमुक्त मान लेते हैं—यहाँ तक कि उनके मत से विरोधहीन भाव ही स्थायी हो सकता है।

२. दूसरे पाठ के अनुसार अर्थ है—अन्य स्त्रियाँ अपने पति के परिमल से सुगन्धित होती हैं। पति के युद्ध के प्रहार के घावों से निकलती हुई दुर्गन्ध ही मेरे पल्ले पड़ी है।

अवलोक—ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां—

(धनिक स्वयं ही प्रश्न उठाते हैं—) जहाँ तात्पर्य एक ही रहता है (एक ही मुख्य भाव में शब्दार्थ की तत्परता होती है) वहाँ अन्य भाव चाहे विरुद्ध हों या अविरुद्ध सभी गौण या तिरोभूत रहते हैं। फलत: अङ्गभूत हो जाते हैं (एक ही भाव अंगी रहता है अत:) अविरोध हो सकता है; परन्तु जहाँ अनेक भावों की प्रधानता समान होती है और ऐसा ही उपनिबन्धन काव्य में देखा जाता है, वहाँ अविरोध कैसे संभव है? जैसे—

(१) "एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर समर-वाद्य का निर्घोष है। प्रेम और युद्धरस से भट का हृदय दोलायित हो रहा है।" यहाँ रति और उत्साह भावों का प्राधान्य समान है। अथवा जैसे—

(२) "द्वेष छोड़ कर प्रयोजन का विचार करके आर्य लोग मर्यादापूर्वक यह बताएँ कि पर्वतों के नितम्बों का अथवा काम-विलास से स्मयमान विलासिनियों के नितम्बों का सेवन करना चाहिए।" यहाँ रति और शम भावों का प्राधान्य समान है। और जैसे—

(३) "एक ओर तीनों लोकों के सौन्दर्यों की एकमात्र आवास-भूमि, चपल नेत्रों वाली यह सुन्दरी है; दूसरी ओर यह दुष्टात्मा है, जिसने मेरी बहन का अत्यन्त अपकार किया है; एक ओर तीव्र काम है तो दूसरी ओर यह भारी क्रोधाग्नि है और मैंने यह वेष (गुप्त) बना रखा है—यह कैसे हो, इस विषय में मन भटक रहा है।" यहाँ रति और क्रोध का समान प्राधान्य है। अथवा—

(४) (रणप्राङ्गण में) ये पिशाचियाँ आँतों से मङ्गल-मालाएँ बनाई हुई, स्त्री के हस्तरूपी लाल कमल से बनाये हुए कर्णाभरण धारण की हुई, हृदय रूपी कमल की माला पिरोकर पहनी हुई, रुधिरपङ्क के कुङ्कुम लगाई हुई, प्रिय पिशाचों के साथ मिल कर कपालरूपी सुरापात्रों से अस्थि की मज्जा को मदिरा पी रही हैं।" यहाँ एक ही आश्रय में रति और जुगुप्सा का सम प्राधान्य देखा जाता है।

(५) "एक नेत्र ध्यानमुद्रित होने से मुकुलवत् है। दूसरा पार्वती के मुखकमल तथा स्तन-तट पर संलग्न रतिभाव के भार से आलस्ययुक्त है; और अन्य तृतीय नेत्र दूर तक खिंचे धनुष वाले मदन के प्रति क्रोधानल से उद्दीपित है—इस प्रकार समाधिकाल में भिन्न रस वाले शम्भु के तीन नेत्र आप की रक्षा करें।" यहाँ एक ही आश्रय में शम, रति और क्रोध की समान प्रधानता देखी जाती है।

(६) "प्रवृद्ध रोष से युक्त एक नेत्र से (चक्रवाकी) गगनस्थित सूर्यमण्डल को देख रही है; अश्रुजल से तरल द्वितीय नेत्र से अपने प्रिय (चक्रवाक) का अवलोकन कर रही है—दिवस के अवसान में प्रिय-विरह की आशङ्का से युक्त चक्रवाकी निपुण नर्तकी (अभिनेत्री) के समान दो भिन्न रसों का प्रदर्शन करती है।" यहाँ शोक और

क्रोध की समान प्रधानता उपनिबद्ध है। ऐसी स्थितियों में भावों का विरोध कैसे नहीं हो सकता ?

अवलोक—अत्रोच्यते—तत्राप्येक एव स्थायी।

उक्त प्रश्न का (धनिक के अनुसार) उत्तर इस प्रकार है—उक्त सभी स्थलों में स्थायी एक ही है (क्योंकि धनंजय अविच्छिन्न रहने वाले भाव को ही स्थायी मान कर चले हैं)। विवेचन निम्नलिखित है—

(१) 'एक्कतो रुअइ पिआ' इत्यादि प्रथम स्थल में उत्साह स्थायी है, जो वितर्क व्यभिचारी के कारण संदेह का कारण है। अत: प्रिया का करुण और संग्राम-वाद्य का पद्य में ग्रहण है जो वीर रस को ही पुष्ट करता है—'भट' पद से यही तथ्य प्रतिपादित हुआ है। यहाँ रति और उत्साह दो स्थायी भावों की प्रधानता समान मानने पर एकवाक्यता नहीं बन पाती। एक वाक्य में दो भाव तभी आ सकते हैं, जब उनमें-से एक उपकार्य हो और दूसरा उसका उपकारक (अङ्ग) हो। और यह अनुचित होगा कि संग्राम चल रहा है और तब सुभट अन्य कार्य करने लगें। अत: यही योग्य है कि पति एकमात्र संग्राम का रसिक है, प्रियतमा का करुण (रोदन) वीर रस को पुष्ट करता है—पति का शौर्य मुख्य रूप से प्रकाश्य है।[1]

(२) 'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादि में भी एकमात्र शम स्थायी भाव की प्रधानता है; चिरन्तन रति-वासना का त्याज्य रूप में ही ग्रहण हुआ है, यह तथ्य 'आर्या: समर्यादम्' से प्रकट किया गया है।

(३) 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादि रावण सीता के विषय में कहता है। रावण प्रतिनायक निशाचर है, साथ ही मायावी है। यहाँ रौद्र ही प्रधान है—विषाद रौद्र का व्यभिचारी तथा वितर्क का विभाव (कारण) है और वितर्क व्यभिचारी के कारण रूप में रति और क्रोध का ग्रहण किया गया है (क्योंकि रति और क्रोध में अनिश्चय ही वितर्क है)। अन्त में निशाचर का क्रोध ही प्रधान ठहरता है। फलत: एक ही भाव स्थायी है।

अवलोक—अन्त्रै: कल्पितमंगलप्रतिसरा—

(४) अन्त्रै: इत्यादि में एकमात्र बीभत्स-रस का तात्पर्य है।

---

१. ध्वनिमत से इस पद्य में रति और उत्साह भावों की सन्धि मान्य है। सहृदय इस सन्धि के चमत्कार का ही आनन्द लेता है न कि शुद्ध वीर रस का। यह तथ्य 'दोलायितं हृदयम्' से ही स्पष्ट है। 'भट' होने मात्र से कोई प्रिया से विमुख नहीं हो जाता कि उसे 'संग्रामैकरसिक' कह कर वीर रस को पुष्ट किया जा सके। दोलायित हृदय में एकमात्र उत्साह कैसे रह सकता है ? संग्रामरसिकता के साथ काम-रसिकता का अङ्गाङ्गिभाव नहीं बन पाता। अत: ध्वनिवादियों ने इसे भावसन्धि का उदाहरण माना है।

(५) 'एकं ध्याननिमीलनात्' इत्यादि में 'समाधिसमये' पद द्वारा शिव की एक मात्र शम स्थायी भाव में तत्परता है—रति और क्रोध से वह शम बाधित नहीं होता, इससे शम्भु के योग की अन्य योगियों के योग की अपेक्षा विलक्षणता ही सूचित होती है।

(६) 'एकेनाक्ष्णा' में सम्पूर्ण वाक्य भावी वियोग को विषय बनाता है। अतः उक्त उदाहरणों में कहीं भी अनेक भावों का तात्पर्य नहीं है।

अवलोक—'यत्र तु श्लेषादिवाक्येषु' इत्यादि

जहाँ श्लेषादि युक्त वाक्यों में अनेक अर्थों का तात्पर्य देखा जाता है, वहाँ भी वाक्यार्थ के भेद से (दो वाक्यार्थ मान कर) स्वतन्त्र रूप से दो अर्थों का तात्पर्य लेकर दोष का निराकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ—

"सुदर्शन चक्र हाथ में लेने वाले, चरण कमल के विलास से (विराट् रूप से) लोकों को आक्रान्त करने वाले तथा चन्द्र रूप नेत्र धारण करने वाले कृष्ण भगवान् ने जिनको उचित ही अपने शरीर की अपेक्षा अधिक माना, वे रुक्मिणी आप की रक्षा करें—क्योंकि रुक्मिणी का सम्पूर्ण शरीर प्रशस्त है किन्तु कृष्ण का हाथ ही सुन्दर है, रुक्मिणी ने अपने सम्पूर्ण अङ्गों की लीला से त्रैलोक्य को जीता है और कृष्ण ने चरण से ही लोकों को आक्रान्त किया है, रुक्मिणी का सम्पूर्ण मुख चन्द्र तुल्य है और कृष्ण के मुख का एक भाग नेत्र ही चन्द्र रूप है।"[1]

अवलोक—तदेवमुक्तप्रकारेण इत्यादि

इस प्रकार उक्त रीति से इत्यादि के उपनिबन्धन में कहीं भी विरोध नहीं है। जहाँ इत्यादि शब्द के द्वारा ही भाव को वाक्य बनाया जाता है, वहाँ भी इत्यादि में ही तात्पर्य रहता है, इस पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

नान्दी टीका

स्थायी भाव की विशेषता है कि वे रस रूप में परिणत नहीं होते हैं। अन्य भाव रस रूप में परिणत होते हैं। यदि भावों की उपमा मनुष्य से दी जाय तो स्थायी भाव राजा के समान है। वह दूसरों को अपने अनुकूल बना लेता है और अपने अनुकूल या प्रतिकूल भी भावों के आने पर अपनी सत्ता को सर्वोपरि बनाये रखता है, स्वयं लुप्त नहीं होता।

---

१. तात्पर्यवादी दोष को भी दोष मान कर नहीं चल पाता। जहाँ भाव या रस का नाम ग्रहण हो जाता है, वहाँ भाव की व्यङ्ग्यता मन्थर या असुन्दर हो जाती है, जो दोष है, परन्तु धनिक उसे भी अमान्य कर देते हैं, क्योंकि दोष मानते ही व्यंजना को स्वीकृति देनी पड़ सकती है।

ते च—

३५. रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।। ३५

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः । तत्र केचिदाहुः—'नास्त्येव शान्तो रसः' । तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति । एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति । यथा तथास्तु । सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते । तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात् ।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाप्रबन्धप्रवृत्तेन अन्ते विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्तेश्च फलत्वेन विरुद्धम् । न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं तत्रैव शृंगारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च नान्तरीयकफलत्वेनाविरोधादभीप्सितम् । एवं च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक् । अतोऽष्टावेव स्थायिनः ।

ननु च—

'रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः ।।' काव्यालंकारे १२.४

इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः ।

वे स्थायी भाव इस प्रकार परिगणित हैं—

३५. "रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय और शोक । कुछ आचार्य शम को भी स्थायी मानते हैं, परन्तु नाट्यों में उसकी पुष्टि (रसरूपता) नहीं होती ।।" ३५

यहाँ शान्त रस के विषय में आचार्यों की विविध विरोधी मान्यताएँ सामने आती हैं—कुछ कहते हैं कि शान्त रस नहीं होता, क्योंकि आचार्य (भरत) ने उस के विभावादि का प्रतिपादन नहीं किया है और परिभाषा नहीं बनायी है । अन्य मनीषी वस्तुतः शान्त का अभाव ही बताते हैं—अनादि काल के प्रवाह (परम्परा) से आये हुए राग-द्वेष को उच्छिन्न नहीं किया जा सकता (अतः शम भाव ही नहीं हो सकता) । कुछ अन्य आचार्य वीर, बीभत्स आदि में शान्त का अन्तर्भाव मानते हैं और यह बताते हुए शमभाव को भी अमान्य कर देते हैं । जैसा भी हो, सब प्रकार से अभिनयात्मक नाटकादि

में हम भी राग स्थायित्व का निषेध करते हैं, क्योंकि राग तो सभी मनोव्यापारों का विलय रूप है अत: उसका अभिनय नहीं हो सकता ।

अवलोक—यत्तुकैश्चित्

कुछ विद्वानों ने नागानन्द आदि नाटकों में शम को स्थायी भाव बताया है, वह विरुद्ध है, क्योंकि पूरे प्रबन्ध में मलयवती का अनुराग व्याप्त है और अन्त में जीमूतवाहन नायक को विद्याधर चक्रवर्ती पद उपलब्ध होता है। (काम और अर्थ फलों की व्याप्ति है, मोक्ष फल नहीं है कि शम को स्थायी माना जा सके)। एक ही अनुकार्य विभाव के आधार पर विषयों के प्रति अनुराग और विराग नहीं हो सकते। अत: दयावीर का उत्साह ही वहाँ स्थायी है। शृङ्गार रस उसी उत्साह का अंग है, जिसका चक्रवर्तित्व की प्राप्ति के फल से कोई विरोध नहीं। सभी प्रबन्धों में अभीष्ट कार्य का ही समावेश करना चाहिए। इस दृष्टि से जीमूतवाहन परोपकार में प्रवृत्त है और विजय का इच्छुक है। उसे अवश्यंभावी होकर अर्थ-काम-रूप फल की प्राप्ति हो जाती है। इस तथ्य पर धीरोदात्त नायक के प्रकरण में विस्तारपूर्वक चर्चा है।

अत: आठ ही स्थायी भाव होते हैं।

अवलोक—ननु च

कुछ विद्वानों का मत है—

"रसन या आस्वादन के कारण ही रत्यादि को रस कहा जाता है, जैसे मधुर आदि गुणों को आस्वादन के कारण रस कहते हैं। यह आस्वादन निर्वेदादि में भी यथेष्ट विद्यमान है। अत: वे भी रस हैं।"

इस प्रकार ये मनीषी अन्य रस भी मान्य बताते हैं, फलत: अन्य स्थायी भावों की भी कल्पना करते हैं। ऐसी स्थिति में आठ हो (या नौ हो) स्थायी भावों की अवधारणा अनुपपन्न हो जाती है।

नान्दी टीका

भरत ने भी कहा है कि नाट्य में आठ ही रस होते हैं।[1] इस वक्तव्य से यह प्रतीत होता है कि नाट्येतर साहित्य में आठ से अधिक रस की सम्भावना वे भी मानते हैं।

नवम है शान्त-रस। रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ आदि जैसे महान् आचार्यों की यह मान्यता है।

शान्त-रस को क्या नाट्येतर साहित्य तक ही सीमित किया जाय? इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का स्पष्ट मत है कि नाट्य साहित्य में शान्त रस विरल है किन्तु होता अवश्य है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में शान्तरस को सर्वथा नाट्यानुकूल बताया है।[3]

---

१. अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता। ६.१५

२. दशरूपक-तत्त्वदर्शनम् के पृष्ठ १७३ पर अभिनवगुप्त का मत उद्धृत है।

३. प्रथम आनन में।

अत्रोच्यते—

३६. निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ।। ३६

(अताद्रूप्यात्=) विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्, अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति । न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनम्, हासादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात् अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति किन्तु विरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च तन्निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः, ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता ।

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः ? न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात् । नहि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण ।

नापि लक्ष्यलक्षकभावः तत् सामान्याभिधायिनस्तु—लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतार्थलक्षणं क्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? 'सिंहो माणवकः' इत्यादिवत् । अतएव गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् । न च काल्पनिकत्वम् अविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूतेः । अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति ।

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् । यथा कुमारसम्भवे—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ।।' ३.८

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद् गिरिजालक्षणविभावोपवर्ण-

नादेवाशाब्द्यपि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति, रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः, न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि ।

यथा—'भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥' गाथा सप्तशती २.७५

('भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स श्वाद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥')

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशाब्द्यपि व्यञ्जकशक्तिमूलैव ।

तथालङ्कारेष्वपि—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥'

इत्यादिषु 'चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम्' इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकत्वनिबन्धनीति । न चासावर्थापत्तिजन्या-अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात् । नापि वाक्यार्थत्वं व्यङ्ग्यस्य—तृतीयकक्ष्याविषयत्वात् । तथा हि—'भ्रम धार्मिक' इत्यादौ पदार्थविषयाभिधालक्षणप्रथमकक्ष्यातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्ष्यातिक्रान्ततृतीयकक्ष्याक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीनः स्फुटमेवावभासते । अतो नासौ वाक्यार्थः ।

ननु च तृतीयकक्ष्याविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विषं भुंक्ष्व' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थाविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य । न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वनेः । तन्न, स्वार्थस्य द्वितीयकक्ष्यायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्ष्याभावात्, सैव निषेधकक्ष्या । तत्र द्वितीयकक्ष्याविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः प्रकरणात्पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात् ।

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्ष्यायां रसानवगमात् ।

तदुक्तम्—'अप्रतिष्टमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परतास्य सा ॥
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावतागतम् ।
तत्प्रसर्पति तत्र स्यात्सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः ॥'

इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिद्व्यङ्ग्यत्वं, तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिः अन्यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

तदुक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा यमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
ध्वन्यालोके १.१३
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ध्वन्यालोके २.५

यथा—'उपोढरागेण' इत्यादि । तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम् अविवक्षितवाच्योऽप्यत्यन्तरितस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च असंलक्ष्यक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः । तत्र रसादीनामसंलक्ष्यमक्रमध्वनित्वं प्राधान्येन प्रतिपत्तौ सत्याम् । अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति ।

इस विषय में (धनंजय का) उत्तर है—

३६. "निर्वेदादि में स्थायी के लक्षण नहीं हैं—जो स्थायी का स्वरूप बताया गया है, वह निर्वेदादि पर लागू नहीं होता । अतः निर्वेदादि स्थायी भाव ही नहीं हो सकते वे अस्थायी हैं । अस्थायी का रसवद् आस्वाद कैसे संभव है ? इन (निर्वेदादि) का यदि काव्य में रसोचित परिपोष देने का प्रयास किया जाय तो विरसता ही हाथ लगेगी । ऐसी स्थिति में आठ ही स्थायी मान्य हैं" ॥ ३६

निर्वेद आदि (व्यभिचारी) भावों में विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होने वाला स्वरूप नहीं है । अतः वे स्थायी नहीं हो सकते । अतएव वे अपने-अपने चिन्तादि व्यभिचारियों द्वारा अन्तरित होकर यदि पुष्टि पा जाते हैं तो विरसता ही उत्पन्न करते हैं ।[1]

अवलोक—न च निष्फलावसानत्वम् इत्यादि ।

स्थायी और व्यभिचारी का विभाजक फल (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को मान कर यह कहना कि फलसहित अवसान वाला स्थायी और फलरहित अवसान वाला व्यभिचारी होता है—ठीक नहीं है । हास, जुगुप्सा आदि भाव भी फलावसायी नहीं हैं

---

१. व्यभिचारीभावों की स्थायिता नहीं होती और उनकी रसरूप में परिणति नहीं होती । परन्तु एक व्यभिचारी अन्य व्यभिचारी से परिपुष्ट होकर वैरस्य लाता है, यह तर्क चिन्त्य है ।

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

यहाँ अवहित्थ व्यभिचारी प्रधानीभूत व्यङ्ग्य है और वह औत्सुक्य, व्रीडा तथा हर्ष व्यभिचारियों से परिपुष्ट होकर कमनीयतर देखा जाता है, कहीं कोई वैरस्य नहीं है ।

और तब स्थायी की परिभाषा इन पर भी लागू न होगी। निर्वेद आदि भी साक्षात् फलसहित न होकर भी, परम्परा से फलसहित होते ही हैं। अतः अस्थायी होने में निष्फलत्व (तथा स्थायी होने में सफलत्व) को प्रयोजक (हेतु) नहीं माना जा सकता। वस्तुतः विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से तिरोहित न होना ही स्थायित्व का लक्षण है। निर्वेदादि व्यभिचारियों में वह लक्षण नहीं लगता। अतएव वे रसरूपी मे आस्वाद्य नहीं कहे जाते—अस्थायी होने के कारण रस रस रूपी में आस्वाद्य नहीं हैं।

काव्यार्थसम्बन्ध-विवेकः

अवलोक—कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः[1] —

इन भावों का काव्य से क्या सम्बन्ध है? वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता—भावों को वाच्य (अभिधेय) और काव्यशब्द को वाचक (अभिधायक) मानकर अभिधावृत्ति द्वारा भावों को बोध्य नहीं कहा जा सकता। रति आदि स्ववाचक शब्दों से भावों की प्रतिपत्ति नहीं होती। शृङ्गारादि रसों से युक्त काव्यों में शृङ्गारादि या रत्यादि शब्द नहीं श्रव्य होते कि उन भावों की अथवा भावपरिपोषात्मक रसों की अभिधेयता हो सके। जहाँ कहीं स्वशब्द से भावों का अभिधान होता भी है, वहाँ भी विभावादि द्वारा ही उनकी रसरूपता पायी जाती है, स्वशब्द से वाच्य होने भर से रसत्व नहीं होता।[2]

लक्षितलक्षणा से भी रसादि की प्रतीति नहीं हो सकती। जैसे, 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों में प्रवाहरूप स्वार्थ अभिधेय है, जिस पर घोष का होना असंभव है।

---

१. दशरूपककार तात्पर्यवादी भट्ट मीमांसक हैं, व्यञ्जनावादी नहीं। अतएव वे काव्य और भावों के सम्बन्ध पर विचार करते हुए व्यञ्जना का खण्डन ही करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में पहले व्यञ्जना की स्थापना की गयी है और ३७ वीं कारिका द्वारा उस का खण्डन प्रस्तुत है। व्यञ्जनास्थापन करने वाली धनिक की टीका उस कारिका की अवतरणिका टीका है।

२. अभिधा वृत्ति से भावों की रसात्मक प्रतीति असंभव है। यह सिद्ध हो जाने पर विचारणीय है कि क्या लक्षणा वृत्ति से वैसा संभव है? क्या काव्य और भाव का लक्ष्य-लक्षकभाव सम्बन्ध हो सकता है? लक्ष्यलक्षकभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि भावसामान्य के अभिधायक लक्षक पद का काव्य में प्रयोग नहीं देखा जाता। सामान्य अर्थ में अभिधा के बाद विशेष अर्थ में लक्षणा का उदाहरण है 'कदली कदली करभः करभः'। इसमें सामान्य कदलीवृक्ष के अर्थ में अभिधा है जिससे 'जडत्वविशिष्ट कदली, अर्थ में लक्षणा देखी जाती है। लक्ष्य-लक्षक भाव भी नहीं होता, क्योंकि सामान्य के द्वारा प्रस्तुत लक्षक पाद का प्रयोग नहीं होता।

अतः वाच्यार्थ में गङ्गाशब्द की वाच्यार्थगति स्खलित होती है और तब स्वार्थ या वाच्यार्थ (प्रवाह) से नित्यसम्बद्ध (अविनाभूत) तट में लक्षणा देखी जाती है। रसादि स्थलों में नायकादि शब्दों की स्वार्थ में गति स्खलित नहीं होती—मुख्यार्थबाध नहीं होता, तब अर्थान्तर में लक्षणा कैसे हो सकती है? कारण और प्रयोजन के बिना, मुख्य अर्थ के रहते हुए, उपचरित या लाक्षणिक अर्थ का कौन प्रयोग करेगा?—मुख्यार्थ-बाध कारण है और शैत्यादि की प्रतिपत्ति प्रयोजन है, जो 'गङ्गायां घोषः' में द्रष्टव्य है। अतएव 'सिंहो माणवकः' इत्यादि के समान गौणी लक्षणा से भी रसप्रतीति नहीं हो सकती—क्योंकि वैसे स्थलों में अभी मुख्यार्थबाध कारण विद्यमान है और शौर्यादि की सूचना प्रयोजन है, जब कि रसस्थल में वैसा कुछ भी नहीं पाया जाता।[1]

यदि भाव के वाच्य होने से ही रसनिष्पत्ति होती तो केवल वाच्यवाचकभाव में जिनकी मेधा प्रबल है, उन अरसिक जनों को भी रसास्वाद हो सकता (जब वैसा नहीं होता तब स्पष्ट ही अभिधा और लक्षणा से भिन्न शब्द वृत्ति की खाज होनी चाहिए)। यह भी नहीं कह सकते कि रसनिष्पत्ति मिथ्या कल्पना की प्रसूति है, क्योंकि अनिन्द्य होने के साथ-साथ सभी सहृदयों के द्वारा आस्वादनीय रस वास्तविक है। ऐसी स्थिति में वाच्य को सीमा मान कर कल्पित की हुई अभिधा, लक्षणा और गौणी वृत्तियों से पृथक् व्यञ्जकत्वरूप (व्यञ्जना) शब्द व्यापार को कुछ विचारक (ध्वनिवादी) मानते हैं और उसके तीन विषय स्वीकार करते हैं—रस, अलंकार और वस्तु।

(१) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के द्वारा होने वाली रसादि की प्रतिपत्ति वाच्य कैसे हो सकती है? कुमारसम्भव में उदाहरण द्रष्टव्य है:

"(काम के प्रभाव से जिस समय शिव किंचिद् शृंगाराविष्ट हुए, उस समय) पार्वती भी कुछ कम्पयुक्त नवकदम्ब के समान अंगों से और तिरछे नेत्रों से युक्त मुख से प्रथम रागविकार (भाव) प्रकट करती हुई तिरछी खड़ी हुईं।"

इस प्रकार के स्थलों में अनुरागजन्य अवस्था विशेषरूप अनुभावों से युक्त

१. धनिक ने 'गङ्गायां घोषः' में लक्षितलक्षणा बता कर चिन्तनीय स्थिति पैदा कर दी है। जहाँ एक लक्षणा से दूसरी लक्षणा होती है, वहाँ लक्षित-लक्षणा मानी जाती है। ऐसा वहाँ होता है जहाँ एक शब्द अन्य शब्द को लक्षित करता है और उस अन्य शब्द से तीसरी कक्ष्या में लक्ष्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है। 'द्विरेफ' शब्द इसका उदाहरण लिया जाता है—इस शब्द से दो रकारों वाला 'भ्रमर' शब्द लक्षित होता है और फिर उससे अर्थबोध होता है। धनिक कदाचित् समझते हैं कि गंगापद प्रवाह अर्थ को लक्षित करता है और उससे तट अर्थ में लक्षणा होती है। परन्तु यह ठीक नहीं है। 'प्रवाह' अर्थ वाच्य है, उसके लक्षित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पार्वतीरूप विभाव के वर्णन से ही अशाब्दी[1] होकर भी शृंगार रस की प्रतीति उदय होती है। ऐसा ही अन्य रसों में भी देखा जाता है और केवल रसों में ही नहीं, वस्तु मात्र में भी यही पाया जाता है; उदाहरणार्थ—

"हे धार्मिक, आश्वस्त भाव से भ्रमण करो, आज वह कुत्ता उस सिंह द्वारा मार डाला गया, जो गोदावरी के तटवर्ती कुञ्ज में रहा करता था।"

इत्यादि में भ्रमण रूप विधि से जहाँ अभ्रमणरूप निषेध की प्रतीति होती है, वहाँ भी वह प्रतीति 'अशाब्द' है। अतः व्यञ्जकत्वशक्तिमूलक ही है। यही स्थिति अलंकार-स्थलों में भी देख सकते हैं। यथा,

"हे तरल-दीर्घ लोचनों वाली सुन्दरि, जब यह तुम्हारा स्मितशील मुख अपने लावण्य की कान्ति (ज्योत्स्ना) से सभी दिशाओं में व्याप्त है, तब भी यह सागर जरा भी नहीं बढ़ता अतः मैं समझता हूँ कि स्पष्ट ही यह ज़लराशि (जडराशि) है।"

ऐसे स्थलों में प्रतीति होती है कि सुन्दरी का मुखकमल चन्द्रसदृश है, वह उपमादि अलंकार की प्रतीति है और उसका कारण व्यञ्जकत्व है।

यह अलंकारप्रतीति अर्थापत्ति प्रमाण से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि अनुपपन्न अर्थ की यहाँ अपेक्षा ही नहीं है। (जिससे अर्थापत्ति हो सके)।[2] तृतीय कक्षा का विषय होने से यह वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) भी नहीं कहा जा सकता (—क्योंकि वाच्यार्थ प्रथम अर्थ-कक्षा है, वाक्यार्थ या तात्पर्य द्वितीय कक्षा है और तात्पर्य जान लेने पर तृतीय कक्षा में उपमा अलंकार की प्रतिपत्ति होती है)।[3] (इसी प्रकार) 'भ्रम धार्मिक' जैसे स्थलों में

---

१. व्यञ्जना के प्रस्ताव में रसादि की प्रतीति 'अवाच्या' होती है 'अशाब्दी' नहीं क्योंकि व्यञ्जना नामक शब्द वृत्ति से ही प्रतिपाद्य होने से वह शाब्दी प्रतीति है। अनुमान प्रमाण से वैसे अर्थों की निष्पत्ति मानने वाले नैयायिक भले ही उसे 'अशाब्द' कहते हैं, तात्पर्यवादी मीमांसक भी 'अशाब्द' नहीं कह सकता अतः 'अवाच्या' होना चाहिए।

२. अन्यथानुपपत्ति को अर्थापत्ति कहते हैं। मीमांसा और वेदान्त में यह एक प्रमाण जैसे, "मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता" इस स्थल में रात्रि-भोजन अर्थापत्ति प्रमाण से आता है, क्योंकि अन्य प्रकार से मोटा होने की उपपत्ति नहीं है। इसे समझने के लिए धान्यपुलालन्याय को भी लिया जाता है—पुआल के बिना धान उत्पन्न नहीं हो सकते। अतः धान की उत्पत्ति से पुआल की उत्पत्ति का अर्थापत्ति से ज्ञान हो जाता है। यही अविनाभाव सम्बन्ध है—बिना भोजन के मोटापा असंभव है और दिन में भोजन नहीं करता तो रात्रिभोजी होना अविनाभूत है।

३. भाट्ट मीमांसा में प्रत्येक पद का अर्थ, जो अभिधाजनित बोध का विषय होता है, वाच्य है। वाक्यार्थ उन वाच्यार्थों के सम्बन्ध से बनता है। इस सम्बन्ध का बोध कराने वाली वाक्यवृत्ति का नाम तात्पर्यवृत्ति है। अतः वाक्यार्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है। व्यङ्ग्यार्थ उस तात्पर्यार्थ के अनन्तर बोध में आता है।

अभिधा रूप शक्ति का विषय पदों का अर्थ है, जो पहली कक्षा है। फिर उस कक्षा का अतिक्रमण करके वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ की दूसरी कक्षा आती है, जो क्रिया-कारक सम्बन्धरूप विधि विषयक अर्थ देती है (कि धार्मिक को नदी के किनारे घूमने में कुत्ते की बाधा नहीं है। अतः वह घूमता रहे)। इस दूसरी कक्षा का भी अतिक्रमण कर निषेध-रूप व्यङ्ग्य अर्थ की तीसरी कक्षा बनती है (कि पण्डित जी यहाँ न घूमें, सिंह आपको भी मार डालेगा)। व्यङ्ग्य अर्थ व्यंजना शक्ति[1] (वृत्ति) के अधीन है, यह स्पष्ट ही भासित हो रहा है। अतः व्यङ्ग्यार्थ को वाक्यार्थ नहीं कहा जा सकता।

अब मीमांसासंमत तात्पर्यार्थ का एक अन्य उदाहरण लिया जाय—पिता पुत्र से कहता है "विषं भुङ्क्ष्व, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः (विष खा लेना, इसके घर में न जाना)।" यहाँ वाक्यार्थ का विषय निषेधरूप अर्थ है। अभिप्राय यह है कि उसके घर में खाना विष खाने से भी अधिक भयावह है। मीमांसामत से यह अभिप्राय तात्पर्यार्थ ही है, यद्यपि तृतीय कक्षा में आता है (वाच्यार्थ और उनके सम्बन्धरूप वाक्यार्थ के अनन्तर—दो कक्षाओं के अनन्तर—वह अभिप्राय आता है)। यहाँ अभिप्रायरूप, वाक्यार्थ व्यञ्जकत्व आदि से नहीं आ सकता, क्योंकि ध्वनि या व्यञ्जना तात्पर्यवृत्ति से भिन्न है। (इस तर्क पर ध्वनिवादी कहता है—) वाक्यार्थ (स्वार्थ) जब द्वितीय कक्षा में विश्रान्त या पूर्ण नहीं हुआ तो पिता के अभिप्राय वाली कक्षा तृतीय नहीं है, दूसरी में ही अभिप्राय भी समाविष्ट है। क्योंकि पिता वक्ता है और वह पुत्र को विषभक्षण की आज्ञा नहीं दे सकता। अतः प्रकरणवश अभिप्राय लेकर ही द्वितीय कक्षा पूरी होती है। द्वितीय कक्षा में 'विषभक्षण' की विधि है जिसमें क्रियाकारक सम्बन्ध ही अनुपपन्न है। अतः तात्पर्य ही निषेधपर्यवसायी है।

(उक्त तथ्य के विपरीत) रसात्मक वाक्यों में विभाव प्रतीतिरूप द्वितीय कक्षा में रस-प्रतीति नहीं होती। अतः कहा गया है :—

"कोई वाक्य जब तक अपने अन्वित अर्थ (वाक्यार्थ) में प्रतिष्ठा या पूर्ति नहीं पाता, तब तक साकाङ्क्ष रहने के कारण अविश्रान्त या अनुपपन्न रहता है—अन्वय-रहित वाच्य पदार्थों की भिन्नता रहती है—उस दशा में अन्वययुक्त उस स्वार्थ (वाक्यार्थ) में उस वाक्य का तात्पर्य (अन्वयवृत्ति) उचित है। परन्तु जब वही वाक्य अन्वित अर्थ में पूर्णता और प्रतिष्ठा पा लेता है, तब वैसे रसादि स्थलों में तृतीय कक्षा का अर्थ चलता है और वहाँ ध्वनि की स्थिति होती है—व्यंजनावृत्ति कार्य करती है।"

इस प्रकार सर्वत्र रसों की व्यङ्ग्यता ही होती है—प्रथम कक्षा में अलग-अलग पदार्थों की वाच्यदशा, द्वितीय में उनका अन्वय (तात्पर्यार्थ) और तदनन्तर तृतीय कक्षा में रस-ध्वनि मान्य है। वस्तु और अलंकार कहीं वाच्य और कहीं व्यङ्ग्यरूप में देखे जाते

---

१. धनिक वृत्तिपर्याय मान कर 'शक्ति' का प्रयोग करते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से व्यंजना शब्द-वृत्ति तो है, पर शब्द-शक्ति नहीं—'शक्ति' और 'अभिधा' शब्द पर्याय हैं।

हैं तथा जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानरूप से प्रतीति होती है, वहीं ध्वनि (उत्तम काव्य) होता है, प्रधानता के अभाव वाले स्थलों में गुणीभूत व्यङ्ग्य (मध्यम काव्य) रहता है। अतः आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

"जहाँ अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थ अथवा शब्द उस व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करते हैं, वह काव्यविशेष मनीषियों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है।"

"परन्तु जहाँ अन्य वाक्यार्थ की प्रधानता होती है और रसादि व्यङ्ग्य अंग (गौण) रहते हैं, उस काव्य में रसादि अलंकार हो जाते हैं—ऐसा मेरा मत है।"

जैसे—

उपोढरागेण विलोलतारकं
तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा
पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

अर्थात् राग (लाली तथा प्रेम) से युक्त चन्द्रमा ने चञ्चल तारकों (नक्षत्रों तथा कनीनिकाओं) वाले रात्रि के मुख (सन्ध्या काल तथा वदन) को इस प्रकार ग्रहण किया कि उस (रात्रि-सुन्दरी) का सारा तिमिररूपी वस्त्र रागवश पहले ही खिसक गया और वह उसे लक्षित न कर सकी।[1]

उस ध्वनि के विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य दो भेद हैं। अविवक्षित वाच्य दो प्रकार का होता है—अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य और अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य। विवक्षित वाच्य के भी दो प्रकार हैं—असंलक्ष्य-क्रम तथा क्रमद्योत्य (लक्ष्यक्रम)। इन भेदों में रसादि असंलक्ष्यक्रम ध्वनि है, जब व्यङ्ग्य की प्रधान प्रतिपत्ति होती हो, अन्यथा अङ्ग या गौण रूप से रसादि की प्रतीति में रसवत् अलंकार होता है।

नान्दी टीका

यहाँ तक धनिक ने ध्वनिमत की स्थापना की है अब आगे उसका खण्डन कर के तात्पर्यमत की स्थापना करेंगे।

अत्रोच्यते—

३७. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः॥ ३७

---

१. ध्वन्यालोक १।५३ पर समासोक्ति का यह उदाहरण है। यहाँ स्त्री-पुरुष के काम व्यापार की व्यञ्जना प्रधान नहीं है, प्रत्युत सन्ध्या का वाच्य अर्थ ही प्रधान है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ गौण होकर अङ्ग बन गया है, अतः शृङ्गार रस अलंकार बन गया है।

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियेषु च—'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ, क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः।

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्–कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः। तथा हि पौरुषेमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्-अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत्। काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दाद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत्काव्य-वाक्यं यदीयंताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतेः, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः।

ईदृशे च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः। यथावोचाम काव्यनिर्णये—

'तात्पर्यान्तरिते वाक्ये व्यंजकत्वं न च ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १
विषं भक्षय पूर्वोऽयं समौ तत्परतादिषु।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥ २
ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ ३
एतावतैव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ ४
भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम्।
निर्व्यापृति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥ ६

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ ७ इति ।

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि ? भाव्य-भावकसम्बन्धः । काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः । ते हि स्वतोऽभवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते ।

न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात् । किञ्च मा चान्यत्र तथास्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात् । तदुक्तम्—

'भावाभिनयसम्पन्नान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः ॥'

ना० शा० ६.३४

कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः शब्देभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतिपत्तिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाग्रे वक्ष्यामः ।

ध्वनिमत की पूर्वोक्त स्थापना का खण्डन करते हुए धनंजय कहते हैं—

३७. जिस प्रकार वाच्य क्रिया कारकों से युक्त होकर अथवा प्रकरणादि से बुद्धिस्थ रह कर भो कारकयुक्त होकर वाक्यार्थ बनती है, उसी प्रकार स्थायी भाव विभावादि से युक्त होकर (वाच्य बुद्धिस्थ रूप में) रस बनता है[1] ॥ ३७

अवलोक—यथालौकिकवाक्येषु—

जैसे, कभी ऐसे लौकिक वाक्य होते हैं जिनमें क्रिया श्रूयमाण (वाच्य रूप में

---

१. वाक्य की दो स्थितियाँ देखी जाती हैं—एक वह जिसमें क्रिया और कारक दोनों उपस्थित रहते हैं जैसे 'जलं देहि' । दूसरी स्थिति वह हो सकती है जिसमें क्रिया अनुक्त हो और प्रकरणवश उसे बुद्धि में लाकर वाक्यार्थबोध हो; जैसे 'जलम्' कहने पर प्रकरणवश 'देहि' क्रिया बुद्धिस्थ होकर वाक्यार्थ पूरा करती है । उसी प्रकार स्थायी भाव भी कहीं वाच्य हो सकता है—जैसे 'दुष्यन्तस्य शकुन्तलायां रतिः' कहें तो 'रति' स्थायी वाच्य है; परन्तु एक स्थिति ऐसी हो सकती है, जब स्थायी बुद्धिस्थ रह कर वाक्यार्थ पूरा करे—जैसे, 'दुष्यन्तः शकुन्तलामनिमेषं पश्यति ।' यहाँ रति बुद्धिस्थ है और तात्पर्यवृत्ति से आकर वाक्यार्थ पूर्ण करती है ।

धनंजय दोनों स्थितियों में अन्तर नहीं कर पाते । वे मानते हैं कि वाच्य रति और बुद्धिस्थ रति दोनों से शृंगार की निष्पत्ति होती है, जब कि ध्वनिमत अनुभावों से व्यक्त बुद्धिस्थ रति में ही रस मानता है ।

प्रयुक्त) होती है—'गामभ्याज' (गाय ले जाओ) ऐसा ही वाक्य है और कभी ऐसे वाक्य भी प्रयुक्त होते हैं, जिनमें क्रिया अश्रूयमाण रहती है—'द्वारं द्वारम्' ऐसा ही वाक्य है, जिसमें 'पिधेहि' (बन्द करो) क्रिया उच्चारित नहीं है। अतः कहीं स्वशब्द (क्रिया पद) का उपादान है, परन्तु कहीं उपादान न होने पर प्रकरणादि बल से स्वतः बुद्धि में स्फुरित होकर क्रिया ही कारक से युक्त होकर वाक्यार्थ बनाती है। इसी प्रकार काव्यों में भी होता है कि कहीं रत्यादि स्थायी भाव का स्वशब्द से उपादान (ग्रहण) होता है। जैसे,

'प्रीत्यै नवोढा प्रिया'

(नवोढ़ा प्रेयसी प्रीतिदात्री होती है)

इस वाक्य में प्रीति शब्द रतिपर्याय होकर कथित है और रसप्रतीति होती है, जबकि दूसरे स्थल ऐसे हो सकते हैं, जिनमें कहीं प्रकरणादिवश से और कहीं नियताभिहित विभावादि के अविनाभाव से रसिक के चित्त में साक्षात् रस रूप परिणाम लेता हुआ रत्यादि स्थायी भाव शब्दों से लाये हुए विभावानुभावव्यभिचारिभावों से सहृदय के संस्कारवश (वासना द्वारा) परम प्रौढता (उत्कर्ष) को प्राप्त करता हुआ वाक्यार्थ बनता है।[1]

नान्दी टीका

वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ से अभिप्राय है वह अर्थ जो व्यञ्जना की अपेक्षा नहीं रखता अपितु क्रिया-कारक-सम्बन्ध रूप तात्पर्य वृत्ति से आता है। धनिक कहना चाहते हैं कि रस व्यङ्ग्यार्थ न होकर वाक्यार्थ है—तात्पर्य बोधित अर्थ है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि कुमारिल मीमांसा की तात्पर्य-वृत्ति क्रिया-कारक-सम्बन्ध रूप अन्वय मात्र का बोध कराती है, जिससे वाक्यार्थ-बोध होता है, परन्तु उसी तात्पर्य-वृत्ति से रसरूप अर्थ का बोध सुकर मानने वाले धनिक उसे व्यञ्जना का स्थानापन्न मान कर चलते हैं। जब व्यञ्जना का कार्यभार तात्पर्य वृत्ति ले लेती है, तब नाम मात्र का विवाद बचता है, क्योंकि जो कार्य व्यञ्जना का है, वही तात्पर्य का मान लेने पर उतने ही भेदोपभेद भी करने होंगे, परन्तु वैसा कुछ न करके तात्पर्यवादी आचार्य एक ओर कुमारिलमत का उल्लङ्घन करते हैं तो दूसरी ओर ध्वनिमत के प्रति अपनी असहमति प्रकट करते हैं।

---

१. अविनाभाव नियत सम्बन्ध को कहते हैं—धान्य और पुआल में ऐसा ही सम्बन्ध है। धान्योत्पादन कहने पर अर्थापत्ति से पुआल का उपादान स्वतः ज्ञात होता है। इसी प्रकार विभावादि और रत्यादि में अविनाभाव है। जब विभावादि नियत होने से उक्त होते हैं, तब रत्यादि की प्रतीति स्वतः हो जाती है और वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ बन जाता है।

अवलोक—न च अपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्

(धनिक व्यंजनावादी की ओर से प्रश्न उठाते हैं—) तात्पर्य वृत्ति (जिसे धनिक शक्ति कह रहे हैं) कार्यावसाना है—पदार्थों का अन्वयन करके पदार्थ सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ देकर विरत हो जाती है, वहीं कार्य का अन्त हो जाता है। इसके विपरीत रत्यादि जब पदार्थ (पदबोध्य अर्थ) ही नहीं है, तब वे वाक्यार्थ कैसे हो सकते हैं। इसका उत्तर इस प्रकार है। चाहे पौरुषेय लौकिक वाक्य हों या अपौरुषेय वैदिक वाक्य, सभी का परम प्रयोजन कार्य होता है। यदि वाक्य की कार्यपरता न हो तो उन्मत्त-प्रलाप के समान वह अग्राह्य हो जायगा। काव्य शब्दों का कार्य (प्रयोजन) आत्मानन्द (रस) की प्रतीति ही है, अन्य कोई प्रयोजन ज्ञात नहीं होता—जहाँ काव्य है, वहाँ रस है, रसाभाव में काव्याभाव है, यही अन्वयव्यतिरेक है, जिससे अनुमित होता है कि प्रतिपाद्य (अर्थ) और प्रतिपादक (काव्य शब्द) सहृदय की प्रवृत्ति के विषय हैं तथा एकमात्र निर्विशेष सुखास्वाद (रसास्वाद) के अतिरिक्त उनका कोई अन्य प्रयोजन नहीं। आनन्द की उद्भूति (प्रतीतियोग्यता) का कारण विभावादि सामग्री से युक्त स्थायी भाव ही जाना जाता है। अतः वाक्य की अभिधान शक्ति रस से आकृष्ट होती हुई, रसपर्यवसान प्राप्त करती है, जिसका कारण रसरूप अर्थ के लिए अपेक्षित विभावादि का प्रतिपादन है। ऐसी स्थिति में विभावादि पदार्थ के स्थान पर हैं जिनसे सम्बद्ध रत्यादि भाव वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) बनता है। इस प्रकार जिस रस का काव्य-वाक्य होता है, उसी के पदार्थ रूप विभावादि और वाक्यार्थ रूप स्थायी भाव हैं।

नान्दी टीका

मीमांसा दर्शन का यह सिद्धान्त है कि 'सर्वं वाक्यं कार्यपरम्' (सम्पूर्ण वाक्य में कोई-न कोई कार्य प्रधान होता है)। इसके अनुसार रसात्मक वाक्य का कार्य या प्रयोजन रस ही होता है, विभावादि योजना वाच्य होकर भी पदों का कार्य करती है—पदस्थानीय होती है और स्थायी वाक्यस्थानीय होता है—वाक्य का कार्य करता है और रस वाक्यार्थ बन जाता है। धनंजय की कारिका और धनिक का अवलोक यही स्पष्ट करते हैं। परन्तु इस प्रकार पद और वाक्य के स्थान पर वाच्यरूप विभावादि तथा अवाच्यरूप स्थायी भाव को मानने की व्यवस्था मूल तात्पर्य सिद्धान्त में नहीं है। एतदर्थ यह मान कर चलना पड़ता है कि अनुक्त स्थायी का अध्याहार कर लिया जाता है. जबकि अध्याहार पदार्थ का होता है, पूरा वाक्य (वाक्यस्थानीय स्थायी भाव) यहाँ अध्याहरणीय बनाया गया है, जो भ्रान्ति प्रतीत होती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अरसिक वाक्यार्थ समझ कर भी रसस्वादन नहीं कर पाते। इसका कोई समाधान नहीं किया गया है। तात्पर्यार्थ उच्चरित या अध्याहृत पद-पदार्थ से बनता है, जबकि रस वाक्य में स्थायी सर्वथा अनुच्चारित रहता है।

धनिक का स्पष्टीकरण है—

अवलोक—न चैवं सति गीतादिवत् सुखजनकत्वेऽपि

ध्वनिवादी का प्रश्न है कि जैसे, सुखजनक होते हुए भो गीतादि में वाच्य (अर्थ) और वाचक (पद) के सम्बन्ध का कोई उपयोग नहीं होता, उसी प्रकार रसस्थल में भी वाच्यवाचकभाव का क्या उपयोग रह जाता है ? (जैसे, संगीत में पदस्थानीय षड्जादि स्वर हैं और वाक्यस्थानीय रागयोजना होती है, उससे सहृदय सुख प्राप्त करता है, पद या वाक्य भी वहाँ अनावश्यक होते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी क्यों न माना जाय, जहाँ पद का कार्य विभावादि और वाक्य का कार्य स्थायी करते हैं ?)

इसका उत्तर यह है—विशिष्ट विभावादि की सामग्री जानने वाले और वाक्य-स्थानीय रत्यादि की भावना (वासना) से सम्पन्न जनों को ही रसरूप स्वानन्द की की उद्भूति होती है। अतः वाच्यवाचकभाव का उपयोग तो है ही। अरसिकों को रसोद्भूति नहीं होती, क्योंकि उनमें स्थायी वासना नहीं होती। अतः कोई अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) नहीं है। आशय यह है कि जो अरसिक हैं, उन्हें उच्चारित पद-वाक्य के अर्थ की ही अवगति होती है, जबकि रसिक जन वाक्य का रस-तात्पर्य ग्रहण करते हैं।

अवलोक ईदृशे च वाक्यार्थनिरूपणे—

उक्त रीति से वाक्यार्थ निरूपण करने में पूर्वकल्पित (प्रसिद्ध) अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्तियों से ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। अन्य शक्ति (व्यंजना) की कल्पना व्यर्थ प्रयासमात्र है। इस तथ्य को हमने (धनिक ने) काव्यनिर्णय नामक (अपने ग्रन्थ में) स्पष्ट किया है—

(१) जिसे व्यंजनावादी व्यङ्ग्यार्थ कहता है, वह तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं है। अतः ध्वनिकाव्य नहीं होता कि व्यंजना वृत्ति आवश्यक हो। वाक्य से जो अर्थ निकलता है, वह तात्पर्य की परिधि के भीतर ही है।

(२) किमुक्तम्·········त्वविश्रान्तौ—ध्वनिवादी की विप्रतिपत्ति है—अन्योक्ति वाक्य में तात्पर्य वृत्ति से कैसे काम चलेगा ? वहाँ तात्पर्यार्थ अनुच्चारित या अश्रुत रहता है ॥१॥ 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' (विष खा लेना (पर) इसके घर में न खाना) जैसे वाक्य का अर्थ होता है 'विष भोजन से भी बुरा इसके घर में भोजन है' जो मूल अर्थ से असंगत है। अतः दूसरे अर्थ का ध्वनित्व कैसे निरस्त किया जा सकता है?॥२॥ ध्वनि और तात्पर्य का अन्तर भी स्पष्ट है—जहाँ वाक्य अपने अर्थ में विश्राम या पर्यवसान ले चुकता है और फिर अर्थान्तर देता है—वाक्यार्थ पूर्णता पा लेता है, तदनन्तर अन्य अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, वहाँ ध्वनि का क्षेत्र है। इसके विपरीत वाक्यार्थ की विश्रान्ति न होने पर तात्पर्य वृत्ति कार्य करती है ॥३॥

तत्र·····तुलाधृतम्—ध्वनिवादी धनिक का उक्त तर्क अमान्य करते हुए तात्पर्य-वादी धनिक का प्रतितर्क है कि अन्तिम अर्थ तक अर्थ की विश्रान्ति असम्भव है।

तात्पर्य का विश्राम किसी एक सीमा पर हो जाता है—इतने पर ही उसका अन्त है, इसमें क्या युक्ति हो सकती है ? कार्य या प्रयोजन की प्रतीति तक तात्पर्य का प्रसार है । तात्पर्य वृत्ति कुछ तराजू पर तोल कर नहीं प्रस्तुत होती है ।।४

ध्वनिवादी पुनः युक्ति प्रस्तुत करता है—"हे धर्मात्मा, आश्वस्त होकर घूमो, वह कुत्ता उस नदीकुञ्जवासी सिंह द्वारा मार डाला गया" इस वाक्य में भ्रमण ही वाच्य है, कोई वर्जन नहीं किया है । तब पूरा वाक्य निषेध तक कैसे पहुँचता है । (विना व्यञ्जना वृत्ति के निषेध नहीं आ सकता और कुलटा भ्रमण निषेध चाहती है कि उसके स्वच्छन्द विहार में बाधा न आए ।) ।।५

इस प्रश्न पर तात्पर्यवादी उत्तर देता है—यदि वक्ता की अपेक्षा की पूर्ति होने से ही कथ्य वस्तु की विश्रान्ति होती है तो जब तक वक्ता के विवक्षित की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक वाक्यार्थरूप तात्पर्य की अविश्रान्ति क्यों न मानी जाय ।।६

पुरुषोक्त वाक्य तो शिक्षा (वक्ता की कथनेच्छा) के पराधीन रहता है । अतः वक्ता के अभीष्ट अर्थ तक काव्य का तात्पर्य मानना संगत है ।।७

अवलोक—अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्य-व्यंजकभावः ।

अतः काव्य के साथ रसादि का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव न होकर भाव्यभावक-सम्बन्ध है, क्योंकि काव्य भावक है, रसादि भाव्य है । वे रसादि स्वतः होते हुए ही भावकों (रसिकों) में विशिष्ट विभावादि से युक्त काव्य द्वारा भावित होते हैं ।

यह प्रश्न उठाना व्यर्थ है कि काव्येतर शब्दों में भाव्यभावक सम्बन्ध नहीं होता तो काव्य शब्दों में भी वैसा ही होना चाहिए । भावनाव्यापारवादियों द्वारा वैसा ही मान्य किया गया है (कि काव्य शब्द रसादि के भावक होते हैं) । और काव्येतर स्थलों में भावकत्व न हो तो भी काव्य में उसे अन्वयव्यतिरेक से ज्ञात किया जा सकता है (—जहाँ काव्य है वहाँ भावकत्व है, जहाँ भावकत्व नहीं वहाँ काव्य नहीं) । अतः भरत का कथन है—

"भावाभिनय (अनुभाव) के सम्बन्ध वाले रसों को भावित करने के कारण नाट्य-योजकों द्वारा इन्हें भाव कहा जाता है ।"

अवलोक— कथं पुनरगृहीत सम्बन्धेभ्यः

अब प्रश्न उठता है कि जब तक सम्बन्ध रूप शब्दशक्ति का ज्ञान न हो तब तक पदों से स्थायी भाव आदि की प्रतीति कैसे हो सकती है । इसका उत्तर यही है कि लोक में वैसी चेष्टाओं से युक्त स्त्रीपुरुषादि में रत्यादि की अवश्यंभाविता देखने से यहाँ भी वैसी रचना होने पर रत्यादि के साथ अवश्यंभावी चेष्टादि के प्रतिपादक शब्दों के श्रवण से वाच्यार्थ के साथ अवश्यंभावी रत्यादि की लाक्षणिक प्रतीति हो जाती है । काव्यार्थ रस का भावक होता है, इसे आगे कहा जायगा ।

नान्दी टीका

तात्पर्य वृत्ति से रत्यादि स्थायी भाव वाक्यार्थरूप काव्यार्थ बनते हैं और उनकी रसात्मक निष्पत्ति भाव्य-भावक सम्बन्ध से होती है। इस प्रकार अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तात्पर्य और भावकत्व वृत्तियाँ भी धनञ्जय और धनिक मान्य करते हैं। इन में प्रथम तीन सामान्य वृत्तियाँ हैं जो काव्य और काव्येतर में व्याप्ति रखती हैं जबकि भावकत्व केवल काव्य-व्यापार है।

यहाँ भट्टनायक के भावकत्वव्यापार से इस भावकत्वव्यापार का अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। भट्टनायक भावकत्व और भोजकत्व दो विशिष्ट काव्य-व्यापार मानते हैं। उनके अनुसार भावकत्व साधारणीकरण व्यापार का नाम है जिससे विभावादि और स्थायी भाव साधारणीकृत होकर रसरूप लेते हैं, फिर सत्त्वोद्रेकरूप भोजकत्व-व्यापार से सहृदय को आस्वाद होता है। इसके विपरीत 'दशरूपक' के इष्ट भावकत्व से रसास्वाद होता है।

धनञ्जय रस की निष्पत्ति तात्पर्य वृत्ति द्वारा मानते हैं। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथादि महान् आचार्य व्यञ्जना से ही रस मानते हैं।

धनञ्जय का मत है कि वाक्य से जो कुछ अर्थ मिलता है, उसकी-चरम परिणति रस में होती है। रस वाक्यार्थ है। यह वाक्यार्थ तात्पर्य की परिधि से बाहर नहीं है, क्योंकि वाक्य रस के लिए ही प्रयुक्त है — यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।

रस तात्पर्य वृत्ति से निष्पन्न है या व्यञ्जना से—यह विषय नाट्यशास्त्र से दूरतः सम्बद्ध है।

३८. रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः॥ ३८
३९. द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात्॥ ३९

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायी भावः स इति निर्दिश्यते। स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसः। रसिकवर्ती वर्तमानत्वात, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमुच्यते। तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समतैव स्वादं प्रति विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव। किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम्। स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेत्, न रसिकानां स्वादः। सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्। एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम्। अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते प्रदीपेनेव घटादि। न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्यस्वभावम्। भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकादिषु रसा इत्यावेदितमेव।

३८. वही (तात्पर्य वृत्ति से उपस्थापित) स्थायी भाव रस होता है, क्योंकि वही आस्वाद्य होता है और रसिक में वर्तमान होकर ही स्थायी आस्वाद्य बन पाता है। (भट्टलोल्लटादि-संमत) अनुकार्यगत स्थाय रस नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह (वर्तमान न होकर) अतीत होता है तथा काव्य का रस रामादि अनुकार्य के लिए नहीं होता ॥ ३८

इसके अतिरिक्त यदि अनुकार्य के स्थायी को रस माना जाय तो (वह लौकिक होगा और) दर्शक को लज्जा, ईर्ष्या, राग और द्वेष की प्रतीति का प्रसङ्ग होगा, जैसा अपनी रमणी से आलिंगित किसी लौकिक पुरुष को देखने से होता है ॥ ३९

काव्य के अर्थ (तात्पर्य) से उपप्लावित या उपस्थापित तथा रसिक में वर्तमान रत्यादि स्थायी भाव ही रसरूप में निर्दिष्ट किया जाता है, क्योंकि वह स्थायी स्वादनीयता को प्राप्त कराया जाता है—वही अतिशय आनन्दरूपसंवेदन है। वह रस रसिक में रहता है, क्योंकि वहीं वह वर्तमान रहता है। अनुकार्य रामादि का स्थायी रस नहीं हो सकता क्योंकि रामादि अतीत होते हैं (अतः उनका स्थायी भी वर्तमान न होकर अतीत होता है)।[1]

---

१. पातञ्जल महाभाष्य में कहा गया है कि शब्द में अतीत को भी वर्तमानरूप दिय जा सकता है। अतः अतीत कंस, रावण आदि की शाब्दिक वर्तमानता अक्षुण्ण रहती है। इस तथ्य को भर्तृहरि ने इस प्रकार लिया है—

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते। (वाक्यपदीय)

अर्थात् नाट्यादिगत कंसादि पात्र शब्दरूप उपाधि से उपहित (अवच्छादित) होकर दर्शक या रसिक की बुद्धि में आकार लेते हैं और प्रत्यक्षवत् या वर्तमानवत् प्रतिभास देते हैं। अतः दर्शक उन्हें वध आदि क्रियाओं का कारक मान लेता है। इस प्रकार निश्चित होता है कि अतीत पदार्थ भी शब्दगत आकार लेकर वर्तमानता ग्रहण कर लेते हैं और तब लोल्लट के अनुसार भी कहा जा सकता है कि अतीत अनुकार्य शब्दाकार में वर्तमानता पाकर सहृदय द्वारा ज्ञेय बनता है और अनुकार्य का स्थायी ही रसरूप से आस्वादनीय बनता है। इस पर धनिक का विचार आगे द्रष्टव्य है।

अवलोक—अथशब्दोपहित इत्यादि ।

हाँ, अनुकार्य शब्द से उपहित रूप लेकर अतीत होता हुआ भी वर्तमानवत् भासित होता है। तथापि उस अवभास को हम लोग (सहृदय) अनुभव नहीं करते। अतः वह आस्वाद की दृष्टि से अक्षत् (अवर्तमान) के तुल्य ही ठहरता है—विभाव रूप से रामादि अनुकार्य का वर्तमानवत् अवभासन तो हमें भी मान्य है। सबसे बड़ी बात (लोल्लटादि के विरुद्ध) तो यह है कि कविजन रामादि (अनुकार्य) में रसजनन हेतु काव्यरचना नहीं करते, अपितु सहृदयों को आनन्दित करने के प्रयोजन से काव्य में प्रवृत्त होते हैं। वह आनन्द (रस) सभी भावकों (सहृदयों) के स्वसंवेदन (स्वानुभूति) से ही सिद्ध या प्रमाणित होता है (अनुकार्य की अनुभूति से नहीं)।

अवलोक—यदि चानुकार्यस्य रामादेः ।

यदि अनुकार्य रामादि का शृंगार हो तो नाटकादिगत उस (शृंगार) के दर्शन में ऐसा कुछ होगा, जैसा लौकिक शृंगारी नायक को अपनी कान्ता से संयुक्त देखने पर प्रतीत होता है कि 'यह शृंगारी है'। प्रेक्षकों को यह लौकिक प्रतीति तो हो सकती है, पर रसास्वाद नहीं हो सकता। इसके विपरीत सज्जनों को लज्जा तथा अन्य जनों को ईर्ष्या, अनुराग, अपहरण की इच्छा आदि का प्रसंग उपस्थित होगा (जैसा लोक में देखा जाता है)। इस तर्क के आधार पर रसों का व्यंग्य होना भी निरस्त हो जाता है (क्योंकि व्यंग्य होने पर भी लौकिकता यथावत् है)। व्यञ्जना के विरुद्ध एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह भी है कि जो वस्तु अन्य कारण से सत्तालाभ कर चुकी होती है, वही अन्य द्वारा व्यक्त होती है; जैसे, दीपक से घट व्यक्त होता है (वह पहले से सत्तावान् है, तभी दीपक से व्यक्त होता है)। रस के विषय में यह बात नहीं है, क्योंकि रस तो पहले से सत्तावान् नहीं है, उसका स्वरूप तो विभावादि द्वारा निष्पादित होता है और उसी क्षण उसकी अभिव्यक्ति उन्हीं विभावादि को व्यञ्जक मान कर कैसे हो सकती है? प्रेक्षकादि में विभावादि द्वारा रस भावित होते हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है।

नान्दी टीका

अभिव्यक्तिवादी सहृदय में वासनारूप से स्थित स्थायी भाव की व्यञ्जना मानता है, जो स्थायी पहले से चित्त में सत्तावान् होता है। विभावादि से व्यक्त होकर वह स्वाद में उतरता और रस नाम पाता है। इससे पूर्व अव्यक्त रहता है। जैसे, अन्धकार में सत्तावान् घट अव्यक्त रहता है और प्रदीप से व्यक्त होकर अनुभव में आता है, उसी प्रकार चित्त में सदा सत्ता रखने वाला वासनात्मक स्थायी भाव विभावादि से व्यक्त होकर ही रसरूप से अनुभाव्य बनता है। वासना वैयक्तिक नहीं होती, वह तो व्यापक तत्त्व है। अतः उसमें स्वकीयता या परकीयता के भाव का उदय ही नहीं होता—यही ध्वनिमत का सार है, जिसे ग्रन्थकार ने उपेक्षित कर अपने मत की नींव डाली है।

रस विभावादि से भावित होता है, यह कह देने भर से लज्जा आदि का निरास नहीं हो सकता। भावित होना मानने पर भी लौकिकता का उल्लेख हो सकता है और सहृदय आस्वादविमुख रह सकता है। अतएव ध्वनिवादी सदा कहता है—

वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो रसः।

लौकिकता का आ जाना विघ्न है, जो व्यक्त मानें या भावित, दोनों के साथ संभव है और उस विघ्न से मुक्त होकर ही रस का आस्वाद किया जा सकता है।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः? कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेन विरोधः? उच्यते—

४०. धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४०

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ज्ञात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि? सर्वलोकसाधारण्यात् स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधयो धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिन्यो भवन्ति।

अब प्रश्न उठता है कि सामाजिकगत रसों में विभाव कौन होता है? सीता आदि देवियों के विभाव होने से विरोध कैसे आता है? इसका उत्तर इस प्रकार है—

४०. रामादि अनुकार्य धीरोदात्तादि अवस्थाओं का प्रतिपादन करते हैं (जो लोकसिद्ध हैं और इस प्रकार वे रत्यादि स्थायी भावों को विभावित कर विभाव नाम पाते हैं। उनके द्वारा विभावित रत्यादि का आस्वाद रसिकों को होता है ॥४०

कवि लोग योगियों के समान ध्यान दृष्टि से देख कर, इतिहास के समान, यथा घटित रामादि की अवस्थाओं का वर्णन नहीं करते। प्रत्युत, लोकमात्रसामान्यता से अपनी कल्पना द्वारा उन्हें मानस-सन्निधि में लाते हैं। फलतः वे धीरोदात्तादि अवस्थाएँ कहीं आश्रय मात्र देने वाली होती हैं।

४१. ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः।

किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत्? उच्यते—

४१. वे ही धीरोदात्तादि अवस्थाएँ विशेष (व्यक्तित्व आदि) का त्याग कर रस का कारण बनती हैं।

काव्य में 'सीता' आदि शब्द जनकपुत्रीत्व आदि विशेष धर्मों का त्याग कर स्त्रीमात्रवाचक रह जाते हैं, तब कौन-सा अनिष्ट करेंगे?[1]

१. उनको पूज्यादि मानने से उनकी रति के दर्शन में जो लज्जा हो सकती है, वह नहीं रह जाती, जब उन्हें स्त्री मात्र ही समझ लिया जाता है। इस प्रकार उनकी रति के दर्शन में अशिष्टता के कारण अनिष्ट का परिहार हो जाता है।

इन सीतादि के काव्य में ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न का उत्तर आगे दिया जा रहा है—

क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥४१

४२. स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः । किं तर्हि ? प्रतिपादितप्रकारेण(उपयोगः ।) लौकिकरसविलक्षणत्वात् नाट्यरसानाम् । यदाह—'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' इति । ना० शा० ६.१५

"जिस प्रकार मिट्टी के बने हाथी आदि से खेलते हुए बालकों का अपना उत्साह ही आस्वादित होता है, उसी प्रकार श्रोताओं का (अपना उत्साह) अर्जुनादि (अनुकार्यों) से आस्वादित होता है ॥४१"

अभिप्राय है कि काव्य में लौकिक शृङ्गारादि के समान स्त्री आदि विभावों का उपयोग नहीं होता, प्रत्युत ऊपर बतायी हुई रीति से उपयोग होता है, क्योंकि नाट्यरस लौकिक रसों से विलक्षण होते हैं—जैसा भरत ने कहा है कि आठ नाट्यरस मान्य हैं ।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४२

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवेत् । तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् । काव्यार्थभावनाया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते ।

"काव्यार्थ (रस) की भावना का आस्वाद नर्तक (नट) को भी निवारित नहीं है ॥४२"

अर्थात् नट भी वहाँ लौकिक रस से रसवान् नहीं होता, क्योंकि भोग्य रूप से अपनी स्त्री का ग्रहण नहीं करता । अतः काव्यार्थ की भावना में हम सभी के समान काव्यरस का आस्वाद नर्तक को भी हो सकता है ।

नान्दी टीका

नट को रस का आस्वाद होता है—धनञ्जय की यह मान्यता सर्वथा निर्मूल है । यदि वह रसापन्न होगा तो वह अभिनय करने में असमर्थ हो जायेगा ।

अभिनवगुप्त ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जैसे पात्र में मधुर रस रखा हो तो पात्र को उसके माधुर्य की परख नहीं होती । वैसे ही नाटक के पात्र नर्तक को भी रस की प्रतीति नहीं होती । वह तो रस का साधक है, आस्वादक नहीं ।

कथं च काव्याद् रसास्वादोद्भूतिः, किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

४३. स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।

विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥ ४३

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ ४४
४५. अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।

काव्यार्थेन = विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे = अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः । तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन सम्भेदभेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद्यथा—शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति । तत्रान्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः । अत एव च—

'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥' ना० शा० ६.३९

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितः । न कार्यकारणभावाभिप्रायेण । तेषां कारणान्तरजन्यत्वात् ।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः ।' ना० शा० ६.४०.

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणात् । अवधारणमप्यत एव 'अष्टौ' इति । सम्भेदानां तावत्त्वात् ।

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदात् आनन्दोद्भव इति करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुःष्यात् ? तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति । न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत् । किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको तथा प्रहरणताडनादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुणः । तथाहि—अत्रोत्तरोत्तरं रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि च लौकिककरुणवद्दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत् । अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपतितेष्टलौकिकवैक्लव्यादिवत् प्रेक्षकेषु प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव ।

काव्य से रसास्वाद का उद्भव कैसे होता है और उसका स्वरूप क्या है ? इसे स्पष्ट किया जा रहा है—

४३. "काव्यार्थ के संसर्ग से तथा आत्मानन्द से उत्पन्न स्वाद विकास, विस्तर, क्षोभ और विक्षेप से चार प्रकार का होता है ॥ ४३

४४. 'शृङ्गार और हास्य में मन का विकास, वीर और अद्‌भुत में विस्तार, बीभत्स और भयानक में क्षोभ तथा रौद्र और करुण में विक्षेप होता है ।। ४४

४५. अतएव शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्‌भुत, बीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण को उत्पन्न कहा गया है तथा इसी कारण आठ रसों का ही अवधारण (नाट्यशास्त्र में) किया गया है ।

विभावादि के संसर्ग से युक्त स्थायी भाव ही काव्यार्थ है । उससे भावक के चित्त का संभेद या परस्पर संगमन होता है, जिससे स्वकीयता और परकीयता का भेद मिट जाता है । फलतः जो अतिप्रवल स्वसंवेदन रूप आनन्द का उद्भव होता है, यही रसास्वाद है । यद्यपि वह स्वाद सामान्य रूप होता है, तथापि स्थायिविशेष के निश्चित विभावादि रूप कारण से जनित होने वाले उक्त संगमन से चार प्रकार की चित्तभूमियाँ वनती हैं—जैसे शृङ्गार में विकास, वीर में विस्तर, वीभत्स में क्षोभ और रौद्र में विक्षेप । अन्य चार हास्य, अद्‌भुत, भयानक और करुण भी जब अपनी-अपनी विभावादि-सामग्री से परिपुष्ट होते हैं, तब उनके भो वे ही चार, विकासादि रूप चित्त के संभेद क्रमशः होते हैं । अतएव भरत ने यह कह कर कि—

"शृङ्गार से हास्य और रौद्र से करुण रस हो सकता है, इसी प्रकार वोर से अद्‌भुत की और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है ।" संभेद को ध्यान में रख कर हेतु-हेतुमद्भाव-सम्बन्ध ही दिखाया है, कार्य-कारण भाव के अभिप्राय से नहीं कहा है क्योंकि बाद वाले चार हास्यादि अन्य कारणों से जनित होते हैं ।

"जो शृङ्गार की अनुकृति है वह हास्य कहा गया है ।"

इत्यादि कथन द्वारा भरत ने विकासादि के संभेदकत्व का ही स्पष्टीकरण किया है । अतएव यह अवधारण है कि आठ ही रस हैं, क्योंकि विकासादि चार से अधिक संभेद नहीं होते ।

माना कि प्रमोदात्मक शृङ्गार, वीर, हास्य इत्यादि में वाक्यार्थ-संभेद से आनन्द का उद्‌भव होता है, परन्तु दुःखात्मक करुणादि में वह आनन्द कैसे हो सकता है ? यह स्पष्ट है कि करुणात्मक काव्य के सुनने से दुःख का आविर्भाव होता है । अतएव रसिकों के भी अश्रुपात आदि प्रकट होते हैं । रस आनन्दात्मक हो तो यह योग्य नहीं (कि अश्रुपातादि हों) ।

उक्त बात अर्ध सत्य कही जाती है (क्योंकि अश्रुपातादि देखे जाते हैं) परन्तु करुणादि का यह आनन्द वैसा ही सुख-दुःखात्मक होता है जैसा कि प्रहरण या ताडन आदि के अवसर पर संभोग दशा के कुट्टमित (हर्षावस्था में भी शिरःकम्पन आदि) में स्त्रियों को आनन्द मिलता है । लौकिक करुण से काव्य का करुण भिन्न होता है । अतः रसिकों की अधिकाधिक प्रवृत्ति देखी जाती है । यदि लौकिक करुण के समान दुःख-रूपता ही काव्य-करुण में भी होती तो उसमें कोई प्रवृत्त हो न होता और तब एकमात्र

करुणरस वाले रामायणादि काव्यों को प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती। इतिवृत्त वर्णन के श्रवण से जो अश्रुपातादि प्रेक्षकों में प्रादुर्भूत होते हैं, वे वैसे ही होते हैं, जैसे युद्धादि में मृत इष्टजन के लिए लौकिक विकलता देखी जाती है। अतः वे अश्रुपातादि विरुद्ध नहीं हैं। अतः अन्य रसों के समान ही करुण भी आनन्दात्मक ही है।

शान्तरसस्य चानभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्यानुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यतया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते।

अतस्तदुच्यते—

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥४५

शान्तो हि यदि यावत्—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः॥

इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावः। तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता। तथा हि—श्रुतिरपि—तं 'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। अथापि तदुपायभूतः शमो (यदि) मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणः विवक्षितस्तर्हि तस्य रूपकेषु न पोषः। काव्ये सम्भावितस्य तस्य च स्वादे मनसो विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

यद्यपि शान्त रस अभिनय योग्य नहीं होता, अतः नाट्य में उसका प्रवेश नहीं है। फिर भी, सूक्ष्म और अतीत आदि सभी वस्तुएँ शब्द द्वारा प्रतिपाद्य हो सकती हैं। अतः वे भी काव्य का विषय हो तो कोई रोक नहीं। अतः शान्तरस के विषय में कहा जा रहा है—

'शम स्थायी भाव का प्रकर्ष (परिपोष) अनिर्वचनीय होता है, क्योंकि मुदिता आदि की योग-सम्बन्धी भावना ही शम रूप होती है ॥४५

क्योंकि शान्त का यदि यह लक्षण है—

'जिसमें न दुःख हो, न सुख, न चिन्ता, न राग-द्वेष और न कोई इच्छा, इसी को मुनिवर ने शान्त रस कहा है, जो सभी भावों में समान रहता है।'

तो उस शान्त रस का प्रादुर्भाव मोक्ष दशा में ही, जब आत्मा को स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, सम्भव है। वह स्वरूप से अनिर्वचनीय है, क्योंकि वेद (उपनिषद्) भी इस आत्मा को 'नेति नेति' कह कर अन्यापोह द्वारा प्रतिपादित करता है—(दृश्य मात्र का निराकरण ही अन्यापोह है जिससे शेष तत्त्व आत्मा है)।

उस प्रकार के अन्यापोह रूप शान्त रस के आस्वादकर्ता सहृदय भी नहीं होते। फिर भी यदि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा वाली चित्तवृत्ति को शम कहा जाय

तो नाट्य में उसका पोष नहीं हो सकता । काव्य में वह संभावित है और तब उसके आस्वाद में मन की विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप की अवस्था ही रहेगी । अतः इन मनोभूमियों के निरूपण से ही शान्त के आस्वाद का भी निरूपण हो जाता है ।

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते—

४६. पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥४६
४७. भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावै रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायी भावो विभावितः—भावरूपतामानीतः स्वदते । स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

अब विभावादि के विषय में अवान्तर काव्य-व्यवहार का प्रकाशन करते हुए प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है—

४६. "चन्द्रमा आदि कारण, (निर्वेदादि सहचारी भाव) और रोमाञ्चादि (कार्य) काव्य के व्यापार से विभाव, संचारी और अनुभाव नाम पाते हैं । उनसे भावित स्थायी आस्वादित होता है और रस कहलाता है ।"

काव्य में अतिशयोक्ति रूप विशेष व्यापार रहता है, जिससे विशेषता प्राप्त कर चन्द्रादि उद्दीपन विभाव, प्रमदादि आलम्बन विभाव, निर्वेदादि व्यभिचारी भाव और रोमाञ्च, अश्रु, भ्रुकुटि, कटाक्ष आदि अनुभाव कहे जाते हैं । ये सब उक्त (अतिशयोक्ति रूप) अवान्तर व्यापार से पदों के अर्थ बनते हैं और उनसे विशेष भावित स्थायी भाव भावरूपता को प्राप्त कराया जाता है तथा आस्वादित होता है । वही रस है, यह पूर्व प्रकरण में बताया जा चुका है ।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते—तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥४७

क्रियते इति वाक्यशेषः ।

विशेष रस लक्षण आगे कहे जा रहे हैं—आचार्य (भरत) ने रत्यादि स्थायी भावों और शृङ्गारादि रसों के विभावादि प्रतिपादन के साथ पृथक् लक्षण कहे हैं । यहाँ तो—

"विभाव की एकता के कारण तथा रस और भाव के अभिन्न होने के कारण लक्षण की एकता (की जा रही है) ॥४७

शृङ्गारः

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥४८

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति रत्युपदेशपरमेतत् । तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

'स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥ १.२६

कलाविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

'हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तौ—
भावे भावे नुदति विषयान् रामबन्धः स एव' ॥२.८

यथा च नागानन्दे—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नास्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥'
१.१५

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे—

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ॥' ३.२६

वेषविभावो यथा तत्रैव—

अशोकनिर्भत्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ति ॥' ३.५३

उपभोगविभावो यथा—

'चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरीकपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमे-
भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः ॥'

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

'जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येतान्येवं मनो मदयन्ति ये ।
ममं तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ।।' १.३८

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ।। २ ३

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे—

'भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्-
गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ।।' १.१८

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ।।' १.३२

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा यत्रैव—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ।।१.३०

४८. रम्यदेश, काल, कला, वेष भोग आदि का आनन्द लेने के द्वारा परस्पर अनुरक्त युवक और युवती की रति प्रमोदात्मिका (आनन्दमय) होती है। उनके अङ्गों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा हर्षाभिमुखी बनी हुई रतिशृङ्गार है। अर्थात् रति नामक स्थायी भाव के विभाव रम्य देशादि हैं और इसके अनुभाव हैं युवती और युवक के अंगों की मधुर चेष्टायें ।४८[१]

---

१. रतिर्नाम प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरण-भोजनवरभवनानुभवनाप्रातिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेत् स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेप-कटाक्षादिभिरनुभावैः । ना० शा० सप्तमाध्यायपृष्ठ ३५० गा० ओ० सी०

इन विषयों को लेकर रचा हुआ काव्य शृंगार के आस्वाद के लिए होता है। यह रति विषयक चर्चा हुई।

उत्तररामचरित में देश के विभाव होने का उदाहरण—राम सीता से पूछते हैं—हे सुन्दरि, उस (प्रस्रवण—) पर्वत पर लक्ष्मण के द्वारा हमारी सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था किये जाने से सुखी हम दोनों के उन दिनों का तुम्हें स्मरण है। वहाँ की सरस जल वाली गोदावरी का तुम्हें स्मरण है। उस गोदावरी के आस-पास हमारे निवास का स्मरण है। कला के विभाव होने का उदाहरण मालविकाग्निमित्र में—परिव्राजिका मालविका के नृत्य की समीक्षा करती है—वाणी को समाविष्ट किये हुए अङ्ग के द्वारा (गीत का अर्थ) पूर्णतः सूचित किया गया। पैरों की गति लय के अनुसार थी। (नर्तकी की) रस में तन्मयता थी। हाथ-पैर की मुद्राओं से व्यक्त अभिनय कोमल था। उसके अभिनय के विविध प्रकारों का अनुसरण करने में भाव दूसरे भाव को प्रेरित करता था। आद्यन्त एक ही रागबन्ध प्रतिष्ठित रहा।

दूसरा उदाहरण नागानन्द से—

नायक मलयवती के वीणावादन की समीक्षा करता है।

दस प्रकार की व्यञ्जना विधि से वाद्य ने स्पष्टता प्राप्त की है। लय भी द्रुत, मध्य और विलम्बित से भिन्न किया हुआ सुबोध कर दिया गया है। इसमें तीन यतियाँ गोपुच्छ आदि क्रमशः निष्पन्न हैं। वाद्य की तीन विधियाँ—तत्त्व, ओघ और अनुगत भली-भाँति प्रकट की गई हैं।

काल के विभाव होने का उदाहरण कुमारसम्भव में—अशोक वृक्ष ने स्कन्ध-प्रदेश से ही उस समय पल्लवों के साथ पुष्पों को उत्पन्न कर दिया। उसने इसकी भी अपेक्षा नहीं की कि नूपुर के रुनझुन वाली सुन्दरी के पाद का प्रहार हो। यहाँ से आरम्भ करके—

अपनी प्रिय भ्रमरी का अनुवर्तन करते हुए भौंरे ने पुष्प के एक ही पात्र में मधु-पान किया। हरिण ने अपनी पत्नी को सींग से खुजलाया और उसने पति के स्पर्श-सुख से आँखें मूँद लीं। वेष का विभाव होने का उदाहरण कुमारसम्भव में—

पार्वती ने पुष्पों का ऐसा आभरण धारण किया, जिसमें अशोक पद्मराग मणि को पराजित कर रहा था, कर्णिकार ने स्वर्णज्योति अपना ली थी, और सिन्दुवार मुक्ताकलाप बन चुका था।

उपभोग के विभाव होने का उदाहरण—हे मानिनि, तुम्हारी आँखों से कज्जल लुप्त हो गया है, होठ पर लगी पान की ललाई चबा ली गई है, गालों पर कबरी शिथिल होकर बिखरी है, अंगों की आभा फीकी पड़ गई है। ऐसा लगता है कि प्रेमी ने कैसे भी उपायों के अनुष्ठान द्वारा तुम्हारी चित्त-भूमि पर बढ़ाये हुए मानरूपी महावृक्ष को तोड़ डाला है।

रति प्रमोदात्मा है। उदाहरण मालतीमाधव में—

नव चन्द्र की कलादि जो भाव हैं, उन्हें बधाई। और भी प्रकृत्या मधुर भाव हैं, जो लोगों के मन को हर्षित करते हैं। मेरे लिए यह जो नायिका है, वह नेत्रों के लिए चन्द्रिका है, मुझे दृष्टिगोचर हुई। यह मेरे जीवन में अद्वितीय महोत्सव रहा।

युवती के विभाव होने का उदाहरण मालविकाग्निमित्र में—राजा नायिका मालविका के रूप का वर्णन कर रहा है—बड़ी आँखों वाला मुख शरत् के चन्द्रमा के समान कान्ति वाला है। कन्धे से बाहु प्रणत हो रहे है। छाती उन्नत और ठोस उरोजों के लिए छोटा पड़ रहा है। बगल घिस कर चिकने बना दिये गये हैं। कमर हथेली में आ जाती है। जघन-प्रदेश सुन्दर नितम्बों से शोभित है। पैर की अँगुलियाँ गोलाई ली हुई हैं। नृत्य-शिक्षक की इच्छानुसार ही इसका शरीर सुश्लिष्ट है।

युवा और युवती दोनों के विभाव होने का उदाहरण—

नगर की निकटवर्ती सड़क पर कई वार चक्कर लगाते हुए साक्षात् काम के समान माधव को भवन-वलभी के ऊँचे वातायन पर खड़ो होकर वार-वार निहारती हुई रति के समान मालती अतिशय उत्कण्ठित होकर शिथिल अंगों से सन्तप्त है।

नायक और नायिका के परस्पर अनुराग के विभाव होने का उदाहरण—माधव कहता है—लटकते नाल वाले कमल के समान मुख को धारण करती हुई वारंवार गर्दन मोड़ती हुई जब नायिका जा रही थी तो सघन भौंहों से युक्त नयनों वाली ने विष और अमृत में सना कटाक्ष मेरे हृदय में गहरा गाड़ दिया।

मधुराङ्ग—विचेष्टित के विभाव होने का उदाहरण—माधव बता रहा है कि मालती की कैसी-कैसी दृष्टियाँ मेरे ऊपर पड़ीं—कभी तो उसकी दृष्टियाँ निश्चल और विकसित थीं, फिर उसकी भौंहें उल्लसित हो उठीं. कभी वे कोमल मुकुलित थीं, कभी कोने तक उनका विस्तार बढ़ चुका था, प्रत्येक वार देखते समय कुछ-कुछ संकुचित दृष्टियों का पात्र मैं बना।

४९. ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति।
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥४९

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिनः अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत् युक्त्या=अङ्गत्वेनोपनिबध्य=मा=नाः शृङ्गारं सम्पादयन्ति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते। प्रकारान्तरेण चाऽविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव। विभागस्तु (शृङ्गारस्य)—

४९. आठ सात्त्विक भाव हैं, आठ स्थायी भाव हैं और ३३ व्यभिचारी भाव

है। ये सब भाव ४९ हुए। योजनाबद्ध रीति से निबद्ध होने पर ये स्थायी भाव का पोषण करते हैं। आलस्य, उग्रता, मरण और जुगुप्सा को शृंगार के आश्रय में समञ्जसित करना समीचीन नहीं है।४९

तैंतीस व्यभिचारी, आठ स्थायी, आठ सात्त्विक भाव—इनका योग ४९ हुआ। ये युक्ति पूर्वक अर्थात् अङ्ग रूप से वर्णित होकर शृङ्गार निष्पन्न करते हैं। आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा, मरणादि को आलम्बन-विभाव में आश्रित करके यदि साक्षात् विन्यस्त किया जाय तो विरोध होता है। यदि इनको बीच-बचावपूर्वक रखा जाय तो विरोध का परिहार हो जाता है—यह पहले ही बता चुके हैं।[1]

५०. अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्य तत्सामान्याभिधायित्वे विप्रलम्भ-शब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः। तथा हि—उक्त्वा तद्व्यतिक्रमे नायिकान्तरानुसरणे च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगः। वञ्चनार्थत्वात् तस्य।

५०. शृंगार तीन प्रकार का होता है—अयोग, विप्रयोग और सम्भोग।

अयोग और विप्रयोग की विशेषताओं के कारण इन दोनों के लिए विप्रलम्भ नाम देने में यह असामञ्जस्य है कि विप्रलम्भ का मुख्य अर्थ छोड़कर उपचरित (लाक्षणिक मात्र) अर्थ लेना पड़ता है। वस्तुतः विप्रलम्भ शब्द का मुख्य प्रयोग नीचे लिखे दो अर्थों में होता है, क्योंकि इस का मूल अर्थ वंचना है—(१) कह कर उल्लंघन करना और (२) अन्य नायिका के पीछे पड़ना। (इन दोनो तत्त्वों का अयोग और विप्रयोग में होना आवश्यक नहीं है।)

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥५०

५१. पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः।

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोगः। पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्देवी-पित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव। दैवाद्गौरीशिवयोरिवासमागमोऽयोगः।

एक मन वाले नई अवस्था के नायक और नायिका का अनुराग मात्र होने पर भी अयोग होता है। इसमें परतन्त्रता के कारण दैववशात् या दूर होने के कारण उन दोनों का मिलन अभी सम्भव नहीं हो पाता।

योग नायक और नायिका का परस्पर स्वीकरण है। उसका अभाव अयोग है। परतन्त्रता से, दूरी के कारण, देवी, पिता आदि के वश में होने के कारण सागरिका

---

१. तेन भिन्नालम्बनाश्रयत्वेनोपनिबन्धनीयानि। एकालम्बनाश्रयत्वेऽपि व्यवधानेनोपनिबन्धनीयानीत्यर्थः। लघु टीका से।

और मालती का वत्सराज और माधव से अयोग रहता है। दैववशात् गौरी और शिव का समागम न होना अयोग है।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ।।५१

५२. स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ।।५२

५३. अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ।।५३

५४. साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिव्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ।।५४

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।।' १.१९

विस्मयो यथा—

'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ।।

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना—
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ।।'१.३१

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि—
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।।५.८६

यथा वा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ।।' ८.२

उस अयोग की दश अवस्थायें होती हैं—अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, ज्वर, जडता तथा मरण। क्रमानुसार इनकी विषमता बढ़ती जाती है।५२

५३. अभिलाष है सर्वांग सुन्दर प्रियतम के लिए स्पृहा (इच्छा)। उसको देखने या सुनने पर विस्मय, आनन्द और साध्वस (उद्वेग) होते हैं।५३

५४. साक्षात्, प्रतिमा, स्वप्न, छाया और माया के माध्यम से परस्पर नायक और नायिका का दर्शन होता है। सखियों के गीत और मागध आदि के गुणगान से श्रवण के द्वारा परिचय होता है।५४

दुष्यन्त कहता है—निस्सन्देह शकुन्तला क्षत्रिय के साथ विवाह के योग्य है क्योंकि मेरा उदात्त मन इसके प्रति अभिलाषी है। सन्देहास्पद विषयों में मन का झुकाव ही प्रमाण है।

विस्मय का उदाहरण

उस सुन्दरी के दो उरोजों को देख कर युवक शिर हिलाने लगा, मानो उन दोनो के बीच डूबी हुई दृष्टि को उपरा रहा था।

आनन्द का उदाहरण विद्धशालभञ्जिका में—

प्राकार के ऊपर दृष्टिपात करो और थोड़ा विचार करो विना आकाश के ही यह कैसा चन्द्र निकल आया है, जिसके हरिण कहीं चले गये हैं? यह नये प्रकार का चन्द्र लवली-फल-पाक रूप उस स्वच्छ ज्योत्स्ना को बिखेर रहा है, जिसे अमृताशी उपवन के चकोर खा रहे हैं।

साध्वस (किं कर्तव्य-विमूढता) का उदाहरण कुमारसम्भव में

काँपती हुई और रसमय गात्र वाली पार्वती शिव को देख कर अन्यत्र रखने के लिए उठाये हुए पैर को ऊपर ही रखो हुई न तो चल ही सकी और न खड़ी ही रही, जैसे मार्ग में पहाड़ से रोके जाने पर आकुल नदी न आगे बढ़ पाती है और न रुकी ही रह पाती है।

दूसरा उदाहरण है—

शिव के पूछने पर पार्वती उत्तर नहीं देती थी, वस्त्र पकड़ने पर चला जाना चाहती थी। विस्तर पर शिव से पराङ्मुख होकर पड़ी थी। फिर भी वह शिव को आनन्द प्रदान कर ही रही थी।

५५. सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम्।

५५. चिन्तादि संचारी भावों को उनके अनुभाव और विभावों के साथ पहले ही बता दिया गया है।

गुणकीर्तन सभा जानते हैं। उसकी व्याख्या नहीं दी गई है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निदर्शितम्।।५५

५६. महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता।

दिङ्मात्रं तु—

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ।।५६

५७. अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

आचार्यों ने नायक, नायिकादि की प्रायः मिलने के कारण दश अवस्थायें वर्णित की हैं । महाकवियों की रचनाओं में अवस्थाओं की अनन्तता मिलती है ।

थोड़ी चर्चा लीजिये—

देखने-सुनने और अभिलाष से औत्सुक्य उत्पन्न होता है । अभीष्ट के न प्राप्त होने पर निर्वेद होता है और अधिक चिन्ता से ग्लानि होती है ।

(औत्सुक्य; निर्वेद, ग्लानि आदि दस अवस्थाओं के अतिरिक्त हैं ।)

प्रच्छन्न कामिता आदि के प्रकरण कामशास्त्र से समझ लें ।

अथ विप्रयोगः—

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ।।५७

५८. मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगः । तस्य द्वौ भेदौ—मानः प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः—प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

नायक और नायिका का परस्पर परिचय और विश्वास बढ़ जाने पर उनका अलग होना विप्रयोग है । विप्रयोग मान और प्रवास के कारण होने से दो प्रकार का है । मान प्रणय और ईर्ष्या विषयक होता है ।

मिले हुए की अप्राप्ति विप्रयोग है । उसके दो भेद हैं— मान और प्रवास । मान-विप्रयोग दो प्रकार का होता है—प्रणयमान और ईर्ष्यामान ।

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ।।५८

प्रेमपूर्वको वशीकारः प्रणयः, तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः । स च द्वयोर्नायकयोर्भवति ।

तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते—

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।

आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥' ३.३७

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥'

उभयोः प्रणयमानो यथा—

'पणअकुविआण दोह्णवि अलिअपसुत्ताण माणइन्ताणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाण को मल्लो'
('प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥')

नायक और नायिका दोनों के कोपाविष्ट होने पर प्रणयमान होता है ।५८

प्रणय है प्रेमपूर्वक परस्पर वशीकरण । उस प्रणय का भङ्ग होना मान है । प्रणयमान नायक और नायिका दोनों का होता है ।

नायक के प्रणयमान का उदाहरण उत्तररामचरित में—

वासन्ती राम से कहती है—इस लतागृह में आप सीता के मार्ग पर दृष्टि डाले प्रतीक्षा कर रहे थे । वह गोदावरी-पुलिन पर हंसों के साथ क्रीडा करती हुई देर तक रह गई थी । आने पर उसने आपको खिन्नमन-सा देखकर कातर होकर कमल-कलिका की भाँति प्रणामाञ्जलि की रचना की ।

नायिका के प्रणयमान का उदाहरण वाक्पतिराज देव से—

पार्वती को प्रणयकुपित देखकर घबरा कर त्रिभुवन-गुरु शिव ने भीति से उन्हें प्रणाम किया । सिर नीचे करने पर अपनी सपत्नी गंगा को देखकर पार्वती ने उन पर पाद प्रहार किया । उस समय शिव का सकपका जाना आप लोगों की रक्षा करे ।

नायक और नायिका दोनों का परस्पर प्रणयमान करना—

प्रणयमान किये हुए दोनों ने बनावटी निद्रा का बहाना करके साँस रोक कर निष्पन्द पड़े हुए कान लगाकर जानना चाहा कि हम दोनों में से कौन अधिक देर तक मान करके जीतता है ।

५९. स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वानुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥ ५९
६०. उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधानुमानिको, दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥६०

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सत्य-न्यासङ्गः श्रुतो वाऽनुमितो दृष्टो वा (यदि) स्यात् । श्रवणं सखीवचनात् यस्या विश्वास्यत्वाच्च ।

यथा ममैव—

'सुभ्रू त्वं नवनीतकल्पहृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृद् ॥'

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य—

'निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ॥'

भोगाङ्कानुमितो यथा शिशुपालवधे—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥'११·३४

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा—

'केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती ।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा ॥'
('केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यामिव प्ररुदिता ॥')

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य—

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवी ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥'

५९. ईर्ष्याकृत मान स्त्रियों को होता है, जब उनका प्रियतम किसी अन्य नायिका से आसक्त हो जाता है और वह क्रोध करती है । नायक का यह व्यवहार सुन कर या अनुमान द्वारा या देखकर परिचेय होता है । सुनना सखी के मुख से होता है ।

६०. आनुमानिक ईर्ष्या मान तीन प्रकार से उत्पन्न होता है—१. स्वप्न में बड़बड़ाने से २. भोग के चिह्न देखने से और ३. गोत्र-स्खलन से । दृष्ट कोटि का ईर्ष्यामान इन्द्रियों के द्वारा साक्षात् ज्ञेय होता है ।६०

ईर्ष्यामान स्त्रियों का तव उत्पन्न होता है, जब उनके पति का दूसरी नायिका से आसक्त होना विदित होता है। अन्य नायिका से आसक्ति सुनकर, अनुमान करके या देखकर ज्ञात होती है। सुनना सखियों की बातों को सुनना है। क्योंकि उनकी बातें विश्वास्य होती हैं। धनिक का श्लोक उदाहरण है—

नायक अपनी मानवती नायिका से कहता है—

हे सुभ्रू, तुम तो मक्खन जैसे हृदय वाली हो। किसी बुरे कुचरे, झूठ ही प्रिय करने का दम्भ भरने वाले, मिठबोले के द्वारा तुम हमारे प्रति चण्डी बनाई गई हो। क्षण भर के लिए हे मृगनयनि, तुम विचार तो करो कि कौन तुम्हारा उपकारी है—क्या धाई की लड़की या हम या तुम्हारी सखी या कोई हमारा मित्र?

उत्स्वप्नायित का उदाहरण रुद्र ने दिया है—

कृष्ण राधा से कहते हैं—हे राधे, तुम व्यर्थ क्यों व्यथित हो? किसने तुमसे यह झूठ कहा कि, मैंने पानी में डूबे-उबे कामुकता से तुम्हारी सखी का आलिंगन किया? सोते समय स्वप्न-परम्परा में कृष्ण की यह वाणी सुनकर किसी बहाने कमला ने कृष्ण के साथ अपने कण्ठग्रह को ढीला कर लिया। वह कण्ठग्रह आप की रक्षा करे।

भोग के चिह्नों का अनुमान करके ईर्ष्यामान

खण्डिता नायिका नायक से उलाहना देती है—अपने दुपट्टे से आप उन अङ्गों को छिपा रहे हैं, जिन पर नायिका के ताजे नख-चिह्न हैं। उसके द्वारा काटे हुए होठ को हाथ से आच्छादित रखते हैं। पर किसके द्वारा वह परिमल गन्ध छिपाया जा सकता है, जो फैलते हुए सभी दिशाओं में आपके ऊपर स्त्रीसंग का डंका पीट रहा है।

गोत्रस्खलन से ईर्ष्यामान का उदाहरण

केली करते हुए नायक के द्वारा गोत्रस्खलन से कैतव को न जानने वाली भोली नायिका कोप कर रही है। अरे दुष्ट नायक, परिहास छोड़ो। तुमने पत्नी को सचमुच रुला दिया।

परस्त्री-सङ्ग को देखकर मानिनी नायिका का मुञ्ज के श्लोक द्वारा उदाहरण—

पार्वती को प्रणय-कुपित देखकर घबराये हुए त्रिभुवन-गुरु शिव ने भीति से उन्हें प्रणाम किया। उनके सिर नीचे करने पर अपनी सपत्नी गंगा को देखकर पार्वती ने उन पर पाद-प्रहार किया। उस समय शिव का सकपका जाना आप लोगों की रक्षा करे।

एषाम्—

६१. यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत्।
सामना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥६१

६२. तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम्।

दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः । ६२
६३. सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ ६३
६४. कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

तत्र प्रियवचः साम यथा ममैव—

'स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः ।
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥'

यथा वा—

'इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥'

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यथा ममैव—

'कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मयातिप्रणयतो
धृतासि त्वं हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुश. ।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥'

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे—

'मुहुरुपहसितामिवालिनादै-
र्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः ॥'७.५५

पादयोः पतनं नतिर्यथा—गाथासप्तशत्याम्

'णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं पउत्थमाणं उम्मोअं त्ति च्चिअ कहेइ ॥'२.८८
(नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥)

उपेक्षा तदवधीरणं यथा किराते—

'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।

आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥'
किंगतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः ।९.३९-४०

रभसत्रासहर्षादे रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥'

६१. पूर्वोक्त ईर्ष्यामान उत्तरोत्तर अधिक गम्भीर होते हैं। (श्रुत से बढ़कर अनुमित और अनुमित से बढ़कर प्रत्यक्ष देख हुए व्यलीक गुरुतर मान के कारण होते हैं।) इनको आगे लिखे छः उपायों से शमन करे—१. साम, २. भेद, ३. दान, ४, प्रणति, ५. उपेक्षा और ६. रसान्तर ।६१

६२. साम है नायिका से प्रिय बातें बोलना। भेद है नायिका की सखी को फोड़ लेना। दान है किसी बहाने आभूषण आदि नायिका को प्रदान करना। नति है नायिका के पैर पर गिर पड़ना।

६३. सामादि उपायों से मान की शान्ति न हो तो उपेक्षा करनी चाहिए अर्थात् उसके मान को अवधीरणा (कोई महत्त्व न देना) हो। खलबली, त्रास या हर्ष आदि उत्पन्न करके नायिका के कोप को मिटा देना रसान्तर नामक उपाय है।६३

६४. स्त्रियों की कोप-चेष्टा की चर्चा पहले ही की जा चुकी है।[1]

साम का उदाहरण है धनिक की उक्ति—

नायक मानिनी नायिका से कहता है—तुम्हारा मुख चन्द्र अपनी स्मित-ज्योत्स्ना से विश्व को उजागर करता है। तुम्हारी दृष्टि चारों ओर अमृत रस प्रवाहित करती है। तुम्हारा शरीर दिशाओं में लावण्य बिखेरता है। हे सुतनु, यह परुषता कहाँ से आज तुम्हारे हृदय से प्रगुणित हो रही है ?

दूसरा उदाहरण है—

नायक नायिका से कहता है— तुम्हारी आँख नीलोत्पल से, मुख कमल से, दाँत कुन्द से, होंठ पल्लव से और अङ्ग चम्पक की पँखरी से बनाकर विधाता ने तुम्हारे चित्त को पत्थर से कैसे बना दिया ?

सखी को फोड़ने (भेद) का उदाहरण धनिक की उक्ति है—

हे सुभ्रु, आज्ञा भङ्ग होने पर भी जैसे-तैसे अतिशय प्रणयपूर्वक तुम हाथ में पकड़ी गई हो। अनेक बार तुमने क्रोध का विसर्जन किया है। आज कोई अन्य ही प्रकार का असीम प्रकोप है जिसको दूर करने की दिशा में प्रिय सखियों की स्निग्ध वाणी भी व्यर्थ जा रही है।

---

१. दशरूपक २.२५-२८

भूषादि के बहाने दान का उदाहरण शिशुपालवध में—खण्डिता नायिका नायक से कहती है—भौंरों के गुञ्जन से उपहसित इस कलिका (कली और कलह) को मुझे किस प्रयोजन से उपहार रूप में प्रदान कर रहे हो ? उस नायिका के घर पर रात्रि में जाकर हे शठ, तुम्हारे द्वारा महान् कलि (कलिका और कलह) दे दिया गया है।

पैर पर गिर कर नति का उदाहरण—नति पैर पर गिरना है। जैसे गाथासप्तशती में पैर पर गिरे हुए नायक के सिर के वाल नूपुर की नोक में फँस गये तो नायिका उनको छुड़ाती हुई मानो सूचना दे रही है कि मेरे हृदय से मान दूर हो गया है।

उपेक्षा नायिका के प्रति उदासीनता है। जैसे किरातार्जुनीय में मानवती नायिका दूती से कहती है—नायक से सब कुछ कह डालो। कुछ भी न उठा रखो।

दूती—हे सखि, स्वामी नायक के प्रति कठोरता ठीक नहीं रहती।

नायिका—अच्छा उन्हें मना कर लाओ।

दूती—अपराधी नायक को मनाने का प्रश्न ही कहाँ ?

नायिका—तुम्हारे जाने से तव कोई लाभ नहीं। नायक के पास जाना समीचीन नहीं है।

दूती—हे सुभगमानिनि, जिसे प्यार करते हैं, उससे मान क्या करना ?

खलवली, त्रास या हर्ष आदि से अन्य रस के मध्यवर्ती वनाने से कोपभ्रंश का उदाहरण है धनिक की उक्ति—

नायक का अपराध प्रकट हो चुका था। नायिका को मनाने के सभी उपाय विफल हो चुके थे। उसने कुछ देर सोचकर तत्काल बनावटी हड़बड़ी के प्रयोग द्वारा कुशल विधि से नायिका को सहसा डराया—इधर पीछे की ओर, पीछे की ओर, यह क्या है ? फिर तो धूर्तनायक ने आलिंगन-पाश में आई हुई वधू को मधुर हास्यपूर्वक प्राप्त किया।

अथ प्रवासविप्रयोगः—

कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता ॥६४

६५. द्वयोस्तत्राश्रु निःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता।

स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥६५

आद्यः कार्यजः समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद्भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिविधः।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा गाथासप्तशत्याम्—

'होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सं।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीआ॥'१.४७

२०

(भविष्यत्पथिकस्य जाया आप्रच्छन-जीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहं गृहात् प्रियविरहसहनशीलाः ॥)

गच्छत्प्रवासो यथामरुशतके—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं वालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥'१२

यथा वा तत्रैव—

'देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।
उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुधः कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥'८८

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥'उ०२३

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेषात्त्रैविध्यमेव युक्तम् ।

नायक और नायिका का कार्यवशात् या हड़बड़ी से या शाप से भिन्न-भिन्न देशों में रहना प्रवास है । उन दोनों के उस समय अनुभाव होंगे—अश्रुपात, निःश्वास, कृशता, बड़े-बड़े केशपाश आदि । कार्यत प्रवास तीन प्रकार का होता है—भावी, वर्त्तमान और भूत । इसका ज्ञान पहले से ही रहता है ।६५

आद्यकोटि का कार्यवशात् प्रवास समुद्र-यात्रा, नौकरी आदि के कामों में सम्भव होता है । ऐसी स्थिति में इसका ज्ञान पहले से ही रहता है । इसके तीन रूप हैं—भूत, भविष्य और वर्त्तमान होने की दृष्टि से ।

प्रवास पर जाने वाले का उदाहरण

प्रवास पर प्रिय जायेगा । उसकी पत्नी प्रियतम के विरह को सह लेने वाली स्त्रियों से विदा लेते समय प्राण धारण करने का रहस्य पूछती हुई घर-घर घूम रही है । प्रवास के लिए प्रस्थान करते हुए नायक का उदाहरण अमरुशतक में नायिका जाने वाले नायक से कहती है—एक पहर बीतने पर, मध्याह्न में या तीसरे पहर, या सूर्य के डूब जाने पर तुम आज मिलोगे । इस प्रकार कहती हुई सौ दिनों में पूरी होने वाली परदेश की यात्रा पर जाने की इच्छा रखने वाले प्रिय की यात्रा को अश्रुपूरित बालोचित बातों को कहकर नायिका टाल रही है ।

अमरुशतक में दूसरा उदाहरण

नायक और नायिका के वोच में सेंकड़ों देशों, नदियों, पर्वतों और वनों की दूरी थी। बहुत यत्न करने पर भी कान्ता उस परदेश में स्थित नायक के दृष्टिपथ में नहीं आ सकती—यह जानते हुए भी प्रोषित नायक गर्दन उचकाये हुए, आधे चरण से पृथ्वी पर खड़े होकर, आंखों मे आंसू भरकर उसी दिशा में कुछ ध्यान लगाये, देर तक खड़ा रहता है।

गतप्रवास का उदाहरण मेघदूत में

हे सुहृद्, मलिन वस्त्र वाली, गोद में वीणा रखकर मेरे नाम वाले बनाये हुए गेय पद को गाने की इच्छा करती हुई आँसू से भीगी वीणा को जैसे-तैसे पोंछ कर पुनः पुनः स्वयं ही अभ्यास की हुई मूर्च्छना को भूल जाती थी।

आ रहे और आ पहुँचे नायक में प्रवास का अभाव रहता है। जो प्रवास से आयेगा और जो प्रवास पर जा चुका है इन दोनों में अन्तर न होने से केवल ऊपर बताये तीन प्रकार के प्रवास ही समीचीन हैं।

६६. द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात्।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वा, अबुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एवं संभ्रमजः प्रवासः। यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्याम्। यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः।

६६. दूसरा सम्भ्रम (संवेग, साध्वस) से प्रवास सहसा उत्पन्न होता है। इसके कारण दिव्य या मानुष विप्लव होते हैं।

उत्पात, निर्घात (बिजली गिरना), वात (अन्धड़, तूफान) आदि से उत्पन्न विप्लव (उपद्रव, उथल-पुथल) से, अथवा शत्रु की सेना आदि से उत्पन्न विप्लव से पहले से अविचारित यह सम्भ्रमज प्रवास एक ही प्रकार का होता है। जैसे विक्रमोर्वशीय में उर्वशी और पुरूरवा का और मालतीमाधव में कपालकुण्डला के द्वारा मालती का अपहरण करने पर मालती और माधव का वियोग हुआ।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६

यथा कादम्बर्यां वैशंपायनस्येति।

शाप से उत्पन्न प्रवास-विप्रयोग में स्वरूप के परिवर्तन कर देने से निकट होने पर भी नायक-नायिका अलग हो जाते हैं।[1]

---

१. इन सभी प्रकार के प्रवासविप्रयोग की योजनाओं के अन्तर्गत दुष्यन्त और शकुन्तला का वियोग यद्यपि शापज है, किन्तु वह 'स्वरूपान्यत्वकरणात्' न होने से धनञ्जय के लिए अदृष्ट माना जा सकता है।

जैसे कादम्बरी में वैशम्पायन का स्वरूप-परिवर्तन होता है और वह महाश्वेता से विप्रयुक्त माना गया है।

६७. मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।
निराश्रयो न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ ६७

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे, कादम्बर्यां तु प्रथम करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति।

करुण रस का स्थायी भाव शोक तब होता है, जब नायक और नायिका में से किसी एक के मरने पर दूसरा रोता है। आश्रय के न रहने से वहाँ शृङ्गार नहीं हो सकता। यदि मरा हुआ पुनः जीवित हो जाय तो शोक नहीं होता। ६०

जैसे इन्दुमती के मरने पर रघुवंश में अज का करुण है। कादम्बरी में वैशम्पायन के मरने पर पहले करुण है किन्तु आकाश-सरस्वती की वाणी के पश्चात् प्रवास-शृङ्गार हो जाता है।

तत्र नायिकां प्रति नियमः—

६८. प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥ ६८

अथ संभोगः—

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥ ६६

यथोत्तररामचरिते—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥' १.२७

अथवा 'प्रिये किमेतत्—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' १.३५

यथा च ममैव—

'लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते।

नासावंशमनोज्ञकेतकतरुभ्रूपत्रगर्भोल्लसत्-
पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते ॥

६८ नायक और नायिका की प्रणय और अयोग की स्थिति में नायिका को उत्का कहते है ।[१] नायक के प्रवासी होने पर उसे प्रोषितप्रिया कहते हैं । ईर्ष्या मान करने पर उसे कलहान्तरिता कहते हैं । खण्डिता नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं । ६८

६९. विलासी नायक और नायिका अनुकूल होकर जहाँ परस्पर उपभोग करते हैं, दर्शन, स्पर्शन आदि करते हैं, वह प्रमोदपूर्ण सम्भोग है । ६९

जैसे उत्तररामचरित में—

राम सीता को स्मरण कराते हैं—प्रेमवश गालों को सटाये हुए विना किसी क्रम के ही बातें करते हुए एक-एक बाहों से रोमांचपूर्ण आश्लेप में विलीन हम लोगों को रात पहरों के बीतने का ज्ञान हुए विना ही बीत गई ।

दूसरा उदाहरण है—

समझ में नहीं आता कि यह सुख है कि दुःख है, मोह है या निद्रा है, विष चढ़ गया है या मद है । तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में मेरी इन्द्रियों को मोहित कर देने वाला कोई विकार है, जो मुझे जड़ बना दे रहा है और सन्ताप पैदाकर रहा है ।

हे सुन्दरि, जिस प्रकार वर्षा में अतिशय ऊँचे और कृष्ण अगुरु के समान काले श्रेष्ठ बादलों के चारों ओर अमृत रूप जल बरसाने पर रमणीय केतक वृक्ष के पत्तों के बीच में समुदित पुष्प को भौंरे क्रीडापूर्वक पीते हैं, उसी प्रकार अतिशय उत्तुङ्ग और कृष्णागुरु से चित्रित होने के कारण श्यामल तुम्हारे उरोजों के द्वारा लावण्यामृत को चारों ओर विच्छुरित कर देने पर नासावंश से सम्बद्ध भौंहों के बीच में शोभायमान तिलक को अलक चूम रहे हैं ।

७०. चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥७०

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः ।

७०. शृङ्गार में स्त्रियों की लीलादि दश चेष्टायें प्रिय के प्रति प्रवर्तित होती हैं । वे उनके दाक्षिण्य, मृदुता और प्रेम के अनुरूप होती हैं ।७०

लीलादि दश चेष्टाओं का वर्णन द्वितीय प्रकाश में उदाहरण के साथ लिखा जा चुका है ।

---

१. स्वाधीनपतिकोत्काल्ववाससज्जाभिसारणैः ।
रम्यं सानुभवेन् तत्र ह्यष्टावस्थाचतुष्टयम् ॥ ६८
यह कारिका अडयार-सस्करण में अड़सठवीं है । इस संस्करण की ६८ वीं कारिका उसमें ६९ वीं है ।

७१. रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत्किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥७१

ग्राम्यः सम्भोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते । यथा रत्नावल्याम्—

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥' इत्यादि । १.२१

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चानुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

७१. उस (नायिका) को रिझाने वाला कान्त (नायक) कला और क्रीडा आदि के द्वारा प्रसन्न करे । नायिका के सम्बन्ध में रमण का स्वरूप ग्राम्य स्तरीय नहीं होना चाहिए । कुछ भी ऐसा नहीं करना चाहिए जो नर्म (शिष्ट परिहास) की मर्यादा के विपरीत हो ।

ग्राम्य सम्भोग का अभिनय रंग में निषिद्ध है । काव्य में भी वह त्याज्य है—इसका पुनः निषेध किया गया है । जैसे रत्नावली में राजा वासवदत्ता से कहता है—हे प्रिये, तुम्हारे द्वारा काम की पूजा में नियुक्त हाथ से स्पर्श किया गया हुआ यह समीपवर्ती अशोक ऐसा लग रहा है, मानो इसमें मृदुतर नया पल्लव निकल आया हो ।

नायिका-नायक, कैशिकी वृत्ति, नाटक और नाटिकादि के लक्षण आदि से युक्त, कवि-परम्परा से विज्ञात, स्वयं औचित्य की दृष्टि से यथायोग्य सामञ्जस्य के द्वारा प्रतिभात शृंगार को लक्ष्य बनाकर सुकवि काव्य-रचना करे ।

वीरः

अथ वीरः—

७२. वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥७२

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते=भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाह-

नस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम्—'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति। वीरचरिते २.३६

गर्भग्रन्थिविमुक्तसन्धि-विगलद्वक्षःस्फुरत्कौस्तुभं
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद्वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः॥'

यथा च ममैव--

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः॥'

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम्। प्रतापगुणावर्जनादिनापि वीराणां भावात्त्रैधं प्रायोवादः। प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः।

७२. वीर रस के विभाव हैं प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्त्व, मोह, अविषाद, नय, विस्मय और विक्रम आदि। उत्साह इसका स्थायी भाव है। वीर रस तीन प्रकार का होता है दया, रण और दान की वृत्ति के योग से। इसमें मति, गर्व, धृति और हर्ष व्यभिचारी भाव हैं। ७२

इसमें उत्साह नामक स्थायी प्रताप, विनयादि से विभावित होता है। करुणा, युद्ध, दान आदि से अनुभावित होता है। गर्व, धृति, हर्षामर्ष, स्मृति, मति, वितर्क प्रभृति व्यभिचारियों से भावित होता है। फिर वह स्वाद का विषय बनता है और भावक (रसिक) के मनोविस्तार और आनन्द के लिए होता है यह वीर रस। दयावीर नागानन्द में जीमूतवाहन का है। युद्धवीर महावीरचरित में राम का है। दानवीर परशुराम और बलि आदि का है। परशुराम के दान के विषय में कहा गया है—सातों समुद्रों से सीमित पृथ्वी का दान निष्कपट दान की पराकाष्ठा है।

(बलि से दान प्राप्त कर लेने पर) शिशु रूप की गाँठ खुलने से सन्धियों के टूटने पर जिस मुरारि के शरीर से कौस्तुभ मणि झलकने लगा था, और जिसमें नाभि रूपी कमल के मुकुल चक्र से गम्भीर साम-ध्वनि निकलने लगी थी और योग्य दान पात्र को पाने के लिए उत्सुक बलि के द्वारा जो प्रफुल्लित होकर देखा गया, वह क्रमशः संवर्धनशील महिमा और आश्चर्य से युक्त शरीर आप लोगों की रक्षा करे। दूसरा उदाहरण धनिक का उक्ति है—

लक्ष्मी के पयोधर पर लगे कुङ्कुम से हरि का जो हाथ रंगा था, उसे ही इस बलि ने भिक्षा का पात्र बना दिया।

विनयादि-विषयक उदाहरण पहले ही आये हुए पद्यों में (द्वितीय प्रकाश में) नेता-का सामान्य लक्षण देख लें। प्रताप, गुण, आवर्जनादि की दृष्टि से वीर के अन्य भेद भी समीचीन हैं। ऐसी स्थिति में केवल तीन प्रकार के वीर होते हैं—यह कहना प्रायोवाद (कहावत) है।

युद्धवीर में प्रस्वेद, वदन, नयन का लाल होना आदि क्रोध के अनुभावों का अभाव रहता है। यदि ये अनुभाव हों तो वहाँ वीर रस न होकर रौद्र रस होगा।

बीभत्सः

७३. बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥७३

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरि-पोषणलक्षणउद्वेगी बीभत्सः। यथा मालतीमाधवे—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥' ५.१६

रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिविभावः क्षोभणो बीभत्सो यथा वीरचरिते—

'अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्वन्ध्योद्धतं धावति ॥' १.३५

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धो बीभत्सो यथाः—

'लालां वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः ॥'
न चायं शान्त एव विरक्तोक्तेः। अयं बीभत्समानो विरज्यते।

७३. बीभत्स (उद्वेगी) रस के विभाव कृमि, पूति, दुर्गन्ध, वमथु आदि हैं। इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है।

क्षोभण बीभत्स के विभाव रुधिर, आन्त्र, कीकस (अस्थि), वसा, मांसादि हैं।

वैराग्यपरक शुद्ध वीभत्स के विभाव जघन, स्तन आदि की परिभावना हैं। इसके अनुभाव नाक और मुख को बन्द करना या उनका संकोचन है।

वीभत्स के संचारी भाव आवेग, आर्ति और शङ्कादि हैं।७३

अत्यन्त घृणास्पद कृमि, पूति, दुर्गन्ध प्राय विभावों से विभावित जुगुप्सा स्थायी भाव से परिपोषित उद्वेगी वीभत्स होता है। जैसे मालतीमाधव में—

किसी शव के स्नायु, आँत, आँख को लेकर दाँत दिखाने वाले पिशाच मृत शरीर के चर्म को ऊपर-नीचे करके काट-काट कर दुर्गन्ध युक्त शरीर के विविध अंगों से मांस खाकर गोद में रखे शिर से चिपके मांस को शान्ति से खा रहा है। रुधिर, आँत, अस्थि मांस आदि विभाव वाला क्षोभण—वीभत्स होता है। जैसे महावीरचरित में—लक्ष्मण विश्वामित्र से पूछ रहे हैं—

आँत से ग्रन्थित वृहत् खोपड़ियों की माला, कड़कड़ाने वाले हड्डियों के कंकण आदि भयङ्कर आभूषणों के भैरव-नाद से आकाश में कोलाहल मचाती हुई, रक्तपान करके उसके वमन से अपने झूलते हुए स्तन को लथपथ बनाई हुई भयंकर शरीर वाली घमण्ड से चूर होकर यह कौन दौड़ती हुई आ रही है। शुद्ध बीभत्स का विभाव वैराग्य है। रम्य होने पर भी रमणी के जघनस्तन आदि के प्रति घृणा होती है। जैसे कामग्रह से विकृत बुद्धि वाला मनुष्य स्त्रियों की लार को मुखासव समझता है, मांस के पिण्डों को पयोधर नाम दिये हुए हैं और मांस के लोथड़े को जघन कहकर उस पर लट्टू है।

विरक्ति की चर्चा होने से इसे शान्त नहीं कह सकते। इसमें जो वैराग्यभाव दिखाई देता है, वह बीभत्स के पोषण के लिए है; न कि शान्त के लिए।

रौद्रः

७४. क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभृकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः।
शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवगादयः ॥७४

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

'त्वं ब्रह्मवर्चसधनो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति ॥'३ ४४

वीरवैकृतादिर्यथा वेणीसंहारे—

'लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥१.८

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः। परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः।

७४. क्रोध का अनुज रौद्र है। अर्थात् रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। इसके विभाव हैं मत्सर तथा वैरी के द्वारा किये हुए वैकृत (कापटिक दुर्व्यवहार)। इसके अनुभाव हैं क्षोभ, होंठ काटना, कंपकंपी, भौं चढ़ना, स्वेद, मुख का लाल होना आदि तथा शस्त्र उठाना, डींग मारना, कन्धे और धरती को पीटना, प्रतिज्ञा करना आदि। इसके संचारी भाव अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता और आवेग आदि हैं।७४

मात्सर्य-विभाव वाले रौद्र का उदाहरण महावीर-चरित में- परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं—

यदि आप वर्तमान रूप में ब्राह्मण हैं अथवा अपनी जाति की रीति से धनुर्धर (क्षत्रिय) हैं तो पहली स्थिति में (ब्राह्मण होने पर) अपने उग्र तप से तुम्हारे तप को जला दूँगा और दूसरी स्थिति में (क्षत्रिय होने पर) मेरा परशु यथायोग्य निपटेगा।

वैरी के द्वारा अन्याय-व्यवहार वाले विभाव का उदाहरण—

भीम कहता है—लाक्षागृह में आग लगाकर, विषान्न देकर, द्यूतसभा में प्रवेश कराकर, हमारे प्राण और धनराशि पर प्रहार करके द्रौपदी के वस्त्र और केश को विसंष्ठुल करने वाले कौरव मेरे जीवित रहते कैसे स्वस्थ हों? इस प्रकार के विभावों के द्वारा पसीना, लाल चेहरा और नेत्र आदि अनुभावों से अमर्ष आदि व्यभिचारियों से क्रोध नामक स्थायी भाव का जिसमें परिपोष रहता है, वह रौद्र है। इसको परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन आदि के व्यवहारों में महावीरचरित और वेणीसंहार आदि से जानें।

हास्यः

७५. विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ ७५

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो हासस्तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्व्यधिष्ठानो भवति। प्रतिस्वं चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात्षड्विधः। आत्मस्थो यथा उदात्तराघवे रावणः—

'जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः।
रुद्राक्षः स किलैष रत्नवलयच्चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः॥'

परस्थो यथ –

'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह।
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो ? भ्रष्टस्य काऽन्या गतिः ?॥'

७५. हास्य के विभाव विकृत आकृति, वाणी और वेष हैं, चाहे वे अपने हों या दूसरे के हों। इसका स्थायी भाव हास है, जिसका परिपोष होने पर हास्य रस बनता है। हास्य रस तीन प्रकार का होता है।७५

अपने ही विकृत वेष, भाषा आदि या दूसरे के विकृत वेष, भाषा आदि विभावों का आलम्बन लेकर हास उद्बुद्ध होता है। उससे परिपोष प्राप्त करने वाला हास्य रस दो आश्रय वाला हुआ। एक-एक को विशिष्ट मानकर छः प्रकार के हास्य उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति की अपेक्षा से होते हैं।

आत्मस्थ हास्य का उदाहरण उदात्तराघव में (कपटी संन्यासी) रावण की उक्ति है—

मैंने रूखी राख को चन्दन-चूर्ण में परिणत कर लिया है। मेरी छाती पर यज्ञोपवीत के स्थान पर हार शोभित है। लिपटी हुई जटा के स्थान पर मैंने कुन्तल बना लिया है। रुद्राक्ष के कंकण को रत्न-वलय में परिणत कर लिया है। वल्कल अब चित्रांशुक बना है। सीता के नेत्रों को आकृष्ट करने वाला कामिजनोचित रम्य शरीर मैंने बना लिया है, (यद्यपि मैं यहाँ पहले संन्यासी का रूप धारण करके आया था।)

परस्थ हास्य का उदाहरण—कोई उपासक मांसभक्षी भिक्षु के विकार के विषय में पूछता है—हे भिक्षो, अरे क्या तुम मांस खाते हो ? भिक्षु ने उत्तर दिया—मद्य के विना मांस क्या ? प्रश्न—क्या तुम मद्य भी पीते हो ? उत्तर—वेश्याओं के संग में पी लेता हूँ। प्रश्न—वेश्या तो अर्थ परायण होती हैं। तुम्हारे पास धन कहाँ से ? उत्तर—जुए या चोरी से। प्रश्न—क्या तुम जुआ और चोरी भी करते हो ? उत्तर—भ्रष्ट मनुष्य और क्या करेगा ?

७६. स्मितमिह विकासिनयनं, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।
मधुरस्वरं विहसितं, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ।।७६
७७. अपहसितं सास्राक्षं, विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषा ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ।।७७

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य विहसितोपहसिते, अधमस्यापहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।

७६. छः प्रकार का हास्य—स्मित में नेत्रों की प्रफुल्लता होती है । हसित में दाँत थोड़ा दिखाई देता है । विहसित में मधुर स्वर मुख से निकलता है । उपहसित में सिर भी कम्पायमान होता है ।७६

७७. अपहसित में आँख से आँसू निकलते हैं । अतिहसित में अङ्ग विक्षेप (हाथ-पैर फटकारना) होता है । उतम पात्र में प्रथम दो, मध्यम में बीच के दो और अधम में अन्त के दो हास्य होते हैं ।७७

उत्तम पुरुष अपने में और दूसरे के विकार का दर्शन करने से स्मित और हसित होते हैं । मध्यम पुरुष में विहसित और उपहसित होते हैं । अधम पुरुष में अपहसित और अतिहसित होते हैं ।

व्यभिचारिणश्चास्य—

७८. निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिणः (व्यभिचारिणः) ।

७८. इसके व्यभिचारी निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि और मूर्च्छा होते हैं ।

अद्भुत

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ।।७८
७९. कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः ।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ।।७९

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुतः । यथा महावीरचरिते

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्धत--
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर--
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विश्राम्यति ।।'१·५४

इत्यादि

अद्भुद रस का स्थायी भाव विस्मय है। इसका विभाव अलौकिक पदार्थ होता है। साधु-साधु कहना, आँसू, कम्प, स्वेद और गद्गद वाणी इसके अनुभाव हैं। इसके व्यभिचारी भाव हर्ष, आवेग, धृति आदि होते हैं।७८

अद्भुत रस अलौकिक पदार्थ, वर्णन आदि विभावों से विभावित, साधुवाद आदि अनुभावों से पोषित विस्मय नामक स्थायी भाव तथा हर्ष, आवेग आदि संचारी भावों से भावित होता है। जैसे महावीरचरित में

राम का धनुष तोड़ना देखकर लक्ष्मण की उक्ति है—

बाहुदण्ड के द्वारा शिव के शरासन को दो भागों में तोड़ देने से उत्पन्न आर्य रामचन्द्र के बालचरित की प्रस्तावना का मङ्गलवाद्य रूपी टंकार ध्वनि उत्पन्न हुई। उस टंकार ध्वनि की चण्डिमा (प्रखरता) ब्रह्माण्ड के दो खण्ड आकाश और पृथ्वी के गर्भ में चक्कर करती हुई पिण्डित हो गई। आश्चर्य है कि वह अब भी शान्त नहीं हो रही है।

भयानकः

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्यलक्षणः॥
दैन्यसम्भ्रमसम्मोहत्रासादिस्तत्सहोदरः॥८०

रौद्रशब्दश्रवणाद्रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रसः। तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः।

भयानको यथा—

'शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः।
यथातथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम्॥'

यथा च रत्नावल्यां प्रागुदाहृतम्—'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि।

यथा—

'स्वगेहात्पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम्।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यरातिः क्वालीये इव विजययात्राचकितधीः॥'

८०. भयानक रस का स्थायी भाव भय है। इसके विभाव विकृत स्वर और भयङ्कर जीव-जन्तु हैं और अनुभाव सभी अङ्गों में कम्पन, स्वेद, शोष, पीला पड़ना आदि हैं। इसके संचारी भाव दैन्य, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रास आदि हैं।८०

रौद्र शब्द सुनने से और रौद्र सत्त्व (प्राणी) देखने से भय स्थायी भाव वाला

भयानक रस होता है। उसमें सभी अङ्गों में कम्पन आदि अनुभाव और दैन्य आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

भयानक का उदाहरण है—

इस शस्त्र को छोडकर झुककर धीरे-धीरे जैसे-तैसे खिसकते हुए यदि जा सकते हो तो चले जाओ।

रत्नावली में उदाहरण है—'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि। २·५६ कारिका के प्रसङ्ग में उद्धृत।

अन्य उदाहरण है

दिग्विजयी राजा से भीत शत्रु का वर्णन है—आपकी विजय-यात्रा से विस्मित बुद्धि वाला वह (शत्रु) अपना घर छोड़कर सड़क पर जा पहुँचा। वहाँ से घने वन में चला गया। फिर वृक्षों के कारण घोर घने पर्वत पर, वहाँ से भी गुहा में जा छिपा। वहाँ वह अपने अङ्गों को अपने ही अङ्गों में छिपाते हुए यह नहीं विचार कर पाता है कि अब कहाँ जा छिपूँ?

करुणः

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनु तम्।
निश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥८१
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः॥ ८२

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षजः करुणः। तमन्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम्। व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादयः।

इष्टनाशात्करुणो यथा कुमारसंभवे—

'अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम्॥'४.३

इत्यादि रतिप्रलापः। अनिष्टावाप्ते सागरिकाया बन्धनाद्यथा रत्नावल्याम्।

८१. करुण रस का आत्मा (स्थायी भाव) शोक है। इसका विभाव इष्ट का नाश या अनिष्ट की प्राप्ति है। इसके अनुभाव हैं निश्वास, उच्छ्वास, रुदित, स्तब्ध होना, प्रलाप करना आदि। इसके संचारी भाव हैं स्वप्न, अपस्मार, दैन्य, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि।८१

इष्ट=बन्धु प्रभृति के विनाश से, अनिष्ट=बन्धन आदि की प्राप्ति से शोक

की अधिकता से उत्पन्न करुण होता है। तमनु अर्थात् उसके अनुभाव निःश्वास आदि का वर्णन होता है। उसके व्यभिचारी स्वप्न, अपस्मार आदि हैं।

इष्टनाश से करुण का उदाहरण कुमारसम्भव में है—

काम के शिव के द्वारा भस्मीभूत किये जाने पर उसकी पत्नी रति रोती है—

हे प्राणनाथ, आप जीवित हैं, यह कहकर खड़ी हुई उसके द्वारा भूतल पर शिव की कोपाग्नि से भस्म बनी हुई पुरुष की आकृति मात्र देखी गई।

इत्यादि रति का विलाप है। अनिष्ट की प्राप्ति से करुण का उदाहरण रत्नावली में सागरिका का बन्धन होने से निष्पन्न है।

८३· प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ।। ८३

स्पष्टम् ।

८३. प्रीति, भक्ति आदि भाव और मृगया, अक्ष आदि रस हर्ष और उत्साह आदि में प्रत्यक्ष ही समाविष्ट हो जाते हैं। अतएव उनकी चर्चा नहीं की गई है। ८३

८४. षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ।। ८४

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च' इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् काव्यलक्षणानि। 'साम भेदः प्रदानं च' इत्येवमादीनि संध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि ।

८४. भूषण आदि छत्तीस काव्यलक्षण और साम आदि २१ सन्ध्यन्तर का अन्तर्भाव उपमा आदि अलंकारों में और हर्षोत्साह आदि भावों में हो जाता है। अतएव उनका विवरण अलग से नहीं दिया गया है। ८४

विभूषण, अक्षर-संहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन आदि ३६ काव्यलक्षण हैं। साम, भेद, प्रदान आदि २१ सन्ध्यन्तर हैं। काव्यलक्षणों और सन्ध्यन्तरों का उपमादि अलंकारों में तथा हर्षोत्साहादि भावों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव इनका विवेचन अलग से नहीं किया गया है।

८५. रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ।। ८५

८५. वस्तु चाहे जैसी भी हो—रम्य, घृणास्पद, उदार, नीच, उग्र, प्रसादपूर्ण, गहन (उच्चाशय) या विकारपूर्ण अथवा अवस्तु ही क्यों न हो, कवि और रसिक के द्वारा लोक में आस्वादित होने पर वह रसभाव को प्राप्त कराती ही है। ८५

८६. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥ ८६

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

विष्णु के पुत्र धनञ्जय राजा मुञ्ज की गोष्ठी में अपनी विद्वत्ता से सुशोभित थे। उन्होंने दशरूपक को स्पष्टतः सबके समक्ष रखा। यह दशरूपक विद्वानों की मानसिक प्रीति के प्रस्तुतीकरण का हेतु है।

———